

GOVERNMENT OF INDIA  
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA  
ARCHÆOLOGICAL  
LIBRARY

ACCESSION NO. 48834

CALL No. 784.4954 / Sam.

D.G.A. 79



Bhantri Jankeshwar Mandal, Udaypur.

Lokadharmi pradarshnakari kala  
लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ

48834

Samar, Devilal

लेखक

देवीलाल सामर

784.4954

Sam

प्रकाशक

भारतीय लोककला मण्डल, उदयपुर

- भारतीय सोकला ग्रन्थालयी : संख्या १६
- प्रथम संस्करण ; अक्टूबर १९५८
- मूल्य : रु १५.००
- प्रकाशक : भारतीय सोकला मण्डल, उदयपुर (राजस्थान)
- मुद्रक : उदयपुर प्रिण्टर्स, उदयपुर

**CENTRAL ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY, NEW DELHI.**

No. .... 48834  
 Date ..... 24-10-1972  
 Vol. No. .... 784.4954/ Sam

# लोकधर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ

प्राची विजयना द्वारा

## लोकसंगीत

१-१०३

### विषय-सूची

**भूमिका**

**प - व**

पृ.सं.	पृ.सं.	
लोकसंगीत	१ लोककीर्तन	४४
लोकसंगीतों का विकास	२ पारिवारिक एवं अंगारिक संगीत	४५
लोकसंगीतों की स्वर प्रधानता	५ पारिवारिक संगीत	४६
लोकसंगीत का रामायण	६ नृत्यसंगीत	४८
सालर संगीत	१० इतिहासात्मक संगीत	५१
बधाया संगीत	११ व्यवसायिक लोकसंगीत	५१
सियाला संगीत	१३ माड़	५२
बना संगीत	१७ नाट्यसंगीत	५४
लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध	१८ बालसंगीत	५६
लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत की सञ्जिकता	१९ लोकसंगीत का तालपद्धति	५७
क्या लोकसंगीत का कोई प्रतिसिद्ध शास्त्र है?	२२ शादिमंसंगीत और लोकसंगीत में अन्तर	६०
लोकसंगीतों का ध्वनि-एका	२३ लोकवाच्य और वाच्यसंगीत	६१
लोकसंगीत एवं मुगम-संगीत	२६ लोकसंगीत - शास्त्रीय संगीत :	६२
लोकसंगीत की विशिष्ट गैलियाँ	३२ दिशाप्राम	६५
लोकमञ्जन और उनकी पृष्ठभूमि निरुद्ध सी मञ्जन	३३ लोकसंगीत और उसका निवेश	६७
सपुर्णी मञ्जन	३४ लोकसंगीतों की द्रोजनता	७०
	४० लोकसंगीत का लोकपद्धति	७०
	४२ लोकधुनों में कहनुमान्य	७२



	पृ.सं.		पृ.सं.
विरहगीत	३४	लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति	८६
लोकगीतों में शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता	३५	लोकसंगीत और सामाजिक परिष्कार	८७
लोरीगीत	३६	लोकसंगीत के पोषक तत्व सबसापेश और स्वरसापेश	८८
लोकगीतों की अवाध कायं- संबंधक शक्ति	३७	लोकगीत	८९
लोकसंगीत की प्रेरकशक्ति : प्राकृतिक छवियाँ	४०	टिही गीत	९३
बास्त्रीय संगीत की प्रेरकशक्ति : लोकसंगीत	४३	लोकगीतों का रचनाकाल तथा स्थायित्व	९५

## लोकनृत्य

१०३-१५८

पु.सं.		पु.सं.	
लोकनृत्य	१०३	सामाजिक लोकनृत्य	१३०
नृत्यों के साथ गीतों का समन्वय	१०६	भनोरजनात्मक लोकनृत्य	१३०
नृत्यनाट्य की पृष्ठभूमि	१११	लोकनृत्य और परिधान	१३१
जास्तीय नृत्य का प्रादुर्भाव	११३	लोकनृत्य और गीत	१३४
जास्तीय नृत्य की मुद्रायों का प्रेरक ; लोकनृत्य	११४	लोकनृत्य और भगिमाएँ	१३७
गीतों की अपेक्षा लोकनृत्यों की न्यूनतम रचना	११६	आदिवासियों के लोकनृत्य	१३८
लोकनृत्य की प्रकृति तथा स्वभाव	११८	नृत्यों एवं नृत्यनाट्यों की लोकगैली का अवसायीकरण	१४०
लोकनृत्यों की विशेषताएँ	१२०	लोकगैली के अवसायीकरण की पृष्ठभूमि	१४१
लोकनृत्यों पर प्राकृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक वातावरण का प्रभाव	१२३	लोकनृत्यों का अवसायोकरण	१४५
भारतीय लोकनृत्यों के प्रकार— स्वान्तःसुखाय लोकनृत्य	१२८	लोकगैली के अवसायीकरण में दिशानिर्देश	१४७
अनूठानिक लोकनृत्य	१२८	लोकपद्धतियों को अपनाने की वैज्ञानिक विधि	१५४
अमराघड लोकनृत्य	१२८	नवीन रचनाकारों के कलंभग	१५७

## लोकनाट्य

१६३-२८४

पृ.सं.		पृ.सं.
लोकनाट्य		१६३
नाट्य के प्रारम्भिक रूप	१६३	लोकनाट्यों का प्रस्तुतीकरण
नाट्य की विवरण प्रणाली	१६४	तथा हस्तविधान
चमड़े की आहुतियों द्वारा		२०६
नाट्यप्रदर्शन	१६५	लोकनाट्यों में मारी
आवापुतलीनाट्य का प्रादुर्भाव	१६७	२१२
आमपुतलियों की		लोकनाट्यों के दर्शक
धर्मिरंजनात्मक शंखी	१६८	२१८
कामपुतलियों का प्रादुर्भाव	१६९	लोकनाट्यों को विशिष्ट संबोध
मानवीय नाट्य की मुख्यादा-		उपा सूत्यपद्धति
प्रणाली	१७१	२२३
मानवीय नाट्य का सम्पूर्ण रूप	१७२	लोकनाट्यों में प्रचलित जीवन-
पुतलीनाट्य के विशिष्ट		व्यवहार तथा जीवनादर्जों का
नाट्य-तत्व	१७४	प्रतीकीकरण
चित्रपटों के विशिष्ट नाट्य-तत्व	१७५	२३०
चम्पुतलियों का नाट्य एवं		लोकनाट्यों के नाट्यतत्व
हस्तना-विधान	१७६	२३३
पुतलीनाट्यों में मारी का अभाव	१७८	लोकनाट्यों की कथावस्तु
पुतलियों के भावग्रन्थ चेहरे	१७८	२३८
पुतलीनाट्य-रचना	१८०	लोकनाट्यों का कथोपकथन
कठपुतलियों और चम्पुतलियों	१८२	२४०
पुतलियों का रंगभंडीय विधान	१८८	लोकनाट्यों के पात्र
लोकनाट्यों को विसेपतारी	१९४	२४६
लोकनाट्य का समाजीकरण		लोकनाट्य
एवं अवसाधीकरण	२०१	२४८
		लोकनाट्य तथा मानवीय नाट्य
		का पारस्परिक सम्बन्ध
		२५१
		लोकनाट्यों का नाट्यजिल्य
		२५१
		लोकनाट्यों का आधुनिक नाट्यों
		पर प्रभाव
		२६३
		लोकनाट्य-संशोधन
		२७०

## भूमिका

भारतीय लोकपर्मों कलाएँ पिछले कुछ वर्षों से हमारे विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते रही हैं। उससे पहले वे उच्चवर्गीय कलाओं के निम्नस्तरीय स्वरूप ही समझी जाती थीं और विडल्जन उस और तनिक भी आकर्षित नहीं होते थे। जिन विद्वानों ने इस दिशा में ग्रोथ आदि का कुछ भी कार्य किया, उन्होंने भी इनके साहित्य-पक्ष को ही देखा और कला-पक्ष को धूपूता ही लोड दिया। लोकगीत संबंधी कई विद्वानों के गीतकार्य हमारे समधृ हैं। भारत की बहुआ मनो शैलीय सामाजिकों के लोकगीत-संकलन तथा लत्संबंधी विवेचन भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें कोई संदेह नहीं कि इन विद्वानों ने ऐसी मूल्यवान् संगीत की ओर हमारा ध्यान धोखा है, जिसने लोकगीत को संबंध ही रसाप्लावित किया है तथा उसे यांत्रिक और नीरस होने से बचाया है। लोकगीतों की शान्तिक एवं साहित्यिक महत्ता दर्शने तथा लोकसाहित्य के इस विपुल भव्यार में से रठन चुन-चुन कर भारतीय साहित्य की अभिवृद्धि करने में इन विद्वानों ने काफ़ी कमी नहीं रखी है, अतः वहाँ तक हमारे साहित्यकारों एवं चित्रकारों का प्रश्न है, उन्होंने पूरी तरह अपना लक्ष्य निभाया है और उन परम्परावादी विद्वानों को करारा जावाब दिया है, जिन्होंने लोकसाहित्य को साहित्यिक दर्जा देने से सदा ही इनकार किया है।

हमें गिरायत उन कलाविदों से है, जिन्होंने संबंध ही लोकसंगीत, नाट्य एवं नृत्य को उपेक्षा की हाइट से देखा है एवं लोकपक्षी कलाओं को अविक्षित एवं असंस्कृत लोगों को कला मानकर उनकी छिल्की उड़ाई है। शास्त्रीय नृत्यकारों में लोकमूर्ति को नृत्य का अत्यस्त प्राचमिक स्वरूप मानकर उसको अत्यंत ही नृत्य बतलाया है। परन्तु सौमान्य से इस समुदाय की संक्षय हमारे देश में लोकपर्मों कलाओं के उत्तर प्रसंगत प्रयोगियों की तुलना में इतनी कम है कि उनकी आवाज का प्राज्ञ कोई मूल्य नहीं रखा है। आज तो वह समय आया है जब हमारे देश में ऊन-नीच वा विचार, न केवल मानवीय स्तर से विशिक साहित्य और कला के स्तर से भी प्रायः समाप्त सा हो गया है। लोककलाएँ पुनः प्रतिष्ठापित हुई हैं और भारतीय योग्यता को पुनः रसाप्लावित

करने लगी है। शास्त्रीय कलाओं का एकाधिष्ठय प्रायः समाप्त या होने लगा है और दोनों को अपना-अपना उचित दर्जा प्राप्त हुआ है। जहाँ शास्त्रीय कलाओं के प्रतिष्ठान हमारे देश में कदम नहीं हैं, वहाँ लोककलाओं के प्रतिष्ठानों को भी आदर मिला है।

भारतीय लोककलाओं के पुनर्जीवितण में पश्चिमी विद्वानों का पूरा हाथ है। बिटिश शासनकाल में सियसेन, कनैन टाड, टेसीटोरी, विलियम झूक जैसे प्रकाशित विद्वानों ने भारतीय लोकजीवन का मध्यन करके लोकसाहित्य एवं कला के अनेक लोकपक्षीय रस्तों को खोज निकाला है तथा भारतीय विद्वानों द्वारा लोकवाङ्मय के अध्ययन की एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पढ़ति प्रदान की है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी कई भारतीय विद्वानों को अध्ययनार्थ विदेशों में जाने तथा वहाँ के लोकवाङ्मय-संस्थानों (Folk lore institutes) से प्रेरणा प्राप्त करने का सुधारवार मिला है। इन संस्थानों में लोकगीतों के केवल गद्द-गद्द पर ही शोध निर्धारित नहीं किया जाता, बल्कि स्वर को गद्द से अधिक महसूसपूर्ण मानकर उसके वैविध्य, संचरण, मिथ्या, मिलन, विघटन, उठाव, लडाव, गद्द-स्वर-संगति, स्वर-निपत्ति, गायकी के प्रकार, लघ-गुणक आदि के वैज्ञानिक विचार को आधार माना जाता है। इन विविध लोकवाङ्मय शोध-संस्थानों में अनेक संगीत-विशेषज्ञ, ताल-विशेषज्ञ, रचना-विशेषज्ञ, साहित्यवेत्ता, नृत्यवास्त्री, नृत्य-नाट्यवास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक काम करते हैं। सहजों गीतों का वहाँ संकलन, रेकार्डिंग, वर्गीकरण, विश्लेषण, विवेचन एवं उनके कला-पश्च का विविध अध्ययन होता है। लोकगृहियों की धूगभूगिमाओं का विवेचन, रेकार्डण (Notation) एवं उनकी गीत-नृत्य-नाट्य-साहित्य-संगति एवं उनके समाजीकरण पर वहाँ अत्यंत वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य होता है। नाटक के कला-पश्च पर वहाँ जो भी गोष्ठ हुई है वह अभूतपूर्व है। लोकनाट्य की रचना-विधि से लेकर उसके अभिनय, चित्रण, प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय विवेचन, पात्र-चरित्र-विवरण, चरित्र-चित्रण, कथा एवं संवादों का अध्यारोपण एवं उनकी अनेक मनोवैज्ञानिक लोकविद्याओं पर जो भी गोष्ठकार्य हुआ है वह प्राचरण में डासने जाता है।

प्रसंभता की बात यह है कि अब इस दिशा में भारतीय विद्वानों का भी अपान नया है तथा केन्द्रीय एवं राजकीय संगीत नाटक अकादमियों ने भी लोकगीत कलाओं को महसूस प्रदान किया है। भाकाशवासी के लगभग सभी केन्द्रों ने लोकसंगीत एवं लोकगीत कलाओं के प्रायः सभी कलाकारों एवं

विद्वानों को अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया है। लोकगीतों के प्रमारणों के लिये तो सभी केन्द्रों पर अलग से समय निर्धारित है। आकांवासी के केन्द्रीय कार्यालय में लोकसंगीत निवेशालय की अवस्थिति तथा उसके लिये प्रधिकारी विद्वानों की नियुक्तियाँ हमारे लिये बड़े महत्व की बात हैं। इस विभाग के मन्त्रमंत्र लोकगीतों के संकलन, अध्ययन आदि का समृच्छित प्रबन्ध है। पञ्च-तत्र हमारे देश में लोकधर्मी कलाओं सबंधी गोष्ठियाँ, सम्मेलन, समारोह आदि भी लोककलाओं के पुनर्जीवन की दिशा में बहुत ही आवाजनक एवं उप्रति क्रम हैं।

सन् १९५२ में जब भारतीय लोककला मण्डल की स्थापना के साथ उसके उद्देश्य और कार्य-विधि की घोषणा हुई तो विद्वजनगढ़ में काको हस्तकल मची थी। तब यही प्रतिक्रिया सामने आई कि लोकसंगीत, लोकनृत्य, प्रौर्हाटप्र विषयक एक अलिङ्ग भारतीय स्तर की संस्का की वजा आवश्यकता है? संस्का की उस प्रारम्भिक अवस्था में उस चर्चा की पता लेने के अलावा हमारे लिये कोई चारा नहीं था। हमारी सभी चोषित योजनाएँ उस समय केवल कागज पर थीं और उनको पूरा प्रकाशन भी नहीं मिला था। शोध, संज्ञान, संकलन, अध्ययन, विवेचन एवं वर्गीकरण की बात तो दूर रही, कायेकठोड़ों के बैठने के लिए संस्का के पास कोई स्थान तक नहीं था। जब पहली बार संस्का की ओर से एक उच्चस्तरीय लोक-कलाकारों की मंडली ने समस्त देश में प्रदर्शन दिये, तो वहाँ हमें घन भरे ही न मिला हो, परन्तु यह उपलब्ध अवश्य हुई कि विद्वानों ने रंगमंच पर प्रदर्शित इन विशुद्ध लोकनृत्यों एवं गीतों को अत्यन्त रुचिपूर्वक देखा और उनमें कहीं भास्या प्रकट की। उसके बाद तो गणतंत्र समारोह के उपलक्ष्य में अलिङ्ग भारतीय स्तर पर दिल्ली में लोकनृत्य समारोह भी होने लगे और विभिन्न राज्यों के अत्यन्त मौलिक एवं रंगीन लोकनृत्य प्रबल बार जनता के समझ आये। राष्ट्र की इस अत्यन्त महिमामयी धाती पर सबको गवे का अनुभव हुआ। वह कहना नहीं होगा कि इन सब विशिष्ट घटनाओं के फलस्वरूप भारतीय लोककला मण्डल की गपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही जनता का ग्रेम और सहयोग प्राप्त हो गया और हम केवल नृत्य-प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं रहकर प्रदर्शनकारी-लोककलाओं के अध्ययन, संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, संशोधन, परीक्षण, प्रयोग एवं प्रकाशन के कार्य में संलग्न होगये।

इसी कार्य के दोस्रान जब हमें अपनी संस्का में एक उच्चकोटि के पुस्तकालय की आवश्यकता हुई तो हमें भारतीय भाषाओं में तत्संबंधी साहित्य

मितना अत्यंत कठिन हो गया; जो भी लोकगीतों की पुस्तके हमें उपलब्ध नहै, उनमें गीतों के साहित्यिक कलेक्टर (Literary content) तथा उनके सामाजिक अध्ययन के द्वारा कुछ भी नहीं मिला। अतु, जन्म, मरण, विवाह, उत्सव,<sup>५</sup> लोहार, विरह, मिलन, शृंगार, पारिवारिक संबंध आदि विषयों पर गीतों का वर्गीकरण एवं विवेचन करके ही हमारे विद्वान् लेखक संतुष्ट हो संगे, परन्तु उनकी आत्मा का निकार इसने तथा उनकी जन्म देने वाले स्वर-संयोजन का किसी ने दर्शन नहीं कराया। इन पुस्तकों में लोकगीतों का पाठ्य-स्वरूप हमें अवश्य हासिंगत हुआ, परन्तु उनका अध्य-स्वरूप विन छुआ ही रह गया। लोकनाट्य संबंधी पुस्तकों में भी शास्त्रीयनाट्य-नृत्यों के आधार पर नाट्य-विवेचन करने की भूलें हममें से कइयों ने की है। यदि इस ओर कोई महत्वपूर्ण कायं हमारे देश में हुआ है तो वह यह कि आज प्रचलित और अप्रचलित घनेक लोकनाट्यों के अधिकांश कलेक्टर (text) पुस्तकाकार उपलब्ध हो रहे हैं। उनके प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय विधान, अभिनव-जैली एवं उनकी धुनों के संबंध में इसकों एवं प्रदर्शनों को पूर्व जानकारी होने से इन सबका अभाव उनके प्रयोक्ताओं को तो नहीं बाटकता, परन्तु उन सब अध्येताओं के लिये मेरे पुस्तके धर्मिक उपयोगी मिळ नहीं हो सकते हैं। किर भी हमें इस किस्म की जितनी भी पुस्तके मिली, उनका संकलन हम सरावर करते रहे। सर्वप्रथम राजस्थान से ही यह कायं शुरू हुआ। हमारे शोध-कार्यकर्त्ता समस्त राजस्थान में चिन्हर गये और इन लोक-रत्नों को खोज करते रहे। उनके विविध कला-पद्धों का मर्दानग किया गया, स्थिर एवं चलचित्र बनाये गये, लोकगीत-गायकों की सूचियाँ तैयार की गई, उनके गीतों का अवनि-संकलन किया गया, उनकी धुनों एवं लय के आधार पर वर्गीकरण हुआ, उनमें निहित धुनों में शास्त्रीय रागों के मूल आधार खोजे गये, उनकी स्वरचिपियाँ बनाई गईं और सबसे महत्वपूर्ण कायं यह हुआ कि उनमें से कुछ खुने हुए लोकनाट्य-कारों, गायकों तथा वाद्यकारों को हमारी संस्था में स्थायी नियुक्तियाँ दी गईं।

इस सब कायं के दोस्रान पिछले सोलह वर्षों में जो भी अनुमत हुआ उसकी हमने आत्मसात् किया। इस बीच भूमे दो बार विदेश जाने का अवसर मिला और वहीं के कई लोकनाट्य-संस्थान (Folklore institutes) देखने, विद्वानों से ज्ञेन करने तथा उन्हे भारतीय लोककलाओं से अवगत करने का शीघ्रान्त प्राप्त हुआ। मन् १९६० से ही मैंने भाषने से सब अनुमत लेखदात करने शुरू कर दिये तथा नवीन हास्ट मिलमें पर उनका पुनर्लेखन भी

किया। इस तरह नये-नये विचार मिलते रहे, नये अनुभव होते रहे और मेरी लिखित सामग्री में कई बार संशोधन की आवश्यकता भी हुई। इस तरह मेरी पुस्तक १९६५ में ही तैयार हो गई। उसी बार मुझे पुनः विदेश जाने का अवसर मिला और मग्ने नवीन अनुभव के आधार पर मेरी पुस्तक में अनेक परिवर्तन आवश्यक हो गये। इसी दौरान कई भारतीय पत्रों के लिये भी मैं अपने विचारों की लेखबद्ध करता रहा। उनमें से कुछ लेख मेरी इस परिवर्तित पुस्तक के अंत भी बन गये। पहले यह विचार था कि इस पुस्तक के गीत, नृत्य एवं नाट्यपत्र पर अलग-अलग पुस्तक लिखी जाय। यह मनोःकामना पूरी भी हो जाती, परन्तु बाद में ऐसा लगा कि इन तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व कई जगह विचारों की पुनरावृत्ति के कारण दुखल पड़ जायेगा। अतः इन तीनों का एक समन्वित रूप ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना ठीक समझा। ऐसा करने से दो कठिनाइयाँ अवश्य सामने आई हैं, एक है कई परिच्छेदों में विचारों को पुनरावृत्ति। मैंने जानबूझ कर इस पुनरावृत्ति को यथावत् रखने दिया है। यदि उसे दूर करने का प्रयास करता तो विचार असंबद्ध ही जाते और उनकी कठिनाई टूट जाती। उदार पाठकों से जामा-याचना करते हुए मैं उन्हें यथावत् रखने की उनसे अनुमति चाहता हूँ। इसरी कठिनाई जो सामने पाई, वह पुस्तक के नाम की थी। सार्थकता की हाइ से इस पुस्तक का नाम होना चाहिये था "भारतीय सोकसंगीत, लोकनृत्य, लोकनाट्य-एक अध्ययन"। इतना सबा नाम जापद पाठकों को रुचता नहीं इसलिये इसका नाम मैंने "लोक-धर्मी प्रदर्शनकारी कलाएँ" ही रखना उचित समझा। प्रदर्शनकारी शब्द से भी याथव कुछ महानुभावों को आपत्ति हो परन्तु यह शब्द आवश्यक इसलिये ही गया कि लोककला के अन्य अप्रदर्शनकारी रूपहों से उसे बचाना चाहे। बहुधा नृत्य, गीत, नाट्य ही प्रदर्शन योग्य होते हैं, चाहे उनका उपयोग स्वान्तः-सुखाय हो या जनता के मनोरंजन के निमित्त।

इस पुस्तक में मैंने इन कलाओं के तात्त्विक पक्ष को ही प्रधानता दी है क्योंकि इस समय हमारे देश में लोकनृत्य, लोकनाट्य एवं सोकसंगीत के संबंध में अनेक मत एवं झालियाँ प्रचलित हैं। इस शब्दी भी किसी एक निराम पर नहीं पहुँचे हैं। इस पुस्तक में विवेचित अपना मत ही सर्वसम्मत मत मान लूँ, ऐसी घटता भी मैं नहीं करूँगा। इसलिये मैं ईमानदारी के साथ साकृ रहूँ देना उचित समझता हूँ कि ये सब मत येरे अपने हैं, जिनके पोछे भले ही अत्यन्त बोकित और महत्वप्राप्त पुस्तकों के संदर्भ ही कोष्ठक में न दिये गये हों, परन्तु मेरे पिछ्ले ३५ वर्षों का अनुभव इनमें विवरण निहित है। मैं अपनी

बाल्यावस्था से ही रंगमंच का व्यक्ति रहा हूँ और उसी से मैंने जीवन का समस्त रस प्रहण किया है। माज़ भी रंगमंच ही मेरा प्रयोग एवं अध्ययन-सत्र बना हुआ है।

मेरा यह विनम्र व्रयाम यदि मेरे विद्वान् पाठकों के लिये चौड़ा भी उपयोगी सिद्ध हुआ तो मैं अपने को खन्न मानूँगा। मैं अपने दिव साथी श्रीयुत रघुलाल शाह को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके आश्रह से यह प्रकाशन संभव हुआ है। यदि उनका दबाव नहीं होता तो मैं अपने स्वर्गीय पुष्प मोरिन्द के निधन से उत्पन्न अपनी उत्तीर्णितावस्था में इस पुस्तक को पुनः एक बार देखकर प्रेस में लाने योग्य नहीं बना सकता था। संस्था के सोषभारी हो० महेन्द्र भानाकृत का भी मैं बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को अतिशीघ्र प्रकट होने में मेरी सहायता की। इस पुस्तक में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत होने वाले सभी सोकमीठों की स्वरतिषिद्धि हमारे संगीताविकारी श्रीयुत सम्पत्कुमार शर्मा ने बनाई है। अतः मैं उसके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

दीपभालिका २०२५ वि०

देवीलाल सामर

१

लोकसंगीत



## लोकसंगीत

**साधारणतः** सबको यह मान्यता है कि वह गीत लोकगीत है, जो जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होता है और जन-साधारण की भावनाओं को व्यक्त करता है। पिछले कुछ वर्षों में लोक ग्रन्थ याम के अध्यं में भी ऐसा हो गया है, अतः लोकगीत गीवों में गायेजानेवाले गीतों की ओर ही संकेत करता है। वे दोनों ही तात्पर्य अपूर्ण होते हुए आमक भी हैं। लोकगीत जन-साधारण द्वारा भी प्रयुक्त होते हैं और जन-साधारण अधिकतर गीवों में ही है, इसलिये यह तात्पर्य सही होते हुए भी अपूर्ण इसलिये है कि सभी जन-साधारण द्वारा गायेजानेवाले भी लोकगीतों की परिचिन में नहीं पाते। वे तो धारा के फिल्मोगीत, जिनमें जन-साधारण द्वारा प्रयुक्त होते हैं, उनमें कोई भी नहीं, फिर भी वे लोकगीतों की व्येणु में नहीं पाते। गीतों की लोकजगता, उनके प्रभाव और प्रभारक्षेत्र की व्यापकता, तथा उनकी लोकशाहता ही उन्हें लोकगीतों का दर्जा नहीं दे देती। अन्य कई ऐसी कल्पितियाँ भी हैं, जिन पर उत्तरकर ही उन्हें लोकगीतों का दर्जा प्राप्त होता है।

किसी भी कलाकृति का अपना रचयिता अवश्य होता है, जो उस कृति के पीछे सूर्य के समान ईदीप्यमान रहता है। वही कृति अपने रचयिता से चमत्कृत होती है और उसका रचयिता भी उसी कृति में चमत्कृत होता है। रचयिता के व्यक्तित्व की छाप उस कृति पर स्पष्ट अंकित रहती है, परन्तु लोकगीतों में उसका रचयिता छिपा रहता है, कहाँ भी उसके व्यक्तित्व का आमाम नहीं मिलता। ऐसी असंख्य रचनाएँ अनादिकाल से ध्येनक कंठों से उद्भासित होती रहती हैं, परन्तु उनमें से कुछ ही रचनाएँ प्रकाश में आती हैं और जोप पानी के बुद्धुदों की तरह विलीन हो जाती हैं। कुछ रचनाएँ अपने विलक्षण गेय तत्त्वों के कारण समाज में प्रचलित रहती हैं, उन्हें लोग उनके रचयिताओं के कंठों से मुनते हैं, सराहते हैं और वे कृतियाँ रचयिता की घरो-हर के लाग में उसकी प्रतिमा को प्रकाशमान करने के लिए प्रकाशित भी होती हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वे लोकगीतों का दर्जा प्राप्त कर सकें। उनमें साहित्यिक एवं कलात्मक गुण होते हुए भी वे अपने सीमित दायरे में ही रहती हैं। वे समाज की घरोहर नहीं बनती। सामाजिक घरोहर वनमें के लिये जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे मुख्य मादि आज मानव शक्ति के अन्दर होते

तो प्रत्येक रचयिता उन मुर्शिदों के अनुसार गीत रच देता और वह लोकगीत बनाने का विषय प्राप्त करता है। धरतः यह जानना अत्यन्त कठिन है कि असंबल्य रचेजानेवाले गीतों में से कौनसा गीत ऐसा है जो लोकगीतों की ओरु प्राप्त करनेवाला है अथवा जिसे समाज प्रपना बनाकर उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित करेगा। इसका यह भी भर्ग नहीं कि जो गीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है, वह स्वर-नाटन, गद्द-नवन तथा संगीत की हैटिंग से वैयक्तिक प्रभाव और रचयिता के व्यक्तित्व से खुदे रचेजानेवाले वैयक्तिक गीतों से भिन्न होता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि अनन्तकाल से रचेजानेवाले ये वैयक्तिक गीत किसप्रकार और किन मुर्शिदों के कारण लोकगीतों का दर्जा प्राप्त कर लेते हैं।

एकबार ऐसे वैयक्तिक गीत सामाजिक धर्मिश्चि की पकड़ में आ जाने हैं तो उनमें अनेक प्रकियाएँ होने लगती हैं और वे अनेक कल्पोटियों पर कास कर अस्तीतीस्तवा लोकगीतों की परिधि में प्रविष्ट होते हैं और उनमें विशेष प्रकार का संबंध होने लगता है। यह प्रकिया किसी प्रभाव या ग्रहण से नहीं हुआ करती। यह ऐसी अज्ञात प्रकिया है, जो अनादिकाल से चली आरही है और जिसके बायें, कारण का कोई पता नहीं है। किसी भी लोकगीत का उपर्युक्त रचनाकाल से लेकर उसके पूर्ण विकसित स्वरूप के क्रमिक विकास का कोई लेणा-ज्ञोना रखना चाहे तो असंभव है और यदि किसी लोकगीत के क्रमिक विकास का कम जाना भी जा सके तो यह नमक सेना चाहिए कि वह लोकगीत की ओरु में नहीं है। धरतः यह तो मान ही लेना उचित है कि कुछ गीत वैयक्तिक रचना की परिधि में बाहर निकलकर तभा सामाजिक स्तर पर विकास की चरम भीमा प्राप्त करके ही लोकगीतों का दर्जा पाते हैं।

किसी भी गीत का बहुत अधिक प्रबल्लन तथा उसके बोधगम्य क्षेत्र का विस्तार ही उसे लोकगीत का दर्जा प्रबाल नहीं करता। सूर, तुलसी, मीरा, कवीर भादि संतों के हवारों गीत संकाढ़ों वर्षों से अपने साहित्यिक, सामाजिक तथा गेय मुर्शिदों के कारण समाज में प्रचलित हैं, परन्तु फिर भी उन्हें लोकगीतों का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ है। धरतः लोकगीतों के क्रमिक विकास में जो प्रक्रिया विहित है, वह कुछ और ही है। भोटे लौर पर हम इस संबंध में यह कह सकते हैं कि ऐसे गीत अनेक प्रतिमाओं के सम्मिलण से बनते हैं तथा उनसे प्राप्त भूम् त लोकगीतों के स्वर तथा लाल्ड भनायास ही लोगों के मन पर प्रसर कर जाते हैं और धनात स्थान से उत्तरे स्वर-संगठन तथा गद्द-नियोजन में परिवर्तन होने लगता है। यह प्रक्रिया नपों और किस कम से होती है, इसका पता लगाना

आमान नहीं है। ऐसे गीत अज्ञात स्थान से ही लोगों के काठों पर विराजते हैं तथा उनके मानस की किया-प्रक्रियाओं के मुण्ड विषय बन जाते हैं। गीतों के नियोजन, प्रामोजन से उनका कोई संबंध नहीं रहता। धीरे-धोरे उनका प्रभाव और प्रचारक्षेत्र बहुत जाता है और लोग उन्हें धनायास ही बाने लगते हैं, उन्हें विविधत् भिन्नताया नहीं जाता, वे मामाजिक संतान की तरह अपने सामाजिक परिवार में बोलते कृदते तथा विचरित होते रहते हैं। वे दीपक के प्रकाश की तरह कैल जाते हैं। प्रारम्भ में उस दीपक की लो छोटी होती है, परन्तु लोकजीवन की सशक्त प्रनुभुतियों के साथ समाज का सशक्त मस्तिष्क उनमें जीवन पूरता रखता है और उस दीपक की लो अधिक प्रकाशमान और सशक्त होती जाती है। वे गीत स्वर-संयोजन, लयकारी घट्ट-चातुर्य तथा धर्म-चमत्कार की पैचीदियों से कोसों दूर हैं, तथा स्वरों के मर्मस्पर्शी और शब्दों तो अपूर्व अंजना-जक्ति के कारण अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। इन गीतों के मूल रचयिता की प्रतिभा में अनेकों सामाजिक प्रतिभायों का सामंजस्य होता है, विसरे वे सैकड़ों वर्षों के सतत प्रयोग से जन-जीवन में शुलभित्तिकर लोकिक तत्त्वों से संरक्षित हो जाते हैं। इन तथ्यों के साथ दूसरा तथ्य योर है, जो इन गीतों को लैकड़ी वर्षों तक सजीव और सप्राणित रखता है, वह है उनके साथ प्रयोक्ताओं की ममता। लैकड़ी वर्षों के सतत प्रयोग तथा लगाव के कारण मनुष्य के हुँस-सुखों से जुड़े हुए ये गीत उनकी ममता के साथ लिपट जाते हैं तथा लिखाह-शादियों, पवे-संस्कारों, पूजा-पाठों तथा उनकी अनुष्ठानिक विधाओं के साथ संत्कारयत् जुड़ जाने से ये गीत सम्बन्ध समय तक बीवित रह जाते हैं।

### लोकगीतों का विकास

कभी-कभी हम भूल में यह मान लेते हैं कि लोकगीत मनुष्य की अधिकसित अवस्था के द्योतक हैं। यदि इस कथन में कुछ भी तथ्य होता तो मरमत की आवश्यकी प्रत्यन्त विकसित अवस्था में लोकगीतों का चिन्ह भी नहीं बचता, परन्तु बात यह नहीं है। लोकगीतों का प्रचलन आज भी उतना ही है, विस्ता भनुष्य की अधिकसित अवस्था में था। वास्तव में मनुष्य की जिला, दीदा तथा उसकी सम्पत्ति के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध है तो उतना ही है कि मनुष्य की विकसित अवस्था के गीतों में प्रोडता तथा साहित्यिक गुणों वा वाहूत्य रहता है और अधिकसित अवस्था के गीतों में उनका प्रभाव। आज की प्रादिम जातियों के गीतों में तथा अन्य विकसित

जातियों के लोकगीतों के रेख तत्त्वों में समानता रहते हुए भी उनके स्वर, शब्द तथा अर्थ के रचनाकौशल में काफी अन्तर रहता है।

उक्त इनिट से लोकगीतों को अनेक विकास-सीढ़ियाँ हो सकती हैं; जैसे प्रादिम जातियों के गीतों में शब्द तथा स्वरों का चयन अस्तवन्त सरल तथा प्राथमिक अवस्था में होता है। इन जातियों का सरल संक्षिप्त जीवन तथा इनका नितिपृष्ठ सामाजिक गठन इनके गीतों में दर्पण की तरह प्रतिदिमित होता है। इनके गीत भी स्वर, शब्द तथा अर्थ की इनिट से अस्तवन्त सरल तथा संक्षिप्त होते हैं। इसी तरह मानवी सम्यता के प्रभावों से दूर रहनेवाली तथा जिज्ञासीका और मानवी अनुभूतियों से हीन जातियों के गीत भी प्रादिम जातियों के गीतों की तरह ही सरल और संक्षिप्त होते हैं। उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुरूप ही उनके गीतों का चयन होता है। यही कारण है कि जब हम जिजित और सभ्य कहनानेवाले प्रासी इन अविकासित जातियों के गीत सुनते हैं तो वे हमें अधिक प्रिय और अचिकर नहीं लगते। इसका कारण यह नहीं है कि वे गीत लोकगीतों के दर्जे से नीचे हैं। कारण केवल यही है कि उन्हें सराहने और प्रात्मसात् करने के लिये हमारे पास सबैदेना नहीं है। जो गीत उन प्रादिम जातियों के मन में आनन्द का संचार करते हैं, या जिनको वे आत्मसात् करके आत्मविभ्रांत हो जाते हैं, उनसे हम प्रभावित नहीं होते, क्योंकि उन्हें सराहने योग्य विशिष्ट परिस्थितियों और अनुभूतियों से हम दूर हैं।

सांस्कृतिक विकास की इन अवस्थाओं के प्रनुसार लोकगीतों की विविध विकास-सीढ़ियों का कभी यह तात्पर्य नहीं है कि जो अविकासित वर्ग है, उसके गीत साहित्यिक तथा संगीतिक तत्त्वों से हीम होते हैं और जो जिजित समाज है, उसके गीत ही विकसित हैं। अविकासित समाज के गीतों में शब्द, स्वर तथा तात्पर्य की सरलता अवश्य होती है; परन्तु गीतों का सामाजिक सौन्दर्य तथा उनके मर्मस्पदर्थी गुण विकसित समाज के गीतों से किसी तरह कम नहीं होते। यदि कोई कभी होती है तो उनके कल्पना-सौन्दर्य तथा अर्थ और शब्द वैदिक्य में होती है, जिसका गीत के मर्म से अधिक कोई संबन्ध नहीं होता है। कभी-कभी तो सम्यता तथा गांधिक जीवन को जागावाइ में ये सभ्य तथा विकसित समाज के गीत बोहिक तत्त्वों से दब जाते हैं तथा ग्रामगीतों की तुलना में अपने मर्मस्पदर्थी तत्त्वों को जो बैठते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी गीतों में रहनेवाला पुस्तकीय ज्ञान से हीग; परन्तु मानवीय ज्ञान और अनुभूतियों से परिपक्व समाज ऐसे लोकगीतों का भनी होता है, जो गोति-तत्त्वों से भरपूर होते हैं।

लोकजीवन की अनेक ऐसी अवस्थाएँ भी हैं, जिनके अनुसार गीतों के स्वर तथा शब्दों में अंतर आता रहता है। लोकगीत जब अपनी सामाजिक सीमाओं को पार करके कुछ अवसाधिक और विशिष्ट जातियों की ओर दूर बन जाता है तो भी उसमें फक्त आ जाता है। ये जातियाँ मूल गीत को स्वर तथा शब्द-रचना को कायम रखती हुई भी उनमें वैयाक्तिक स्वरंशता ले लती हैं, और उन्हें प्रपने द्वंग से नाने नहीं हैं। इन जातियों को प्रपनी आजीविका उपायजन हेतु तथा अन्य जातियों के साथ अवसाधिक प्रतिलिपियों के कारण अपनी कलाकृतियों को चमत्कृत बननी पड़ती है, जिससे ये सामाजिक सोकलीत एक विशिष्ट परिषादी का अनुजीवन करते हैं और मूल लोकगीतों से कुछ भिन्नता लेती है। उनकी गायन-शैली में कुछ शास्त्रीय तत्त्वों का सामास होने लगता है और गायक प्रपने विशिष्ट अभिलेख की द्वाप उन पर अधिकत कर देता है।

इसी तरह की दूसरी भिन्नाल है उन गीतों की जो शौकिया द्वंग से नाने वाले कुछ शहरी लोगों के कठ पर विराज जाते हैं। ऐसे लोग इन गीतों का अत्यधिक परिष्कार कर देते हैं, विशेष करके स्वर तथा शब्दोच्चार में, जिनमें इन गीतों के प्राण निहित रहते हैं। वे उन्हें तान, मुरकियों तथा विशिष्ट नहजों से इतना अलंकृत कर देते हैं कि वे प्रपना स्वामाजिक सौन्दर्य लोकोंसे हैं तथा गायन की लोकशैली से काफ़ी दूर हो जाते हैं।

दूसरी भवस्था वह है, जब समस्त समाज ही सांस्कृतिक तथा धैर्यरिक स्तर को प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में लोकगीतों का स्तर भी बढ़ता है। सभ्य समय से प्रचलित सोकलीत स्वयं भी लोकमानस के परिवर्धन तथा परिष्कार के साथ संसोधित एवं परिवृक्त होते रहते हैं और तर्वान परिवान धारण करते रहते हैं। वे जीवन के साथ इनके धुनेमिले रहते हैं कि इस मूलभूत परिवर्तन का किसी को पता भी नहीं रहता। वे सैकड़ों वर्षों से पारिवारिक जन की तरह जीवन के साथ जुड़े रहते हैं। वे उन वैयाक्तिक गीतों को तरह नहीं हीते जो अकिञ्चित शब्द-यात्रिय पर सबलमिलत रहते हैं तथा जिनका अभिलेख भी रचनाकार के असिलते के साथ जुड़ा रहता है, परन्तु सब बात तो पहुँ है कि लोकगीत को किसी रचयिता के अभिलेख पर आधारित नहीं रहकर उसे स्वयं के गुणों पर ही जीवित रहना पड़ता है।

### लोकगीतों की स्वर प्रधानता

गीतों में गेय मुण्ड की प्रधानता रहने के कारण उनके स्वरों का आधिपत्य शब्दों पर सदा ही बना रहता है। यही ऐसा तत्त्व है जो उन्हें कविता से

असम करता है । मरिषपुर, बिपुरा तथा मध्यप्रदेश की आदिम जातियों के अनेक गीत ऐसे हैं जिनमें प्रायः शब्द ही ही नहीं । उनको लयप्रधान गूँज ही उन गीतों का कलेवर होती है । ये जातियाँ अपनी नृत्य-प्रधान मुद्राओं में इन गीतों को गाती रहती हैं । इनमें जो भी शब्द लेख रह गये हैं वे विविध परिस्थितियों में विविध तात्पर्य धारणा कर लेते हैं । सामूहिक रूप से ये गीत केवल उसकी इच्छियों के माधुर्य के कारण ही गाये जाते हैं । कुछ शब्द उनके साथ नहुए हुए ध्यवस्था होते हैं, परन्तु गायक का मूल प्रानन्दस्रोत उन गीतों की धूनों में है, शब्द-भासुर्य में नहीं । जिस तरह किसी कविता में नेव तत्त्वों का माधुर्य विवरमान है तो उसके शब्दों का महत्त्व भी बढ़ता है, उसी तरह यदि किसी सोकगीत में नेव गुणों के साथ शब्द-भासुर्य भी है तो उसके चार चाँद लग जाते हैं । यह बात भी सही है कि जिस तरह शास्त्रीय संगीत में शब्द विलकूल ही गीरण ही जाता है उस तरह सोकगीतों में वह विलकूल ही गीरण नहीं होता । उसके कुछ लकण तो जीवित रहते ही हैं । यदि लोकगीतों में स्वरों की प्रधानता नहीं होती तो वे केवल घरपने काव्य-गुणों के कारण ही इन शीर्षकों नहीं होते । राजस्थान के सर्वोधिक लोकप्रिय गीत चूमर, परिहारी, लूर, ईछेसी, पीपसी, गोरखनंद आदि में शब्दों का महत्त्व पर्याप्त मात्रा में होते हुए भी वे घरपने नेव गुणों के कारण ही इन लोकप्रिय और सर्वशेषोंपर हो गये हैं ।

लोकगीतों का प्रादुर्भाव ही स्वरों से होता है । मनुष्य घरपने मावनानिष्ठ धरणों में अज्ञातरूप से स्वरों की गृहिणी करता है तथा उन्हें गुणगुनाता रहता है । काँड़ी लम्बी अधिप्रयंत्र वे गीत उसके एकांकी जीवन के शूँगार बने रहते हैं । तथा उसकी मानसिक अवस्था के अनुरूप ही उनमें परिमार्जन होता रहता है । उसी अवस्था में वह उन्हें उपमूर्ति शब्द देता है । ऐसे अनेक गीत रचनाकार के वैयाक्तिक दायरे से बाहर निकलकर सामाजिक दायरे में प्रवेश करते हैं और धीरे-धीरे वे सामाजिक अव्याकृत धारणा करके रचनाकार के अव्याकृत से हमेशा के लिये अलग ही जाते हैं । समाज उन्हें सजाता है, सेवारता है तथा उनके समस्त दोषों को दूर कर उन्हें सच्चे हीरे की तरह चमकाता है, उन्हें घरपना पारिवारिक जन समझकर उनसे अल्पिक जगाव का अनुभव करता है ।

ऐसे ही गीतों को जब मनुष्य विकास की सीढ़ियों पर चढ़कर देखने लगता है तो साहित्यकार उन्हें साहित्य की कसीटी पर कसता है और सभी-कार उन्हें स्वर की भूमिका में परखता है । दोनों ही उनमें अपूर्व कलानिधि के

दर्शन पाते हैं, परन्तु संगीतशास्त्रियों को उनमें शास्त्र के कोई तरव नहर नहीं आते, क्योंकि राग-रागिनियों की झड़ापोह, लगवालों की गुलियाँ और तान-पलटों के चमत्कार उनमें विलकृत नहीं होते; परन्तु जिपरीत इसके साहित्य-शास्त्रियों को उनमें धनमोत्त लगाता मिलता है, क्योंकि साहित्य के शास्त्र में और संगीत के शास्त्र में अंतर है। शास्त्रसंगत साहित्य साहित्य की परिभाषा ही में नहीं आता, जबकि शास्त्रीय संगीत का प्रधान तत्त्व ही उसका शास्त्र है। जिस शास्त्रीय संगीत का शास्त्र ही नहीं, वह शास्त्रीय संगीत की परिपाठी में नहीं आता। इसलिये लोकसंगीत को और शास्त्रीय संगीतकार नहीं भुकते। जिस तरह संगीत में लोकसंगीत, सुगमसंगीत तथा शास्त्रीयसंगीत शादि के भेद-विभेद हैं, उस तरह साहित्य में शास्त्रीय साहित्य, लोकसाहित्य तथा सुगम साहित्य जैसे भेद-विभेद नहीं हैं।

साहित्य के सौन्दर्य-परीक्षण में शास्त्र बहुत ही गौण भाग बना करता है, परन्तु हमारे भारतीय संगीत में शास्त्र का तत्त्व बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। शास्त्र तो साहित्य तथा संगीत में सुन्दरता और ग्रीष्मता प्रदान करनेवाला तत्त्व है। यदि यह शास्त्र ही संगीत या साहित्य बन जाय तो गच्छ ही हो जाय। भारतीय शास्त्रीय संगीत दुर्मार्य से इसी विद्यमना का लिकार बन गया है। सौभाग्य से भारतीय साहित्य, जो कि मध्ययुग में शास्त्र की विद्यमनाओं में उत्तम लग गया था, यद्य प्रायः उससे मुक्त होने सक रहा है। कला का उद्देश्य चुद शीनदर्य की सृष्टि करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति लोकसंगीत पूर्ण लिम्बे-दारी से कररहा है। याज का शास्त्रीय संगीत इस दिशा में असफल इसलिये सिद्ध हुआ कि उसमें शास्त्र का ग्रत्यधिक सहारा गढ़ा कर लिया है। साहित्य के प्रेमी लोकगीतों के साहित्यिक पक्ष की ओर आकृष्ट हुए और शास्त्रीय संगीत के आचार्य उभर आकृष्ट नहीं हुए। इसका कवापि यह अब नहीं है कि लोकसंगीत का संगीतपक्ष दुर्बल है और साहित्यपक्ष प्रबल। सोकगीतों की सौकड़ों खुनों के अध्ययन तथा उनके घटनियों-परीक्षण से यह जिद हो चुका है कि वे अपनी खुनों और न्वर-न्वतायों की ताकत से ही याज लीखित हैं। इन घटनियों तथा संगीत की बन्धियों के वैज्ञानिक परीक्षण के बाद यह जान-लिया गया है कि उनमें से शब्द हटा लेने पर उनके प्रभाव में अधिक अंतर नहीं प्राप्ता।

लोकसंगीत ग्रत्यधिक पुरामा पड़सेपर संस्कार्दूषत् लोकगीतन से लिपटा रह जाता है तथा उसके शब्द ग्रत्यधिक दुर्बल हो जाते हैं। कहो-कहो तो शब्दों का पता ही नहीं जाता, किंतु भी वे मौत समाज की आत्मा बने हुए हैं और

उनकी मधुर घुनों से जनता रसभ्वावित होती रहती है। इसका कवापि यह भत्तलव नहीं कि लोकगीतों का साहित्यिक पद उनका निरर्थक पद है। साहित्य और संगीत के मुन्दर सामंजस्य से ही लोकगीत लोकगीत का दर्जा प्राप्त करता है। यदि सामंजस्य समाप्त हो जाय तो लोकगीत समाज की सम्पत्ति नहीं रह कर कुछ ही ऐशेवर लोगों की सम्पत्ति बन जायेगे। लोकगीतों को उनका साहित्यपद ताकत प्रदान करता है तथा उन्हे दीर्घजीवी बनाता है, परन्तु वह उसका शरीर है, उसकी आत्मा नहीं। शरीर मरने से आत्मा नहीं मरती, परन्तु आत्मा नहीं रहने से शरीर नष्ट हो जाता है। जिस लोकगीत का केवल शब्दपद रह जाता है और उसका स्वरपद दुखल हो जाता है या उसके प्रयोक्ताओं द्वारा दुखल कर दिया जाता है तो वह गीत मृतगीत के बराबर ही रह जाता है। ऐसे गीतों में वे गीत जुमार होते हैं, जो ऐशेवर जातियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं तथा देवी-देवताओं के गुरुगण में प्रसूक्त होते हैं। उनमें जातियों के बंगानुकम तथा उनकी नामावलियों की प्रधानता रहती है और उनके नेतृत्व कम होता है। इसका परिणाम यह होता है कि ये गीत इन जातियों के पास ही रहते हैं तथा जन-जीवन से दूर होते रहते हैं।

इस संबंध में एक बात की धोर सकेत करना अर्थात् यावस्थक है। संगीत का विद्वान्-गीतों के गेयपद का अध्ययन करते समय उसके शास्त्र को दूरढ़ा है। उसी तरह लोकगीत के साहित्यिक पद के अध्ययन के लिये यदि कोई साहित्यकार उसके आस्त्रपद को सोजने का प्रयत्न करे तो बहुत बड़ी भूमि होगी। ऐसीकि लोकगीतों में साहित्य का आश्रयपद न्यून्य है, फिर भी साहित्यिक विद्वान् लोकगीतों का काव्यात्मक भंधन करता है और उनमें से असूत निकाल ही लेता है, परन्तु यह काव्य हमारे संगीत के आचार्य नहीं करते। किसी भी लोकधुन को सुनकर उसमें संगीत के तत्त्व निकालने की प्रवृत्ता वे उसके प्रति प्रवृत्तना का भाव प्रकट करते हैं। वे लोकगीतों के स्वर-नामित्व की लोक नहीं करते। वे यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि विजिष्ठ गीतों में विशिष्ट प्रकार का स्वर-चयन क्यों होता है? विजिष्ठ स्वर-संगठन से विशिष्ट प्रकार का प्रभाव क्यों पैदा होता है? लोकगीतों में आस्थीय संगीत पर आधारित विशिष्ट राम-रामिनियों की द्याया क्यों रहतो है? शास्त्रीय तालों की पेचोदण्डियों उनमें नहीं रहते हुए भी गाने के इन्हें प्रभावशाली लटके उनमें कहाँ से आते हैं? ऐसे सब बातें ऐसी हैं, जिनका विशिष्ट प्रध्ययन तथा परीक्षण संगीत-शास्त्रियों को करना चाहिए।

## लोकगीत का रागपत्र

यास्त्रीय संगीत को मूल रागे, जो इस घटाओं से उत्पन्न हुई मानी जाती है, विद्वानों की वैज्ञानिक चुदि तथा सूक्ष्म-समझ की द्वारक अवधार है। अनेक वर्षों तक अनेक विद्वानों ने भारतीय गीत के सात स्वर तथा पञ्च विहृत स्वरों के बोड-टोड से संयत तथा कार्यमधुर रागों की कल्पना अवश्य की होती थी। इस दिशा में अनेक वौद्धिक प्रयोग भी हुए होंगे; परन्तु भारतीय लोक-संगीत के परीक्षण से यह जात हो सकता है कि अनेक शास्त्रीय रागों की छाया लोकगीतों में विद्यमान है। उसके परीक्षण से यह भी जात हो सकता है कि उसकी रचना में किसी भी भास्त्रकार का हाथ नहीं है, न उसका संचरण कभी भी किन्हीं स्थितियों में किसी शास्त्रकार के कठ पर हुआ है। इस परीक्षण से शास्त्रीय रागों के प्रादुर्भाव का एक बहुत ही महत्वपूर्ण संकेत हमें उपलब्ध हो सकता है।

किसी भी लोकगीत के प्रादुर्भाव के समय जिस मानसिक या भावात्मक स्थिति में उसका आदिस्वरूपिता रहता है, उसो के प्रनुसार उस गीत के स्वरों का चयन अनवान ही में उसके अत्यस्तत्व से प्रकट होता है। उसके कठ से प्रथमबार मुख्यरित हुई गुनगुनाहट उसके मानस की विशिष्ट भावावस्थाओं को तुष्ट करती है, उस प्रभाविति से उसको स्वर्गीय आमन्द का प्रनुभव होता है। उस गुनगुनाहट को वह गम्भो या परिवान भी अनवान ही में पहिलाता रहता है। थोरे-थोरे वह आदिगीत अनेक कठों पर संचरित होता है और जहाँ-जहाँ उस सामान्य मानस-प्रवस्थाएँ उपलब्ध हो जाती है, वहाँ वह रेडियो की तरंगों की उच्च सुखद साध्य पाकर दीर्घकालीन संचरण की प्रवस्था को प्राप्त करता है। उस गीत की रचना के समय कोई यह नहीं देखता कि उसके स्वर-चयन में कौनसा स्वर वादी, संबादी तथा विवादी है। भारोहावरोह में स्वर-क्रम किस नियम से उसमें संचरित होते हैं तथा कौनसे स्वरों के मेल से उस राग की रचना होती है, किर भी ऐसे अधिकांश गीतों में इन वास्तों का विलयण निभाव मिलता है। उदाहरण के तौर पर गजस्थान के इस प्रमुख लोकगीत का परीक्षण कीजिये :-

( १० )

### लालर चीत

(स्वाइ)

लालर लेदो नी नोखीता म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

(अंतरा)

रसडी बोधु तो म्हारे कालो डोरो पाटी रो

विदली विना तो म्हारो जीव तरसे लालर लेदो नी

( येप पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत नहीं की गई हैं । )

स्वरलिपि (ताल कहरवा)

स्वाइ

			सा - सा सा
			ना ३ ल र
प - प नी	नी - सा -	रे - रे -	नी - सा -
ते ३ बो ३	नी ३ नो ३	सो ३ ला ३	म्हा ३ रो ३
रे - रे -	म - म -	य य य म	रे - रे सा
बी ३ व ३	त ३ र ३	से ३ इ ३	ला ३ ल र
नी - नी रे	सा - - -	- - - -	- - - -
ते ३ बो ३	नो ३ ३ ३	३ ३ ३ ३	३ ३ ३ ३

अंतरा

** प प	ना - नी -	सा - सा -	नी - सा -
** र ल	ळी ३ बो ३	भ - ती ३	म्हा ३ रे ३
-- रे म	- रे सा -	नी - नी रे	सा - - -
* * कालो	३ डो रो ३	आ ३ ठी ३	रो ३ ३ ३
* * य य	य - य -	य - प य	प म म -
-- विद	ली ३ वि ३	ना ३ तो ३	म्हा ३ रो ३

रे - रे -	म - म -	प घ य म	रे - रे सा
बी ३ ब १	त ५ र १	से ५ ५ ५	ला ३ ल ८
नी - नी रे	सा - - -	- - - -	सा - सा सा
ले ५ बी ३	नी ५ ५ ३	५ ५ ५ ५	ला ३ ल ८
×	०	४	०

इस गीत में एक स्त्री अपने पति से विजिष्ट शलकरण लाने का आग्रह करती है। यह गीत लास्त्रीय गीत नहीं है, न यह किसी शास्त्रकार द्वारा ही रचित है। राजस्थान के दधियो-वशियो लोक में गाया जानेवाला यह अत्यन्त प्रचलित लोकगीत है, जिसे ग्राम्यजनता ही गाती है। शास्त्रकार की कल्पना से वह कोसों दूर है। इसकी स्वर-रचना में गोड़सारम की लाग्या स्वष्टि है। स्वर-रचना में धारोद्धारोह की इच्छि से भी स्वर-प्रयोग नियमित रूप से हुआ है। यह किसी लास्त्रीय गीत का विकृत या परिवर्तित रूप भी नहीं है। यह विशुद्ध लोकगीत है, जिसकी वंदिग के पीछे कभी भी किसी लास्त्रकार का हाथ नहीं रहा है। एक दूसरे नमूने का परीक्षण और कोविये :-

### बघावा गीत

(स्थाई)

हेली रंग रो बघावो भ्हारे नित नवो ए

(अंतरा)

हलो ए मलो हेली बागो मे चाला  
बागो मे जाय हेली कई करोला  
प्राणी प्राणी कलियो चूटो ए हेली…

(जेव गीत यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।)

## स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्वार्थ

ग	ग	रे	सा - नी -	सा सा -	रे प म -
रे	ग	इ	रो ५ व ५	था वो ५	महा ५ रेड ५
ग	ग	रे	सा - नी -	सा - -	रे प म -
नि	त	इ	न ५ वो ५	ओ ५ ५	हे ५ ली ५
X			२	०	३

## अंतरा

प	प	-	नी - नी -	सा - -	रे ग ग -
हे	ली	५	ए ५ म ५	ली ५ ५	हे ५ ली ५
रेम	म	-	म - - रे	नी - -	सा - - -
(	वाइ	५	माइ ५ ५ में	था ५ ५	लाइ ५ ५ ५
प	-	-	ती - नी -	सा सा -	रे ग ग -
वा	५	५	मो ५ में ५	जा य ५	हे ५ ली ५
रेम	म	-	म - - रे	नी - -	सा - ग म
(	कॉ	५	वै ५ ५ क	रो ५ ५	लाइ आ गी
प	प	-	प म प य	म म -	ग रे ग रे
आ	ली	५	था ५ ५ ली	क लि ५	याइ ५ ५ ५
रे	प	-	ग म प -	म रे -	रे प म -
चौ	५	५	ठो ५ ०५ ५	ए ५ ५	हे ५ ली ५
X			२	०	३

इस गीत में एक स्त्री किसी मानसिक प्रसंग के लिये प्रपनी सहेलियों से बाग में जाकर पुण लाने का निवेदन करती है। यह गीत भी राजस्थान का अत्यंत प्राचीन और लोकप्रिय गीत है, जो लगभग समस्त राजस्थान में राजस्थानी स्त्रियों द्वारा विवाह-उत्सवों तथा मानसिक अवसरों पर गाया जाता है। इसे जोकिया डंग से गाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें राग तिळक-कामोद की शाया स्पष्ट है, तथा इस राग की कई परम्पराओं का निभाव अत्यंत स्वाभाविक डंग से हुआ है।

लोकगीतों के ये उपर्युक्त दो नमूने तो ऐसे हैं, जिनमें शास्त्रीय रागों की अधिकांश परम्पराओं का निभाव हुआ है, परन्तु यनेका लोकगीत ऐसे भी हैं जिनमें कई शास्त्रीय रागों का बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक सम्मिश्रण हुआ है। उनमें रागों का स्पष्ट निभाव होते हुए भी विनिमय रागों के स्वरों का स्वाभाविक अवगम मधुर प्रभाव उत्पन्न करते हैं जिन्हें पूर्ण रूप से सार्वक हुआ है। जैसे :-

### सियाला गीत

(स्वारी)

पात्र तो सियाले घणो सी पड़े श्रो मेवाडा रा

(प्रतरा)

ऐसू परखी दै प्रापरे नार घो बादीला रा  
मती ना परदेश पधारो रा प्रात्र तो....

( जैस गीत यही उद्घृत नहीं किया गया है। )

### स्वरलिपि ( ताल कहरवा )

स्वारी

			नी	सो	षी	-	नी
			॥	॥	॥	॥	॥
प	ष	-	नी				
य	प	-	म	प	म	प	नीसो नी
या	ले	५	५	५	५	५	५
सो	-	सो	सो	सो	५	५	५ श्रो
मे	५	५	५	५	५	५	५ तो ५ सि
x	.	.	.	.	.	.	पहे श्रो मेवाडा रा
			x	x	x	x	o

## शतरा

			म	घ मध नीसां नी
			ऐ	सृं पृ॒॒॒॒ र
सो सो --	नी नी सो -	- सो मं गं	५ दे - सो	
शी शे ५ ३	आ प रे १	५ ३ ५ ना	५ र ५ शो	
नी सो --	- नीष घ नी	- - - घ	नी घ म -	
वा वी ६ ५	५ लाँ रा ५	५ ५ ५ म	ली ना ७ ३	
पम मम ग म	घ मध नीसां नी	सो - - -	- नीष नी सो	
रङ् ५५ ३ दे	५ मङ् ५५ प	आ ५ ५ ५	५ रोँ रा ५	
	नी			
-- -, नी	सो घ - नी			
५ ५ ५, आ	ज तो ३ मि	याले घण्ठो सो पहे	ओ मेवाहा रा	
X	o	X	o	

इस गीत में एक स्त्री अपने पति से यह निवेदन करती है कि उर्दी की इन रातों में आग मुझे छोड़कर परदेल नहीं जावे । इसकी स्वर-रचना में राम रामेश्वरी की आया स्पष्ट है, परन्तु इसके अंतरे में कोभल रिधन के मिथ्या से इसका लालितय बढ़ाया है । यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक लोकगीत के स्वरों का परीक्षण शास्त्रीय रागों के नियमानुसार ही हो । यह भी आवश्यक नहीं है कि शास्त्रीय रागों के मान्य नियमों के अनुसार ही लोकगीतों में रागों का पारस्परिक मिथ्यण हुआ हो । जैसे — भैरवबहार, बगनावहार, कानडे की बहार आदि । लोकगीतों में यह राग-मिथ्यण विविध रूपों में मिलता है । कभी-कभी तो ऐसी रागे गये मिलती हैं, जिनकी शास्त्रीय संगीतकार स्वर्ण में भी कल्पना नहीं कर सकते । यह मिलन लोकगीतों की त्रुटि से अत्यन्त मधुर, सार्वक तथा प्रभावशाली होता है; परन्तु इसे शास्त्र कभी स्वीकार नहीं कर सकता । उदाहरण के तौर पर एक रुद्रसंचानी गीत को देखिये :—

( १५ )

## सियाला गीत

( स्थाई )

भंवर म्हाने परण पीयर मती भेळो सा

सियाले री रेन में हो माझी भंवर.....

( चंतरा )

म्हारा तो पीयरिया में लाड घणा थे रा

दुधा ढोवा जतन कराऊं सा ।

सियाले री रेन में हो माझी ॥) भंवर....

(गोप गीत यही उद्धृत महो किया गया है ।)

## स्वरलिपि ( ताल दीपञ्चदी )

स्थाई

			नी	नी	नी	नी	ष	नी	सा	-	-
			गे	व	र	इ	(	म्हा	ने	१	१
नी	नी	-	सा	-	-	सा	नी	नी	घप	-	प
प	र	१	ए	१	१	पी	य	र	१	म	ती
नी	घ	-	प	-	-	म	ग	रै	ग	प	घ
मे	लो	१	सा	१	१	सि	या	१	१	ले	री
घप	लोसी	-	प	-	म	प	ग	-	-	मप	गम
(	(	१	१	१	१	१	न	मे	१	१	हो१
सा	रे	-	नी	सा	-	नी	नी	नी	प	नी	सा
मा	श	१	ओ	१	१	म	व	र	१	म्हा	ने
*			२			०		*	३		

## अंतरा

म	प	-	(ग)	-	म	प	नी	-	नी	सा	-	-
महा	रा	५	तो	२	५ भी	य	रि	८	या	मे	५	५
×			२			०			३			
नी	-	-	सा	-	-	सो	नी	-	धम	प	-	प
सा	५	५	द	३	५ घ	खा	५	५५	धै	३	रा	५
नी	नी	-	सा	सा	-	-	नी	नी	धम	प	-	-
हु	ला	५	दो	हा	५	५	व	त	५५	न	५	५ क
नी	प	-	७	-	-	म	य	म	म	प	प	-
रा	कं	५	सा	५	५	मि	या	५	५	ले	री	५
प-ध	नीसो	-	घ	-	म	प	ग	-	-	मम	ग	-
८५	५५	५	५	५	५	५	मे	५	५	हो४	५५	५
सा	रे	-	नी	सा	-	नी	नी	ध	नी	सा	-	-
मा	र	५	वी	५	५	भ	व	र	५	महा	ने	५
×			२			०			३			

इस मिथ्या से यह कहीं नहीं कह सकते कि लोकसंगीत में शास्त्रीय संगीत के नियमों की अवहेलना हुई है। शास्त्रीय संगीत में जिस मिलावट से विकृत और विकार उत्पन्न करनेवाली भाव-स्थितियाँ उत्पन्न होने की संभावना रहती है, वही मिथ्या इन लोकगीतों में सूखद मनोवैज्ञानिक भाव-स्थितियाँ उत्पन्न करता है। इस गीत की स्वर-रचना में विलावत राग की आया स्पष्ट है, परन्तु इस राग का विवादी स्वर को मल धैवत के प्रयोग से इस रचना के माध्यमें लाति पर्याप्त नहीं की गयी। अस्तित्व की हुई है।

कहीं-कहीं तो बेदार रामों का इतना मनमोहक सम्मेलन होता है कि उसका बरांन नहीं हो सकता। उदाहरण के तौरपर एक और राजस्थानी गीत देखिये :—

## बना गीत

हळदीवाला बनडा रे म्हारा मानगुमानी बनडा  
राज हळदी रो पुंछो तीलोरे म्हारा हळदीवाला बनडा\*\*\*  
(जोग गीत यही उद्भूत नहीं किया गया है ।)

## स्वरलिपि (ताल कहरवा)

- गम घ -	धनी मध नी सो	- नीरे सा नी	धनी घ नी सो
* हळ दी ३	बाड ५५ ला ५	१ बन डा ५	टेड ५५ म्हा रा
- नीरेसो नी घ -	धध मध ग -	- १ म मरे सारे	गम ग - -
* माठ ३ न गु	माठ ५५ नी ५	१ व म॒५ ५५	५५ वा ३ ५
- - नी सो	नी सो घ धनी	रेसो नी घ -	धध मध ग -
३ ३ रा व	ह ल ५ दी५	५५ रो ५ ३	पूँड ५५ चो १
प ग रेसो सारे	नी साम ग -	- गम घ -	धनी-धध नी सो
तीलो टेड ५५	५ म्हा॑ रा ५	५, हळ दी ३	बाड ५५ ला ५
x	o	x	o

इस गीत-रचना में राम रामेश्वरी की छाता स्पष्ट है, परन्तु उसे सौन्दर्य प्रशान करने के लिये राम मिथाइब का मिथण बहुत ही धाकपैक रंग से हुआ है । इसके साथ ही रामेश्वरी के गुद्ध धैर्यत के साथ कोमल धैर्यत के प्रयोग से भी इस रचना में चार चाँद लगा दिए हैं ।

जोकर्णीतों के राम-घदन के स्वरागत के समय यह अवश्य ही अयाम में रखने की बात है कि इन गीलों की रचना गास्त्रीय नियमों के निमाव तथा विगाह के लिये नहीं हुई है । ये रचनाएँ मानव के मानस की स्वामालिक और स्वरूप अनिवार्यताएँ हैं, उनमें जो भी गास्त्रीय रागों का निमाव मिलता है, तब संपूर्ण रूप से गास्त्रोल्क हो, ऐसी कलना करना भी अनुचित है । रागों के

माति-मौति के मेल-मिलाप, उनकी छाया, प्रतिष्ठाया का जो सुन्दर वर्णन इन लोकगीतों में होता है, वह अन्यत्र कहीं नहीं । शब्द-शब्दव्यंग्य प्रवीण शास्त्रज्ञों द्वारा रचित गुणम तथा फिल्मी गीतों में भी वह रचना-कोशल उपलब्ध नहीं होता । इन गीतों में माघुयं की शिष्ट के निमित्त ऐसे-ऐसे स्वर-चयन की कल्पना साकार होती है, जो अच्छे-अच्छे रचनाकारों की कृतियों को मात्र करती है और जन-मानस पर स्वस्त्र और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होती है । इसी अध्ययन और सर्वेक्षण के द्वायार पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रबन्ध उठता है कि क्या शास्त्रीय संगीत ने लोकसंगीत से प्रेरणा प्रहरण की है या लोकसंगीत की आधारशिला पर ही शास्त्रीय संगीत का भवन अवस्थित है । यह ऐसा विषय है कि जिस पर अत्यंत गहन और तात्कालिक विश्लेषण की आवश्यकता है ।

### लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का पारस्परिक संबंध

उत्तर विचार को अपना आधार मानकर लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध जानना भी अत्यंत आवश्यक है । यह अब पूर्णरूप से सिद्ध होगया है कि लोकसंगीत, शास्त्रीय संगीत का अविकसित रूप नहीं है और न शास्त्रीय संगीत ही लोकसंगीत का विकसित रूप है । दोनों ही स्वरूप एक साथ अनुकूलित और विकसित होते हैं और दोनों ही एक दूसरे से प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं । मोटे रूप में लोकसंगीत, संगीत का लोकपद्धति है और शास्त्रीय संगीत उसका वह पक्ष है, जो व्यक्तिके विशिष्ट की प्रतिभा के अनुसार विशिष्ट शास्त्र में वंच नहीं है । इसमें एक अनोखी बात यह है कि लोकसंगीत कभी भी शास्त्रीय पक्ष को प्राप्त नहीं करता और न शास्त्रीय संगीत ही लोकपद्धति को प्राप्त होता है । शास्त्रीय गीत को गुणम कर देने से तथा उसे लान, पढ़ाने, मुरकियाँ तथा स्वर संबंधी रचनात्मक पेचीदगियाँ हटाकर गा देने से हो वह लोकसंगीत नहीं बन जाता न लोकगीत को लाल, स्वर तथा ताम पलटों की पेचीदगियों में बांध देने से ही शास्त्रीय बनाया जा सकता है ।

संगीत के ये दोनों ही पक्ष अनादिकाल से एक दूसरे के समकक्ष जलते भागे हैं तथा एक दूसरे से प्रेरणा प्रहरण करते रहे हैं । वैदिकवालीन संगीत के अवश्य से यह प्रतीत ही सकता है कि उस समय लोक और शास्त्रीय संगीत में कोई भेद नहीं था । भेद तो तब हुआ जब समाज के सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्तरों में भेद होने लगा । जन-मानस ने संगीत की एक अद्वितीय अपनाई और संगीत के विशिष्ट प्रेमियों ने दूसरी तीस्री को अपनाया । और-औरे

यह भेद बढ़ता ही गया। इसका अर्थ वह भी नहीं कि सामाजिक स्तर के उत्तार-चक्राय के समुदाय ही शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत की प्रतिभा घटती-बढ़ती है। यदि यह कथन सत्य मान लिया जाए कि शास्त्रीय संगीत बुद्धिजीवियों, विद्वानों तथा विजिष्ट सामाजिक स्तर के लोगों का है और लोकसंगीत धर्मिकत, धर्मन्य, असंस्कृत तथा निर्धन जनों की धरोहर है, तो आज का समस्त धनिक और विद्वान् शास्त्रीय संगीत का ही प्रेमी तथा अनुमोदक होता और निर्धन, धर्मिकत और धर्मन्य लोग लोकसंगीत के पूर्णे जाता समझे जाते। आज से २५ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत के अनेक शास्त्रीय संगीतकार धर्मिकत पे और आज के धर्मिकाओं धर्मित और विद्वान् लोग शास्त्रीय संगीत से उतने ही अनियन्त्रित हैं। अतः शास्त्रीय और लोकसंगीत के अपनाव में समाज की विजिष्ट सांस्कृतिक और धैर्यशाली स्थितियाँ उत्तरदायी नहीं हैं।

शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत एक बुख की दो शाखाएँ हैं, न कि तुम्हें न कि पहली और दूसरी भवित। संगीत की ये दोनों विकास-दिशाएँ स्वतंत्र हैं तथा दोनों ही प्रीति संगीत हीनियों के दो विकासित स्वरूप हैं। शास्त्रीय संगीत के प्रेरणास्रोत अतिक और शास्त्र हैं, तथा शास्त्र के नियमों में दोनों हुआ शास्त्रीय संगीत स्वतंत्रतापूर्वक विचरने का अधिकारी नहीं है। लोकसंगीत का प्रेरणा-स्रोत जनमानस है। उसका विकास और संचरण-क्षेत्र अधिक विस्तृत है। शास्त्रीय संगीत के प्रयोग और परीक्षण के लिये शास्त्रज्ञान की आवश्यकता है तथा विजिष्ट अभ्यासक्रम से शुरूरने की ज़रूरत है, परन्तु लोकसंगीत के प्रयोग के लिये किसी अभ्यास तथा ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रीय संगीत वैयक्तिक साधना का प्रतीक है तो लोकसंगीत सामुदायिक साधना का।

शास्त्रीय संगीत में लोकसंगीत से जो प्राप्त लिया है वह कल्पनातीत है। अनादिकाल से मारतवर्ष में संगीत-शास्त्रों की चर्चा है। संगीत रचनाएँ जब ग्रीष्मकाल को प्राप्त होती हैं तभी उन पर शास्त्र बनते हैं। पहले रचनाएँ होती हैं, उनमें अनेक वाइ-विवाद, प्रकार, उप-प्रकार, छिया-प्रक्रियाएँ चलती हैं तब शास्त्रों का आधार लिया जाता है। उच्छृंखल रचनाओं को नियंत्रित करने के लिये शास्त्र दिशा-निर्देश करता है। प्रारम्भ में शास्त्र सदृश, सुगम तथा संक्षिप्त होता है। बाद में रचनाक्रम के विस्तार के साथ वह भी वैचाल्य होने लगता है। अनेक नियम, उपनियम, आरा, उपधाराओं को सूचित होती है। वह प्रारम्भिक संगीत-शास्त्र कैसा रहा होगा, इसकी कल्पना सामवेद की रचनाओं से को जा सकती है। सामवेद में राग-यागनियों की बारीकियों का समावेश

नहीं है। उसके बाद के सभी शास्त्र विलष्ट तथा पेचोदा होते गये हैं। भरत मुनि का नारव-शास्त्र, जो यज्ञम वेद के नाम से प्रचलित हुआ, सामवेद से अधिक जटिल है। उसके बाद रखे हुए "संगीत-रत्नाकर" शादि शास्त्रीय संबंध जटिलतर बनते गये। प्रारम्भिक शास्त्रों में रचना और शास्त्र दोनों ही समकक्ष तथा समानांगतर होते गये हैं। कभी-कभी तो रचना स्वर्ण ही शास्त्र बन गई है और शास्त्र ही रचना बन गया है। यही कारण है कि उस समय के शाहिष्य, संगीत तथा नाट्य के शास्त्र अलग-अलग नहीं थे। एक ही शास्त्र सबके लिये प्रयुक्त होता था। उनके अलग-अलग प्रस्तित्व की कल्पना कठिन थी। परन्तु जानें: उनका यह सामंजस्य कम होता गया और संगीत का अपना अलग शास्त्र प्रस्तित्व में आया। उसके लोक और शास्त्रीय दोनों ही पक्ष अलग हो गये। ऐसी स्थिति में शास्त्रीय संगीत को अपने मूल प्रेरणा-स्रोत लोकसंगीत से बहुत कुछ सीखना पड़ा। वहाँ जब उन दोनों का संयुक्त प्रस्तित्व था, तब उनकी रागे स्वभावतः रचनिता के भाव-अनुभावों के साथ चुल्लीमिली थीं। उस समय जो गीत जनता थे प्रचलित थे, वे सरल, सरस तथा मावात्मक रूप में संचरित होते थे। वे उत्तम, समारोह, हर्ष, उन्नास के समय सामूहिक रूप से गहीं गाये जाते थे। पार्मिक पर्वों, पूजा, यज्ञ तथा हवनों में विशिष्ट सिद्धान्त के अनुसार अनित तथा श्वास-प्रश्वास के उत्तार-बहाव के साथ जो गीत गाये जाते थे, वे विशेष प्रकार के थीं। उनकी मायन-विधि विशिष्ट नियमों में वेदी थीं। संगीत में ये ही दो प्रारम्भिक भेद थे। प्रथम जीवी के संगीत में स्वतंत्र तथा सामूहिक अभिष्यक्ति के रूप में भावन की उन्मुक्त मावनाएँ स्वरों और शब्दों के रूप में गुप्तकर मुलारित हुई थीं। उस समय ये दोनों ही पक्ष स्पष्ट थे, जो बाद में ऐसा जान रहता है, एक तो लोकसंगीत के रूप में और दूसरा शास्त्रीय संगीत के रूप में विकसित हुआ। यह कम सहजों वर्ष तक चलता रहा। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र-पक्ष संगीत के विकास और प्रचलन के साथ प्रचलित होता गया तथा लोकसंगीत से उसे शाश्वत प्रेरणा मिलती रही।

उधर लोकसंगीत भी मनुष्य की मावात्मक अभिष्यक्ति के रूप में जन-मानस में विराजता गया और सतत संचरण और प्रयोग से विशिष्ट और मुख्यविनियत स्वर-वारा के रूप में प्रस्फुटित हुआ। विशेषज्ञों ने इन स्वर-रचनाओं का विवेचण किया। प्रेमक गीतों के पर्याप्तता से उन्हें स्वामानिक स्वर-रचना के प्रलेक ऐसे सार्वक लग्न का पता लगा, जो विशिष्ट मावात्मक स्थितियों में मनुष्य की विशिष्ट सौरकृतिक पृष्ठगुम्बिम् के बाधार पर जुहते मिलते हैं। उन्हें विशिष्ट रागों की संज्ञा दी गई और यह निश्चित किया गया कि

शमुक-शमुक स्वरों के चयन से एक विशेष प्रकार की धुन का जग्म होता है। इन्हीं धुनों का नामकरण किया गया और उनका एक विशिष्ट शास्त्र शीरें-बीरे विकसित हुआ। उन धुनों का विशेषण पंडितों ने अपने-अपने दंग से किया, कई निष्ठाये निकले, कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचे तथा राग-रागिनियों का नामकरण हुआ। उसके बाद अनेक विद्वानों ने स्वतंत्र परीक्षण व प्रयोग में किये तथा नवीन राग रागिनियों की सृष्टि भी हुई। लोकगीतों के स्वर-चयन में शास्त्रीय राग-निधारण न पहले ही था और न आज ही है। उनमें केवल रागों का आभास मात्र रहता है। उसी आभास के आधार पर शास्त्रीय संगीत का विस्तार-पथ सक्रिय होता है और फूल स्वर-चयन को स्वर-विस्तार के समय बादी, संबादी, विवादी, आरोही, अवरोही आदि के जैसे नियमों में व्याख्यकर शास्त्रकारों ने उन्हें विशिष्ट विद्वां द्वारा तथा उन्हें रागों के ऐसे में वर्णित किया। इस तरह अनेक लोकसंगीतों के परीक्षण से यह भली भांति जात होता है कि उनकी स्वर-रचनाओं में स्वर-चयन किसी रागात्मक तथा भावात्मक वृत्ति के आधार पर ही होता है तथा उनका बोज रूप यह निश्चय ही शास्त्रीय रागों में निहित है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक लोकसंगीत का स्वर-चयन एक ही राग का ढोतक हो। रचनाकारों की मानसिक प्रवस्था के अनुसार अनेक रागों के आभास भी उसमें परिवर्तित होते हैं, जो कि धारा भी विशेषज्ञों के अध्यायन के लिए बहुत ही दिलचस्प विषय बने हुए हैं। इन सब परिणामों से यही निष्ठाये निकलता है कि शास्त्रीय संगीत की मूल रागों को जननी लोकसंगीत ही है, तथा उसी के आधार पर शास्त्रीय संगीत की राग रागिनियों का महान् भवन अवश्यित है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण भाव की ओर संकेत करता भी परम आवश्यक है। जिस तरह शास्त्रीय संगीत का प्रेरक लोकसंगीत है, उस तरह लोकसंगीत का प्रेरक शास्त्रीय संगीत नहीं है। शास्त्रीय संगीत यदि लोकसंगीत की ओर आमुल होता है तो उसकी लोकप्रियता बढ़ती है, उसका आवपद सज्जीव और रसमय बनता है; परन्तु यदि लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत की ओर झुकता है तो शास्त्र के बोझ से वह अपने गुणों को खो बैठता है। यह स्थिति तब आती है जब शास्त्रीय संगीतकार लोकगीतों का प्रयोग करते लगता है और शास्त्रीय जैसी से गाकर उनका स्वरूप बदल देता है। यह प्रवृत्ति आज सबत्र हास्टिगत होती है। विशेषकर राजस्थान में, जहाँ लोकगीत गानेवाली अनेक व्यावसायिक जातियाँ बहुत ही हैं, जो उन्हें शास्त्रीय संगीत की ओर ढकेल रही हैं। इस सम्बोध से जहाँ लोकसंगीत की मूल प्रकृति को छलि पहुँची है, वहाँ उसमें कुछ

अत्यंत आकर्षक और मनोरम लोकसंगीतों की भी उपलब्धि हुई है। उनमें राजस्थान की माँडे तथा लावणियाँ, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा बंगाल के जावामीत सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

### लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत की सञ्चिकटता

समाज के बौद्धिक और भावात्मक तत्व जब निकट आने लगते हैं और दोनों सामंजस्यपूर्ण स्थिति में होते हैं, तब संगीत का स्तर भी ऊपर उठने लगता है। उन्नत समाज के गीतों में स्वर-शब्द की प्रीड़ता, उनके सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा मानवात्मक स्तर के अनुरूप ही होती है। उनमें इवरों का रचना-बयन मुसंगठित, प्राजल तथा मनोरम होता है। अतः मह कथन यत प्रतिशत सत्य है कि लोकगीत ही समाज के मानस का सच्चा चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसी सिद्धांत के अनुसार जिस समाज के सांस्कृतिक तथा बौद्धिक स्तर में विषमता कम होती है तब जनसाधारण का भावात्मक स्तर ऊँचा होता है उसका लोकसंगीत तथा शास्त्रीय संगीत निकट आने लगता है तथा जनसाधारण के लिये शास्त्रीय संगीत का समझना चुग्म होता है। ऐसी स्थिति में संगीत के ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से प्रेरणा घरण करने लगते हैं। यह स्थिति दक्षिण भारत में भाज भी विशेष रूप से परिलिपित होती है। वहाँ के लोक और शास्त्रीय संगीत में इतनी विषमता भाज भी नहीं है, जितनी उत्तर भारत के लोक और शास्त्रीय संगीत में है। इसी तरह यूरोप के उन्नत देशों के संगीत की लोक और शास्त्रीय भौमियों में उतना भंतर नहीं है, जितना हमारे देश में है। उत्तर भारत में तो यह विषमता चरम सीमा तक पहुँच गई है। यही कारण है कि शास्त्रीय संगीत जन-साधारण से इतना दूर है और विभिन्न समाज लोकसंगीत से कतराता है। सामाजिक स्तर की समता की स्थिति में लोकसंगीत का स्तर ऊपर उठता है और शास्त्रीय संगीत शास्त्र की बटिल-ताओं की छोड़कर भाव-व्यंध को घरण करता है। यह सिद्धांत एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है। जिस समाज का शास्त्रीय संगीत शास्त्र की बटिलताओं में बैधा रुकर भाव-पक्ष की घबड़लना करता है सउका सांस्कृतिक विद्वान निश्चय ही विषमताओं से भरा हुआ होता है। यह चित्रण स्थिति सामाजिक विषमताओं के साथ ही उत्पन्न होती है, जबकि संगीत के कुछ भावावं प्रणो भासना जो चरम सीमा पर पहुँचने की योक्तामा में जमाज की घबड़लना करने लगते हैं। समाज की सांस्कृतिक समता की स्थिति में यह कम उत्तरा हो जाता है।

## वया लोकसंगीत का कोई अलिखित शास्त्र है ?

शास्त्र-संगीत संगीत ही शास्त्रीय संगीत है और लोकसंगीत का कोई लिखित शास्त्र नहीं है, यह सर्वमान्य बात है। शास्त्र का निरूपण तथा शास्त्र की मृष्टि करने तथा किसी रचना को शास्त्रीय बनाने का काम पड़ितों का है। लोकसंगीत का यदि कोई शास्त्र होता तो वह शास्त्रीय संगीत ही कहनाता, परन्तु उसका शास्त्र नहीं होते हुए भी उसकी घटनी कुछ परम्पराएँ हैं, जिनमें उसे विचरना तथा जिनको मर्यादाओं में रहना पड़ता है। यह एक प्रकार से उसका शास्त्र ही है। इन मर्यादाओं से यदि लोकसंगीत मुक्त हुआ तो निश्चय ही वह घपने दें से यिर जायेगा। ये परम्पराएँ समाज द्वारा यी हुई उसकी शास्त्र परम्पराएँ हैं, किसी व्यक्ति-विशेष की देन नहीं। लोकसंगीत की ये परोक्ष परम्पराएँ अलिखित होते हुए भी संविदित हैं, जिनका अनुशोधन धनादिकाल से हो रहा है। उनको रूपरेखा इस प्रकार है :-

( १ ) लोकसंगीत का स्वर-पक्ष शास्त्रीय संगीत के स्वर-विज्ञान से सांसित नहीं होता। वह दीर्घकाल से संचारित होनेवाले किसी विशिष्ट स्वर-चयन का विकसित और सर्व लोकप्रिय रूप है, जो जन-मानस को समान रूप से आनंदोन्नित करता है।

( २ ) लोकसंगीत के स्वर किसी जाने माने विभि-विधान के अनुसार नहीं मिलाये जाते। वे जन-मानस की अनुभूतियों से ग्रोत-ग्रोत होते हैं तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर घपने आप मिलते हैं।

( ३ ) लोकसंगीत के स्वर-चयन तथा उसकी संचार-योजना में किसी प्रकार का परिवर्तन उसके प्रवाह में भातक सिद्ध होता है।

( ४ ) लोकसंगीत की स्वर-लहरियाँ जब धौतीत को छूकर लम्बे भविष्य को ओर घपसर होती हैं तथा काल, स्थान एवं समय को समस्त मर्यादाओं से क्षयर उठकर दीर्घकीय हो जाती है।

( ५ ) लोकसंगीत के पीछे समाज का भावात्मक संबंध होता है। उस पर किसी प्रकार का आधार सीधे समाज पर आधार होता है।

( ६ ) लोकसंगीत के पीछे घवसरों का महस्त विशेष होता है, समय का नहीं। वह किसी भी समय गाया जा सकता है, परन्तु विशिष्ट घवसरों के साथ वह भावात्मक संबंध में जुड़ा रहता है। शास्त्रीय संगीत जिस तरह सभ्य के साथ बंधा रहता है, उसी तरह लोकसंगीत बहुधा घवसरों के साथ जुड़ा रहता है।

(७) शास्त्रीय संगीत के विवादी स्वरों की तरह ही लोकसंगीत के विवादी स्वर के होते हैं, जो ऊपर से उन पर थोप दिये जाते हैं। लोकसंगीत में नियत स्वर-संवेदन के ग्रालादा अन्य किसी प्रकार की स्वतंत्रता की मुंजाइश नहीं है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन विवादी स्वर ही का काम करता है।

(८) लोकसंगीत के बब्ड स्वरों की तरह ही जकड़े रहते हैं। जिस तरह स्वरों की दृष्टि से उनमें कोई आजादी नहीं चल सकती, उसी तरह शब्दों में भी कोई हेरेकर संभव नहीं होता। उनमें किसी भी प्रकार का जोड़तोड़ विवादी स्वर की तरह ही बर्ख है।

(९) शास्त्रीय संगीत की नियत नोड मुँहनाथों की तरह ही लोकसंगीत में भी अपने विशिष्ट लहजे होते हैं, जो स्वरों के संचार में प्रयुक्त होते हैं। इन लहजों का लोग लोकसंगीतों के शास्त्र का जबदेस्त उल्लेखन समझा जाता है।

(१०) शास्त्रीय संगीत की तरह ही लोकसंगीत के स्वरों का अपना विशिष्ट धूमाव-फिराव होता है, जिसका प्रतिपालन नितान्त आवश्यक है।

(११) लोकसंगीत में उसके विशिष्ट स्वर-चयन के अनुसार उसकी गुण, भटके तथा लटके होते हैं, जिसका निमाव अत्यंत आवश्यक है।

(१२) लोकसंगीत का प्रत्येक भीत ही उसकी एकमात्र इकाई है, जबकि शास्त्रीय संगीत की इकाई ही उसकी राग तथा उसका स्वरूप। विशिष्ट लोकसंगीत अपनी विशिष्ट स्वर-रचना का धनी है और वही उसकी राम है। शास्त्रीय संगीत में राग के अनुसार अनेक भीतों की रचना होती है, परन्तु लोकसंगीत में लोकसंगीत स्वरमें इकाई है, उसकी देलादेली कोई अन्य रचना लोकसंगीत के परिचार में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

(१३) लोकसंगीत में भी शास्त्रीय संगीत के वरानों की तरह ही आतिथत गायकी की छाप रहती है, जो उस गीत-विशेष को विशेषता प्रदान करती है तथा उसका व्यक्तित्व बनाती है।

(१४) जिस तरह शास्त्रीय संगीत की धूपद गायकी में प्रीवता, ब्याल यैंगों में कल्पना की उडान तथा ठुमरी टप्पा में व्यपतता होती है, उसी तरह लोकसंगीत की भजन-कोरेंग की गायकी में प्रीवता, देवी-देवताओं के घोतों में मंभोरता, पारिवारिक गीतों में शू'मारिकता तथा भाद्रकला होती है।

(१५) लोकसंगीत की लय में सरलता तथा एकक्षयता होती है और उसकी विशिष्ट स्वर-रचना के अनुसार विशिष्ट जगह ताल का मान (सम)

रहता है। तालों में भी ग्राम्यों तथा लाली भरी की प्रधानता नहीं रहकर तय के समत्वार की ओर विशेष ध्यान रहता है। लय का यह जक्क गिनतियों में अवश्य बैठा रहता है, परन्तु लय की पेचोदगियों को वह मार्गता नहीं देता।

(१६) लोकसंगीत में लय की प्रधानता रहती है। लय-प्रधान भीत ही सोकप्रिय होते हैं। तय की वक्ता उनकी व्यंजनात्मक शक्ति को नष्ट कर देती है।

(१७) शास्त्रीय संगीत में जिस तरह स्वर-समूह के स्वरूप में प्रत्येक राग की पकड़ होती है, उसी तरह लोकसंगीत में भी प्रत्येक गीत के विशिष्ट लहजे, गृज, आलाप तथा मुरकियों होती हैं, जो इन गीतों की पकड़ ही के समान हैं। ये पकड़ लोकसंगीत में गीत सापेद्ध होती हैं और शास्त्रीय संगीत में राग सापेद्ध। एक राग के अनेक गीत होते हैं, परन्तु प्रत्येक गीत की आलग पकड़ होना आवश्यक नहीं है। वह पकड़ इन गीतों की रागों के स्वर-विस्तार में निहित रहती है, जबकि सोकसंगीत में ये पकड़ गीतों की स्वर-रचना ही में निहित रहती हैं।

(१८) सोकसंगीत में यही आलाप-पद्धति प्रधान रहता है तथा कहीं तान-पद्धति। ये ग्राम्यों तथा ताने शास्त्रीय संगीत की स्वतंत्र आलाप तानों की तरह नहीं होती, वे बोल तान की तरह होती हैं, जो गीतों की रचना ही में पूर्व निर्धारित रहती है। शास्त्रीय गीत की गायकी की तरह गायक उनमें किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं ले सकता।

(१९) लोकसंगीत में शास्त्रीय गीतों की तरह स्वर-विस्तार नहीं होता, न उन्हें आलाप तान तथा बोल तानों से अलंकृत किया जाता है। उन्हें इस तरह अलंकृत बनाने की कोई प्रयत्नी नहीं है। उनका अलंकार गायक की रसभीनो आवाज तथा प्रभावोलापकता ही है।

लोकसंगीत की परम्पराएँ शास्त्र की तरह ही मानव समझी जाती हैं। कुछ हद तक उनका पालन शास्त्रीय संगीत की मध्यांदा-यालन से भी अधिक कठोर है। ये मध्यांदा तथा परम्पराएँ ग्राम्यों तथा शास्त्रकारों ने नहीं बोयी हैं, बरन् समाज ने स्वयं घासने लग लगाई है, जिससे लोकसंगीत का अवाल सोन्दर्य अझुआ बना रहे। लोकसंगीत की रचनाएँ इसी कारण सहृत दड़े क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्वरूप बनाये रखने में समर्थ रहती हैं, जबकि शास्त्रीय संगीत की रचनाएँ अपने अल्पिगत प्रयोक्ताओं द्वारा परिवर्तित होती रहती हैं और प्रत्येक गायक राग-पद्धति को अझुआ रखते हुए भी उसकी रचना

में काफी शास्त्रीय ले लेता है। जास्त्रीय संगीत को शास्त्र के वंशन में रहना पड़ता है। यह शास्त्र सतत उपयोग, अध्ययन, अनुभव तथा वैज्ञानिक शोध के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है, उसी तरह लोकसंगीत का शास्त्र अलिङ्गित होते हुए भी उतना ही अनुभवसंगत और वैज्ञानिक है, जो परम्परा से हमें प्राप्त हुआ है।

### लोकगीतों का ध्वनि-पद्धति

लोकगीतों के स्वर-पद्धति को तरह ही उसका ध्वनि-पद्धति भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह इतना गूढ़म और गहन पद्धति है, जो बहुधा सामान्य जन की समझ से बाहर होता है। इन गीतों की विदिओं तथा धुनों में साम्य होते हुए भी उनकी गायकी में एक विशेषता होती है, जो गायक के गले में निहित रहती है, गीत को स्वर-रचना में नहीं। लोकगायकों जा यह ध्वनि-पद्धति, गीतों की विदिव तथा स्वर-रचना से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। लोकगीत वास्तव में लोकगायक के गले पर ही कबता है, घन्य गायक चाहे कितनी ही चतुराई से उसकी वास्तविक धुन ही में क्यों न गाये, वह बात उसमें पैदा हो ही नहीं सकती। यह विशेषता लोकगीत-गायकों को अम्बास से प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि जब लोकगीत किसी लोकपक्ष-विदीन के ठंड पर उतरता है तो उसकी ध्वनियत विशेषता समाप्त हो जाती है। यह विशेषता गीत की राम, तान, आलाप तथा स्वरों के तोड़मरोड़ में निहित नहीं रहती है। गायक के कठ में कितना ही मिठास या लालित्य क्यों न हो, वह संगीत विद्या में कितना ही पारंगत क्यों न हो, वह इस तूबी को प्रकट कर ही नहीं सकता। उदाहरण के तौर पर आज सोकगीतों के धनेक प्रेमी अपने देश में विद्यमान हैं। जे उनका संकलन, अध्ययन तथा अम्बास भी करते हैं, परन्तु उनके मकालोपन का पता लगाना कठिन नहीं है। रेडियो पर उनका प्रयोग करते वाले तथा लोकिया इंग से धनेक सांस्कृतिक समारोहों में गायक इन लोकगीतों को मिठास अवश्य लेना कर देते हैं, परन्तु उनकी स्वाभाविक परिचालन-विधि को प्रकट नहीं कर सकते।

इस संबंध में उदाहरण के क्षण में एक विशेष बात की तरफ पाठकों का ध्यान धार्कित करना चाहिये। लोकगीत गायकों तथा ध्वनि-पद्धति को हाइ से बंगाल के गीतों में एक ऐसी विशेषता है, जो अन्य गीतों में नहीं है। गायक प्रत्येक गीत को गाते समय हृदयस्थानी स्वर-पंचन-तत्त्व को प्रधानता देता है, जिससे गीत भावोंदेक की हाइ से प्रत्येक शोता को ममांहृत कर देता

है । वही गीत उसी धून में कोई धर्मगाली व्यक्ति गावे तो उसकी प्रदायगी में वह भावप्रबरणता का अभाव सर्वोच्चिक लाटकने वाला होगा । इसी तरह पंजाबी गीतों की गायकी में स्वरों को सशक्त बनाकर तथा उन्हें भटका देकर गाने की प्रधानता रहती है । प्रत्येक पंजाबी गायक अपने लोकगीत को इसी सशक्त प्रणाली से गाता है । महाराष्ट्र के लोकगीत-गायकों में स्वर की ठोस गंभीरता को अक्ष करने की चेष्टा रहती है । राजस्थानी गायकों में पंजाब, महाराष्ट्र की मिसीजुली गायन-विधि विद्यमान है । दक्षिण भारत, आन्ध्र, तंजीर तथा कर्नाटक के गीतगायकों में स्वर को विभिन्न प्रकार से मोड़ देकर गाने की प्रणाली है, जिससे स्वर के साथ ही जो मुरक्कियाँ भटके से ली जाती हैं, उनमें स्वर के तत्त्विक विकृत पक्ष को छूने की प्रवृत्ति रहती है । लोकगीत गायकों की प्रदायगी संबंधी ये विशिष्ट तत्त्व ही उन्हें खेतीय विशेषताओं में वर्गिते हैं ।

इन खेतीय विशेषताओं से कहीं ऊपर एक दूसरी प्रवृत्ति और है जो गायक को सपनों परम्परा से प्राप्त होती है और जिसका संबंध उसके स्वरोच्चार से रहता है । गीतों के स्वर और शब्द तो गाते समय सपनों स्थानाविकता ही में व्यक्त होते हैं, परन्तु उनका उच्चारण एक विशेष सूची रखता है, जो विशिष्ट गीती के लोकगायकों में विद्यमान रहता है । स्वरोच्चार के इन गीतीय तर्फों को विश्व की किसी जैवानिक स्वरनिपि में नहीं लिखा जा सकता, न इनका कोई बौद्धिक विवेचन, विश्लेषण तथा प्रदर्शन ही हो सकता है । लेखन छवनि-संकलन यंत्र द्वारा ही ये छवनि-संकलित हो सकते हैं ।

इस तथ्य को समझे जिस ही बहुधा धर्मप्रशाकादी गायक लोकगीतों को, जहाँ वे उल्लृष्ट डंग से ही कर्मों न गाते हों, धर्मज्ञान में सुधार गीत की गीती प्रदान कर देते हैं । ये लोकगीत जब सपनों स्थेतीय या जातीय विशेषताओं के साथ मूल लोकगायकों के कठं पर उत्तरते हैं तब तो ये लोकगीत रहते हैं और जब ये विदरीत कठों पर प्रयुक्त होते हैं तो ये धर्मना स्वरूप ही बदल देते हैं । मह तत्त्व क्यावशास्त्रिक लोकगीतों में अपना विशेष महत्व धारण करता है । राजस्थान की गीती तथा मिरासी जातियों को ही लीजिये । उनकी स्त्रियों लोकगीत गाने में प्रवीण समझी जाती है । इनकी एक विशिष्ट आवाज होती है जो लालों में पहिचानी जा सकती है । बंगाली, गायिकाओं की तरह इनमें स्वर-क्षमता तथा धारण-प्रकणता सेशमान भी नहीं होती । ये सीधे तथा सशक्त तरीके से स्वरों में मिठास भरती हुई जाती जलती हैं । गीतों के भावाखंड से

उनका कोई सरोकार नहीं रहता । वे भीत की स्वर-रचना का पूर्ण आनन्द लेती हुई उसके सौन्दर्य को निखारती है । अवनि-विस्तारक यंत्र की उन्हें आवश्यकता नहीं होती । उनके मशक्त स्वर-तत्त्व नमे कानों से आसानी से मुने जा सकते हैं । इन डोलिनियों पौर मिरासिनियों की गायकी में भीतों का लोकपद कूट-कूटकर भरा है । ये गायिकाएँ वे ही भीत भाती हैं, जो साधारणतः सभी बगह गाये जाते हैं । उनको स्वर-शब्द-रचना मी प्राप्त वही रहती है, परन्तु इन गायिकाओं के कठ पर उतरते ही ये भीत एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं, जो इनकी गायकी के विशिष्ट शैलीयत तत्त्वों में निहित रहते हैं । ये ही भीत जब साधारण बन द्वारा गाये जाते हैं तो ऐसा लगता है कि उनके स्वरों के विशिष्ट कोने घिस गये हैं तथा स्वर-रचना की भौतिक बारीकियाँ सुन्प होकर रचना का केवल मोटा-मोटा ढाँचा थोड़ रह गया है । उक्त विशिष्ट अवसाधिक गायिकाओं के कठ पर ये भीत न केवल शैलीयत तत्त्वों को प्राप्त-सात करते हैं, बल्कि भौतिक स्वर-रचना की सूक्ष्म व्यंजनाओं को भी उनके चरम सौन्दर्य तक पहुँचा देते हैं ।

यही विशेषता लोकनाट्य-गायकों में पाई जाती है । परम्परागत लोकगीतों मी गायकी का सही प्रतिपादन करनेवाले ये ही परम्परावादी लोकनाट्य-गायक हैं जिनके ऊपर स्वरों में फिरनेवाले यन्मों द्वारा आवाज़ कोकते हैं । बोकन के दैनिक प्रयोग में, ऐसा प्रतीत होता है कि, इनका यह रंगमंचीय गता मुशुप्त और साधारण बोकनालों गता सकिय रहता है । व्यावहारिक बोकनाल में कोई यह अदाव नहीं लगा सकता कि रंगमंच पर उत्तरकर उनके ये कठे तथा भोड़े यन्मों तीव्रतम होकर स्वरों की गंगा बहावें । इनके ये उत्तरकर उनके गते धार पर जड़ जाते हैं और जैसे-जैसे नाटक की रंगत बढ़ती जाती है, उनके यन्मों भी तीर को तरह थोताओं के मानस पटल पर झुमते जाते हैं । कभी-कभी सो उनकी संगत करनेवाले साड़ियों को भी अपनी असमर्थता प्रकट करनी पड़ती है क्योंकि जिन स्वरों पर उनके यन्मों फिरने लगते हैं उनको बहन करने की सामर्थ्य उनके ताठों में नहीं होती । जैसे-जैसे रात बीतती जाती है, प्रदर्शक और दर्शक नाटक की उत्तरांगीय सीमा को पार करने लगते हैं । ये स्वर भी अपनी चरम सीमा को छूकर साव और साड़ियों पर जा जाते हैं । इस विमोरावस्था में साव हाथों से कब छूट जाते हैं, स्वर्य बालकारों को भी पता नहीं रहता । योंतों की चंगा बहतो ही रहती है, गायक गता हो जलता है, थोता झूमते ही रहते हैं और ऐसा रसरंजित बनावरस्य बन जाता है कि जैसे जिन बबाये ही साम बज रहे हैं ।

नाटक के अवसान के साथ साथ पुनः बदलने लगते हैं, यहें फिर से चल पड़ते हैं और नाटक की आरती होते-होते गायकों के मले अपनी प्रारम्भिक घबरथा को प्राप्त करने लगते हैं। नाटक समाप्त हो जाता है, गायकों के गले ठड़े पड़ जाते हैं और सुबह होते-होते वे 'पूटे' छोल की तरह बोलने लगते हैं। दिन में इन गायकों से बोला भी नहीं जाता, इशारों से बातें करनी पड़ती हैं। पुनः जाम होते-होते वे आर पर बढ़ने लगते हैं और पुनः रंगमंच पर चढ़ते-चढ़ते उनमें तेजों आने लगती है।

इस विशिष्ट प्रकार की गायकों तथा गले के इस विशिष्ट तत्व में संशाद बहन करने तथा अभिनय को उत्तेजित करने की अद्वितीय जटिल होती है। इनमें एक विशिष्ट लहजा होता है जो गरीबी की अभिनय मुद्राओं को सुस्पष्ट तथा विशिष्ट जाम-मुद्राओं को सृष्टि करता है। यही कारण है कि भाव-अभिनेता एक विशिष्ट अवक्ता होता है जो अभिनय भी करता है और स्वयं गाता भी है। लोकनाट्यों में पृष्ठ-गायकों को कोई स्थाम नहीं है। यह अपनी गौली का सफल गायक है। अन्य गीत उसके श्ले पर कहते ही नहीं हैं। यह गायकी की गौलीगत विजेता उसे परम्परा और मिल के रंगमंचीय अवधार में प्राप्त हुई है।

ऐसी हो अवनिमत विजेता याचक गीतकारों में भी होती है। ये गीतकार भी बंशानुक्रम से गीतकार हैं। अपने यजमानों के यही गाकर ही वे अपनी आजौंचिका उपायेन करते हैं। इनकी यावाजों में एक विचित्र सा मञ्जकीलापन होता है जो स्वरों को चबाने तथा उन्हें विचित्र प्रकार का धूमाव देने में निहित रहता है। वे सर्वविदित और सर्वप्रयुक्त गीतों ही में एक प्रकार की विजेता प्रकट करते हैं। ये याचक जब अपने यजमानों की क्षोड़ी पर माँगने जाते हैं तो साधारणतः यजमानों को उनके प्रति अवहेलना की हृष्टि रहती है। उनकी आंतरिक भेटा यही रहती है कि वे याचक उनसे बिना कुछ पाये ही उनकी आजौंची से हट जावें। याचक अपने बाताओं की इस प्रवृत्ति को सूब समझता है, यहाँ उन्हें अपने प्रचलित गीतों की शुनों में ऐसी अवनिमत हरकतें पैदा करनी पड़ती है जो यजमान का ज्ञान उनकी और आकर्षित कर सके। वे गीतों की प्रचलित बन्दिशों में रहते हुए भी स्वरों में एक प्रकार का खिलाव, किलकारीमुक्त विकार तथा नाचिकी प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो गीतों में मनोरंजनकारी अस्तित्व पैदा करते हैं और उनका मनोरंजन पूरा होता है।

'यही मुक्त धूम-धूमकर बेलनेवाले गायक भी' काम में लेते हैं। ये लोग जूरां, दैनिक घरेलू दवाइयों, दैनिक उपयोग की सामग्री, बच्चों के लिये छटपटी

भीजे, लिलौने यादि बेचनेवाले पुम्पकङ्क यापारी होते हैं जो अपने व्यवसाय संबंधी गीत-परम्परा से गाते चलते हैं। विशिष्ट विक्रय संबंधी सामग्री के साथ परम्परा से जुड़े हुए ये गीत अत्यंत लोकप्रिय गीत होते हैं और दूर से ही उन्हें सुनकर वह पता लगाना कठिन नहीं होता कि कौनसी सामग्री बिकने के लिये याइ है। अपने प्राहृकों का ध्यान आकर्षित करने के लिये ये अपने गीतों में इतना अद्भुत मोड़ देते हैं कि धनायास ही लोग उनकी तरफ लिजे जले भ्राते हैं। इन विकेताओं को प्रायः गद का उपयोग करना ही नहीं पड़ता। इनके गीत स्वयं में अर्थ और स्वरों के वैचित्र्य की हास्त्री से परिपक्व होते हैं।

मेहनत के साथ जो गीत जुड़े हुए हैं, उनमें भी एक व्यनिगत विशेषता रहती है। ये बहुधा वे ही प्रतिलिपि गीत होते हैं जो विशिष्ट प्रसंगों पर गाये जाते हैं, परन्तु व्यक्ति के विशिष्ट प्रकारों की शारीरिक दृष्टिकोणों के साथ उनके स्वरों में भी एक विशिष्ट हरकत पैदा होती है। मण्डक कुटनेवाले, छत दबाने वाले तथा बजन उठाकर दोनेवाले लोग अपनी धमायाइ भकान को दूर करने के लिये गीत गाते हैं। अम के विशिष्ट घरों पर वे अपने गीत की भूत और स्वयं में भी विशिष्ट घरों लगाते चलते हैं।

उन् वालों पर गानेवाले पुम्पकङ्क यायकों में भी व्यनिगत एक ऐसी विशेषता रहती है जो उन्हें निरंतर अवश्यक और परम्परा से प्राप्त होती है। ये अपनी यावालों की वालों से स्कूरित होनेवाली भंकार के धनुरुप ही बना लेते हैं, बैसे—सारंगी, कमाचा तथा रावणहृत्या पर गानेवाला अपने गीत को धकाने ही इस तरह प्रियता है कि उसकी स्वयं की आवाज भी तारों की तरह ही छिसने लगती है। तालवाण के साथ गानेवाले यायक की आवाज निरंतर अवश्यक के कारण याय की तरह दुमक-दुमक जारी रहती है। उसमें एक विशिष्ट सी गुंज गुंजती रहती है। चुटकवाण पर गानेवाले यायक के स्वरों में दुकड़े-दुकड़े करके भूत निकलती है और स्वर चुटकियाँ भरने लगते हैं। यावालों के साथ गानेवाले यायक की आवाज लम्बी-लम्बी लिखती है। उसमें तारों की भी भंकार निकलती रहती है।

घटिलय मेहनत के साथ नृत्य करते हुए आवायागिक नसेक की आवाज में भी एक विशेषता रहती है। उसका यता भर्दाया हुआ तथा आवाज अत्यंत दुर्बल रहती है। लोकवाण्य-गीत-यायकों की तरह उसकी आवाज नाथ की अभिधुदि के साथ तेजी से नहीं याती, न उसमें कोई निकार उत्पन्न होता है। बैसे-बैसे उसका नृत्य बुलंदी पर आता जाता है बैसे-बैसे उसकी आवाज

बैठती जाती है तथा उसमें भौवापन आजाता है । परन्तु ऐसे नृत्य-प्रदर्शनों में, नृत्यों की प्रधानता होने के कारण, गीत की दुर्बलता पर कोई ध्यान नहीं देता, परन्तु यदि नाट्य-प्रदर्शन में नाचते समय गीत दुर्बल होता है तो वह भावक की सबसे बड़ी कमज़ोरी समझी जाती है । क्योंकि इन नाट्यों में नाट्य-नृत्य से भी अधिक गीतों की प्रधानता रहती है । यही कारण है कि नाट्य-प्रभिन्नेतार्यों की यह विशेषता एक बहुत बड़ा वरदान समझी जाती है । तीव्रतम् नृत्य के साथ गीत गानेवाले नर्तक गायन में पारंगत होते हुए भी कभी-कभी लेसुरे गाने लगते हैं, फिर भी उनके नृत्य-चातुर्य के कारण वह बेमुरापन भी सबको सहा हो जाता है ।

विशेषर लोकगायकों की कुछ जातियाँ ऐसी भी होती हैं जिनकी आवाजें संस्कारकृत ही पहली, भोजी तथा सुरीली होती हैं । उन्हें अपनी आवाजों को तैयार करने की आवश्यकता नहीं रहती । वे जन्म से ही गाने लगते हैं तथा उनके गते स्वभाव से ही सुरीले होते हैं । कुछ जातियाँ ऐसी होती हैं जिनका स्वर-संबंधरण लारज के स्वरों में अच्छा होता है, टीप के स्वरों में प्रभावजाती नहीं होता । उनकी आवाज का लारज पश्च अत्यंत सशक्त, सुरीला और गमीर होता है । उनका अध्ययन भी टीप पर गाने हुए गीतों की तरह ही प्रभावजाती होता है । इन जातियों में यादिन जातियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं । राजस्थान की कंजर, सासी कालवेतिया, भोपाल तथा नट यादि जातियों की स्त्रियों के गायन में भी एक विचित्रता रहती है । वे अपनी आवाजों में विशेष प्रकार का मरोड़ देती हैं । वे प्रत्येक गीत की पंक्ति के अंतिम शब्द को मरोड़कर गाती हैं और पुनः तात ही के साथ मूल धून को पकड़ लेती हैं । प्रचलित सभी लोकगीतों को वे इसी तरह गाती हैं । इन जातियों द्वारा यांत्र हुए सभी प्रचलित गीतों पर गायकों को इन्हि से इन जातियों की विशेष ध्यान रहती है ।

उक्त सभी प्रकार के अन्तिम-तत्त्वों में अपनी-अपनी विशेषता रहते हुए भी एक सामान्य तत्त्व यह है कि वे गायार्दे डें लोकपरक आवाजें हैं । उनको सुननेकृत बनाने की चेष्टा लोकगीतों के लिये अत्यन्त यातक चेष्टा है । लोक-गीतों का प्रसारकौशल, उनका अतीत, वर्तमान और प्रविष्ट लंबा होता है । यह प्रमरत्व उन्हें इन्हीं अन्तिम-तत्त्वों के कारण प्राप्त होता है । ये ही तत्त्व प्रयोक्ताओं और शोताराओं को प्रभावित करते हैं तथा उन्हें लोकगीतों का विशिष्ट स्वभाव प्रदान करते हैं ।

## लोकसंगीत एवं सुगम-संगीत

संगीत के ये दोनों ही पक्ष बहुधा एक दूसरे का रूप धारणा करते प्रवर्तित होते हैं और अबोध तथा मनुभवहीन जनता में 'भासि उपचर करते रहते हैं। लोकसंगीत सुगम-संगीत की पहचान उतनी ही मुश्किल है जितनी होते-ज्ञाहरात की पहचान। सुगम-संगीत वह संगीत है जो बाने, सुनने तथा मारने में सुगम है। लोकसंगीत का भी प्राप्त: यहीं गुण है। फिर इन दोनों में वह कौनसा गृह्ण भेद है, जो इनको एक दूसरे से अलग करता है। सुगम-संगीत का प्रवर्तरण वैमत्तिक है। वह भी मधुर काव्य तथा मधुर स्वर-चयन में संयुक्त होता है। उसमें भी उक्खाट रचना-कोशल के दर्शन होते हैं। फिल्मी संगीत भी एक तरह से सुगम-संगीत ही में शुभार होता है। फिल्मी गीत कभी-कभी लोकगीतों से भी अधिक लोकप्रिय बन जाते हैं। बच्चों-बच्चा उन्हें गाने लगता है। जन-समुदाय उनमें रस लेता है, परन्तु फिर यों वे सुगम-संगीत, फिल्मी संगीत तथा लोकगीतों का दर्जा नहीं पाते। ये गीत जितने ही मधुर हैं, उतने ही अल्पजीवी भी हैं, वे लोकगीतों की तरह दीर्घायु नहीं होते, न वे मर्म ही को छूते हैं। उनको स्वर तथा सब्द-रचना कुछ ऐसे तत्त्वों से होती है कि वे तत्त्वात ही हमारा ध्यान आकर्षित कर निते हैं और हम उनकी गायकी पर मुख्य हो जाती है। उनका प्रभाव उस नवे के समान है जो मनुष्य को एक विचित्र लोक का मनुष्य करता है, परन्तु अनेकोंस्त्रा वह (मनुष्य) यहीं का ताहा ही रहता है। ये सुगमसीत रस की निष्पत्ति से पूर्व ही मरणासन्ध हो जाते हैं। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि सुगमगीत गानेवाले के कठ और मुनेवाले के कानों तक ही मर्यादित रहते हैं, हृदयगम नहीं होते; परन्तु लोकगीतों का प्रभाव अद्युपर्य है। उनका असर महरा इसलिये होता है कि उनकी रचनाओं में असंक्ष प्रतिभासों का परिपाक रहता है, जो समय, स्वाम और स्थिति की मर्यादाओं को तोड़कर संबंध ही नवीन और ताका रहता है।

लोकगीतों की रचना अनेकाल से होरही है। इनका कम कभी दृढ़ता नहीं है। उहसों रचनाएं अज्ञात रूप से लोकगीत बनने की प्रक्रिया के बीच मुजर रही है, सामाजिक कस्तीटियों पर चल रही है, कुछ लड़खड़ा रही है, कुछ पिछड़ रही है, कुछ पानी के बुद्धुदों की तरह पैदा होते ही नष्ट होरही है, कुछ संघर्षों के बीच भवाम गति से मुजर रही है और कुछ लोकगीतों के परिवार में प्रविष्ट होकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही है। ये प्रक्रियाएं

ऐसी है, जो न देखी जा सकती है, न उसका प्रनुभव ही किया जा सकता है। कोई स्थूल वस्तु कारबाहे में बनती हूँ देखी जा सकती है, उसके विकासक्रम का निरीक्षण किया जा सकता है, परन्तु लोकगीत का रचनाक्रम अस्तित्व है। यहाँ यह भी मानकर चलना चाहिये कि सभी रचनाएँ इस प्रक्रिया में प्रवेश नहीं करती। हजारों गीतों में विरल ही गीत ऐसे हैं, जो यह दिशा पकड़ते हैं। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि जो गीत यह दिशा नहीं पकड़ता वह गेय तथा काव्य-गुणों से हीन है। सहस्रों गीत ऐसे हैं, जो अपनी वैयक्तिक परिप्रेक्षीयी में कई वर्ष तक जीवित रहते हैं। उसके काव्य तथा गेय मूरु लोकगीतों से भी लंबे होते हैं तथा उनकी धार्य लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होती। उनका सामाजिक विस्तार-दोष भी लोकगीतों से किसी भी तरह कम नहीं होता। अंतर केवल इतना ही रहता है कि वे अपने रचयिताओं के व्यक्तित्व के साथ दैदीधर्यमान रहते हैं और समाज के साथ पारिवारिक जन की तरह सांस्कारिक रूप से संबद्ध नहीं होते। भीरा, मूर, तुलसी, कबीर, रैदास, दाहू, जानेश्वर, जयदेव, तुकाराम, विद्यापति द्वारा रचित गीत ऐसे ही गीतों की गणना में आते हैं।

यह बात अवश्य ही तक्कसंगत है कि लोकगीतों की प्रक्रिया में प्रविष्ट करने के लिए किसी रचना में जो तत्त्व सर्वाधिक उत्तरदायी है वह उसका गेय तत्त्व ही है। उस गेय तत्त्व में भी वह तत्त्व सर्वाधिक भावस्वप्नीय है, जो सामाजिक हृदय को स्पर्श करता है। अनेक सुगम रचनाओं में गेय तत्त्व सर्वाधिक धार्यक और स्नोरम होते हुए भी वे साधारितक मर्म को स्पर्श नहीं करते। इस मर्मस्पर्श के लिये गीतों की स्वर-रचनाओं में कुछ ही रचनाएँ ऐसी होती हैं, जो समाज के रागात्मक पद को प्रभावित करती हैं, तथा जो लोकिक कंठों पर सरस्वती की तरह बिराज जाती है। इस तर्क के पीछे कौनसा विज्ञान है, यह वैज्ञानिक विज्ञेयगुण का विषय नहीं है, उसका संबंध केवल सामाजिक अनुभूतियों से है।

### लोकसंगीत की विशिष्ट शैलियाँ

लोकसंगीत के कुछ ऐसे पद हैं, जो अपने विशिष्ट सामाजिक तथा गेय तत्त्वों के कारण कुछ विशिष्ट प्रकारों में वर्गीकृत हो सकते हैं। वे प्रकार हैं— लोकमञ्जन, लोकगीतन, पारिवारिक तथा शूँगारिक गीत, नृत्यगीत, इतिहास्यात्मक गीत, अवसाधिक गीत तथा नाट्यगीत। शास्त्रीय संगीत की द्रुपद, घमार, छुमरी, टण्णा, स्पाज, शजल आदि विशिष्ट शैलियों की तरह

वे विषुद्ध मायन-वैलियों नहीं हैं, किर भी उनको प्रकृति-निष्ठारण में ऐय तत्त्व का बहा हाथ है। शास्त्रीय संगीत की वैलियों के निष्ठारण में स्वर तथा मायन तत्त्व के साथ गीतों का अर्थ और शब्द-कलेवर साधारणतः कोई स्वाम नहीं रखता। यह बात लोकगीतों में नहीं है। शास्त्रीय संगीत में स्वर की ही प्रधानता है, शब्द प्रधानत नहीं है। परन्तु लोकसंगीत में स्वर को प्रधानता रहते हुए भी शब्द अपेक्षाकृत इतना गौणा नहीं है। लोकसंगीत की इन वैलियों में ऐय तत्त्व की विशेषता अद्वितीय है, परन्तु यह तत्त्व गीत के शब्द-कलेवर पर भी काफ़ी मात्रा में अवलम्बित रखता है। शब्द और स्वरों की रचना का जितना मुन्दर सामंजस्य लोकगीतों में मिलता है, उतना जिसी में नहीं। गीत के विषय को स्वर तार चाँद लगा देता है। इसी तरह लोकसंगीत का ताल-पद्ध भी गीत की प्रकृति पर अवलम्बित है। यह ताल-पद्ध भी इन गीतों के वर्णाकारण में बहुत अधिक सहायक होता है। गीत की प्रकृति के अनुसार ही उसकी लय की विशिष्ट होती है। यह स्वर, शब्द तथा लय की विवरणी जितनी वैज्ञानिक ढंग से लोकसंगीत में प्रवाहित होती है, उतनी अनन्य कहाँ नहीं। लोकसंगीत की इन विशिष्ट वैलियों की जर्ची में इस तत्त्व पर अधिक प्रकाश आता जाएगा।

### लोकभजन और उनको पृष्ठभूमि

भजन का संबंध भगवान् की स्तुति से है। ये भजन लोकसंगीत के विशेष अंग हैं। इन भजनों का काष्य-पद्ध विशेष प्रचल नहीं होता, क्योंकि भगवान् हमारे भद्रों और मति के पात्र होने के कारण हम उनके प्रति अपनी कल्पना नो अधिक स्वतंत्रता नहीं दे सकते। स्तुत्य वस्तु के प्रति आदर और सम्मान की मात्रा रहती है। उसके सौन्दर्य-वस्तु में भी अनेक मयांदारी का पालन करना पड़ता है तथा मावनाओं की सीमा में रहता होता है। स्तुत्य वस्तु की प्रकाश स्तोत्र में हमारे शब्द प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इन भजनों में काष्य-तत्त्व कमज़ोर रहता है। स्तुति में मायना की प्रधानता है, जो स्वर-संचरण में शब्द से कही अधिक सहायक होती है। इन गीतों की स्वर-रचना में गंभीरता तभा ग्रीष्मा के तत्त्व विशेष होते हैं, क्योंकि स्तुति विषय कल्पनाओं तथा हमारी धनुष्यति से बाहर होने के कारण शीढ़िक तत्त्व गौणा होता है और मायना तत्त्व प्रधानता प्राप्त करता है। इसीलिये शब्द की अपेक्षा स्वर ही भजनों का प्रधान तत्त्व है, जो स्तुत्य विषय की गंभीरता और ग्रीष्मा के साथ स्वयं भी गंभीरता और ग्रीष्मा प्राप्त किये हुए होता है। इसीलिये भजन प्रायः छवनि-प्रधान होते हैं। कभी-

कभी तो शब्दों को छोड़कर स्वरों के लाय ही केवल गौव मात्र से भजन को निराकार बताता है। लोकभजन को गायन-सीली भास्त्रीय संगीत की ध्युपद-सीली के समकक्ष है। लोकभजन सामान्य लोकगीतों की उरह स्वर-नालित्य, काव्य-सौदर्य तथा माधुर्य की सृष्टि नहीं करते। जीवन का अबह ही निराकारजनक पक्ष उनमें अभिव्यक्त होने के नाते में गीत आनन्द के लोकक नहीं होकर आनन्द के प्रदाता होते हैं। इन गीतों की प्रकृति गोरों और चाल थीमों होती है। ये भजन मंदिरों, सार्वजनिक स्थानों, उत्सवों, पर्वों तथा अनुष्ठानों पर विशेष रूप से गाये जाते हैं। ऐसे गीतों का प्रचलन घोर सामाजिक संकटों, पारिवारिक संघर्षों तथा आन्तरिक उत्तर-नुचल के समय अधिक होता है। जूँकि इन गीतों में हृदय की सहज आनंदानुभूति नहीं होती, इसलिये इनकी स्वर-रचना भी लालित्य की दृष्टि से श्लश ही होती है। हृदय का स्वामाधिक उल्लास उनमें अक्षर नहीं होता। अतः उनका स्वर-संहृदय भी साधारण ही होता है। स्वरों के संसार में हृदय को मुखरित करनेवाली व्यंजनाएँ नहीं होती। कहीं-कहीं स्वर एक ही तरह टिक जाते हैं और तरबद्ध आवाप के रूप में फैल जाते हैं।

भजन को परम्परा सभी समाज में प्रचलित रूप से भी भजन गाये जाते हैं और सामूहिक रूप से भी। अक्तिगत भजनों में अक्ति के सांसारिक विषाद और संताप की लाया प्रमुख रहती है। वह अपनी सांसारिक परावाय को भगवान् के सन्मुख अभिष्यक्त करके अपना मन हलका करता है और परमात्मा से इस संसार से छुटकारा पाने की कामना करता है। सामूहिक गीतों में विषाद की अभिष्यक्त इतनी तीव्र नहीं होती। उनमें ईश्वर की महिमा और उसकी अपार अक्तियों के वर्णन-विशेष होते हैं। विषाद की भावना तनिक अद्यापक रूप लेकर सामाजिक आगावों तथा जीतीय वेदनाओं में घोतप्रोत होती है।

भजनों की अवस्था पारिवारिक, वैष्णविक, सामुदायिक तथा भाववीप आगावों के अस्त्रों में होती है। जूँकि सोकभजन एक सामाजिक ग्रन्थिया है, इसलिये अक्ति के प्राह्लाद-विषाद से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। वही प्राह्लाद और विषाद जब सामाजिक स्वरूप प्रतीक करता है, तभी लोकसंगीत और लोकभजनों की सृष्टि होती है। अक्तिगत दैनिक अभजनों और भौतिक प्राह्लादों के कारण उत्तम गीत अपनी प्राचीनक भावात्मक स्थिति के कारण उपजकर समाप्त भी हो जाते हैं। ये धर्मिक समय तक जीवित भी नहीं रहते। परन्तु यहीं प्राह्लाद और विषाद जब समाज के गहन अंतराल में फैलकर गंभीर

सामाजिक प्राज्ञाद-विषाद का स्वरूप बहुता कर लेते हैं, तब लोकसंगीत और लोकभजनों की मृष्टि होती है। समाज का सारा रुख जब भजनों की तरफ उम्मुक्त होता है तो निश्चय हो यह समझ लेता चाहिये कि पारिवारिक तथा सामाजिक विषाद पराकार्य तक पहुँच चुका है। आत्मसलानि, सामाजिक परावर्य, पारिवारिक दुःख और राष्ट्रीय ग्रापति के समय जब मनुष्य यैर्य और साहस थोड़ा देता है तो किसी परम शक्ति की ओर मुँह ताकते हुए वह अपने ग्रापको समर्पित कर देता है। सब ओर से जब उसे विषाद ही का मुँह ताकता है तो वह उन परम शक्ति से जक्ष प्रहरण करने की कोशिश करता है जिससे वह उन बाधाओं का मुकाबला कर सके; परन्तु जब उसे यह ज्ञात जक्ष भी गतिक प्रदान नहीं करती तो उसका स्वर्य का पुरुषार्थ भी अपोग्य मिछ होता है। उसे यह समस्त संवाद ही प्रसार, बंजाल और सपना नवर आता है और वह शीघ्र ही उससे मुक्त होने की कामना करता है। निराशा की इस चरण इच्छिति में भजनों का आविभाव नवीनिक होता है। पर-पर ये मनुष्य को पत्तायन-वादी बनाते रहते हैं। ये विषाद जीवन में इन्हें समा जाते हैं कि प्राज्ञाद और आनंद के दण्डों में भी ये भजन लोकगीतों का स्वान ले लेते हैं और सर्वे समाज पर छा जाते हैं।

लोकभजनों की आगु लोकगीतों की अपेक्षा अल्प होती है। आनंद और उल्लास की अंद्रजनाएँ स्थायी, मुख्यकारी और धधिक प्रभावशाली होती हैं। वे मर्मों को सर्वांगिक घृती हैं। मनुष्य उसके प्रवाह में बहुकार नाना प्रकार के रामात्मक और मावात्मक जाल में बहता रहता है और मंपुर्ण जप्तित्व को उसमें अभिव्यक्त करता है। उसे एक सृजनात्मक आनंद उपलब्ध होता है। वह अपने दुःख में भी मुँह का अनुभव करता है, तथा मावलोक में अभिव्यजित होकर वह अपने ग्रापको पूर्ण वैगवसाली अनुभव करने लगता है। उसको भावनाएँ व्यापक और संपन्न होती हैं, उसमें गहराई याती है और उसके जीवन का परिकार होने लगता है। इन्हीं मावात्मक परिवित्तियों के परिणाम लोकगीत होते हैं। ये आनंद और उल्लास के प्रतिनिधि होने के कारण समाज की मृत्युनात्मक गतियों के लिये खुशा होते हैं। ये जितमें ही मुख्ये पढ़ते जाते हैं, उसमें समाज की अभिव्यक्तिनाएँ मिलकर, मंभीरता। और स्थायित्व के तत्त्व बहते रहते हैं, परन्तु भजनों की आगु धूम और उसका प्रभाव तास्कानिक होता है। जिस तीव्र गति से वे बनते हैं, उन्होंने ही तीव्र गति से वे मिटते भी हैं। मनुष्य आनंद की अभिव्यक्ति बहता है। विषाद विवशता से आता है। आनंद स्वामयिक प्रवृत्ति है। सापारण्यतः आनंद की जाह विषाद को दूर रखती है, पास तहीं फटकने

देती, परन्तु जब उसकी पराकारों होती है तो आमंद को विशाद के सामने दब जाना पड़ता है। विषाद उस पर हाथी हो जाता है। उसी विवशता और अभाव-प्रस्त रिचित में भजनों का आविर्भाव होता है। मनुष्य की अभिव्यञ्जनाएँ कुठित हो जाती हैं। सूचे-सूचे और मर्यादित स्वर तथा शब्दों में भजनों की सृष्टि होती है। यही कारण है कि भजनों में भावों की बारीकी, कल्पना की उड़ान तथा स्वरों की रंजकता नहीं होती। लोधों और सदूत अंजनाप्रों में याचना, आत्म-निवेदन तथा मानसिक भुटन के कारण जीवन से मुक्ति की भावना प्रमुख रहती है। ये गीत जब किसी देवी-देवताओं, सत्कारों तथा अंधविश्वासों और अथ-परम्पराओं के साथ छुड़ जाते हैं तो के स्थायी अवस्था हो जाते हैं, परन्तु उनमें गीतों के गुण नहीं होते। उनमें केवल लकीर ही पीठी जाती है। ऐसे लोकभजन बहुधा अविक्षित और पिछड़े हुए समाज में ही अस्तिक प्रचलित होते हैं, इसलिये उनका पुमाण-फिराव उर्ही में हुआ करता है। अनुभवशील, परिमावित तथा भावनाशील समाज के पास वे नहीं जाते, इसलिये उनमें अनुरंजकता और अपापकता के गुण प्राप्त नहीं होते। गंभीर और मुर्गस्कृत समाज अपने अभावों और विपादों को धैर्य और पुरुषाधेर से भेजता है और उन्हें आमंद और उल्लास से परिमावित कर देता है। यह उन पर रोता नहीं, परास्त नहीं होता, संकीर्ण, छुट आवेगों से ड्रेड्योभूत होकर छुट अंजनाप्रों में प्रकट नहीं होता। अतः ऐसे समुदाय के पास भजन प्राप्त फटकते ही नहीं।

यह विवेचन उन भजनों का है, जो लोकभजन की परिमाणा में आते हैं, जिनका अविक्षित समाज में निहित रहता है और रचयिता के अविक्षित की छाप जिन पर अकित नहीं होती परन्तु वे भजन जो साधु-सती और सुलभे हुए महारथाओं द्वारा रचे हुए तथा गाये हुए होते हैं, इन लोकभजनों से भिन्न होते हैं। वे यद्यपि लोकभजनों में शुभार नहीं होते, परन्तु उनके प्रचार और प्रसार को देखते हुए वे किसी भी तरह लोकभजनों से कम नहीं। वे भजन बहुधा संसार से विमुक्त, पूर्ण जानी तथा महान् आत्माओं द्वारा रचित होते हैं, जो संसार के छुट अभावों, विपादों और उच्चनों से दूर रहते हैं। उनके द्वारा रचित गीतों में भावों की उच्चता, विचारों की महत्वता तथा जीवन की गहन अनुभूति निहित रहती है। उनका जीवन सांसारिक अभावों से दूर रहता है। वे विशिष्ट मानव के रूप में संसार को कुछ संदेश देने तथा अंधकार में भूजे-भटकों का मार्गेदर्शन करने के लिये अवतारित होते हैं। उनके कष्ट से जो बासी निभाती है, उसमें समस्त जीवन का सार रहता है और उसमें एक प्राण्यात्मिक आमन्द की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे गीत बहुधा वर्णनात्मक नहीं

होते, न उनमें दिव्यता याचना या निराशा की अभिव्यक्ति ही होती है। वे जीवन के विशेषण के रूप में जनता के सामने आते हैं और जीवन, जगत्, प्रात्मा, परमात्मा की सहन गुलियों को मुलभाने में समय होते हैं। ये गीत बहुपा वैष्णविक दायरे में ही रहते हैं। सामाजिक बुद्धि उन महापुरुषों की गहन अभिव्यक्ता और अलीकिक आध्यात्म-बुद्धि को नहीं पहुँच सकती, इसलिये वे प्रथम सूजनकाल से ही सौकड़ों वर्षों तक प्रायः पश्चात्य रहते हैं, शब्दों में तथा धुनों में हेरफेर अवश्य हो जाता है, परन्तु उनका मूल विशेषणात्मक आध्यात्मिक तत्त्व ज्यों का त्यों रहता है, वर्षोंके उनमें परिमाजन, परिवर्तन तथा साक्षात् साधारण लोक-बुद्धि के बूते से बाहर है। ये भजन ध्यानी गृह आध्यात्मिकता और तात्त्विक सामग्री के कारण साहित्य और आध्यात्म की अमर परोहर बन जाते हैं। ये राष्ट्रीय घरोहर के समान हैं और लोकभजनों से भी इनका दर्जा बहुत ऊँचा है।

ये भजन जब जीवन में सौकड़ीतों को तरह ही व्याप्त हो जाते हैं और सौकड़ों वर्षों तक जनता इन्हें गाती है, तो उनका स्वरूप कभी-कभी बदल भी जाता है, परन्तु उनके महन तात्त्विक विचार पश्चात्य रहते हैं। ऐसे गीत जीवन में व्याप्त होकर प्रायः लोकभजन का स्वरूप बदला करते हैं। आम जनता उन्हें गाती है, परन्तु कभी-कभी उनका अर्थ भी नहीं समझती, पर महापुरुषों की पासी होने के कारण वे प्रत्येक अवक्ति के कठोर पर आदर और व्यदा के साथ विराज जाते हैं। उन्हें गाते समय वे स्वरों को आत्मसात् करके उनके गुडाएं को खोड़ देते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे गीतों की धुनों सौकड़संगीत की तरह मामाजिक भरातल प्राप्ति करती है और उनके साथ प्रयोक्ताधर्मों की स्वयं की धुनों का भी निश्चय होने लगता है। उनके मूल रचयिताओं के भीलिक विचारों की वास्तविकता ज्यों की त्यों रहती है। रचयिता का नाम भी पश्चात्य रहता है। केवल धुन ही समाज की घरोहर बन जाती है। कबीर, तुलभी, मूर तथा सीरा के सौकड़ों सीउ सामाजिक कल्योटी पर चढ़कर ध्यानी अल्पन्त मधुर धुनों के कारण लोकभजन बन जाते हैं। इन भजनों की मूल धुने प्रस्तरत ही प्राच्यमिक और एकांगी होती है, परन्तु जनता के कठोर पर चढ़कर उनमें पश्चूने रंगों का निराक जाता है, जिस यों कहे कि ये भक्ति-गीत उक्त प्रक्रिया के अनुसार लोकभजनों का दर्जा अप्त नहीं करते तो उनकी धारा कठाचित् इन्हों लम्बी होती भी नहीं। ये भजन निराशा, निरसाह तथा आत्ममानि के काम में जनता के कठोर पर नहीं चढ़ते हैं। इनका परात्म बहुत ही गहन होता है। ये वैष्णविक

अभावों से कोसों दूर रहते हैं। उन पर इनके गुल सूजकों के सघेहए उम्रत और आध्यात्मिक जीवन की दाप रहती है, जो बास्तव में पूर्ण ज्ञान, अलीकिक बुद्धि और जीवन की साधना के कलस्वरूप ही अकित होती है। वे प्रन्ततोगत्वा पूर्णानन्द, पूर्ण प्रकाश और अलीकिक ज्ञान की ही सृष्टि करते हैं। यह भनुभूति निराशा और अभावों की उपज नहीं, वह पूर्णानन्द और पूर्ण ज्ञान की ही देन है। इसलिए ये भजन भी लोकसंगोत की आनन्दवादिनी थेणी में ही आते हैं तथा जीवन और जगत् के बीच बहुत ही मुन्दर सामंजस्य पैदा करते हैं। इन गीतों में आत्मगत्वानि, आत्म-प्रबन्धमा तथा संसार का कुरुप पक्ष अंतर्हित नहीं होता। उनमें जीवन का सामर लहलहाता है और संसार का अत्यन्त सृजनात्मक और आनन्दमय पक्ष निहित रहता है। जग और जीवन की अनेक मुटियों का अत्यन्त सुन्दर और विश्वेषणात्मक समाधान उनमें अंतर्हित रहता है। समाज का बुद्धिजीवी पक्ष उनके बाब्द, कवित तथा अर्थ से प्रेरणा प्रहरा करता है तो समाज का भावात्मक लोकपक्ष उनकी भुनों से प्रेरणा प्राप्त करता रहता है। सही माने में इन भजनों का स्वर-पक्ष ही इन्हें लोकपर्मी गीतों का दर्जा देता है। लोकमानस स्वरों को पहले पकड़ता है और इन्हें सतत क्षय-रंग देता रहता है। इन भजनों की लोकपक्षी स्वर-रक्षा के वैविध्य से इन गीतों की चार चाँद लग गये हैं। ऐसे अनेक गीत जनता के कर्त्ता पर बिराजमान हैं, जो रात को इकतारे पर गीव के छोराहे तथा चौपाल में सार्वजनिक रूप से मारे जाते हैं। ये गीत किसी स्पृक्ति, जाति, धर्म तथा समाज-विशेष की घरोहर नहीं होते। उनका दायरा बहुत ही विस्तृत हो जाता है और अत्यन्त जीवनोपयोगी गीतों का दर्जा प्राप्त कर लेता है।

इन भजनों की भी कई खेड़ियाँ हैं। कुछ भजन किसी सम्प्रदाय-विशेष के समाव के कारण अनेक भव्यादाशों में बैठ जाते हैं, परन्तु जो तात्त्विक और विश्वेषणात्मक भजन होते हैं, उनका दायरा बहुत ही विस्तृत होता है। सगुण भक्ति के भजनों में मन्दिर, मठ तथा विशिष्ट सम्प्रदाय की ममता चिपक जाती है, इसलिये उनका दायरा कुछ छोटा रहता है। निरुणी तथा जानपक्षी भजनों का दायरा बहुत बड़ा होता है। उनकी पहुँच किसी अकिक, समाज, धर्म तथा सम्प्रदाय तक ही नहीं होती बल्कि वे सबकी घरोहर होते हैं। उनसे प्रयोक्ताओं को सर्वदा ही जीवन सम्बन्धी प्रेरणा मिलती रहती है। इस प्रकार के निरुणी, सगुणों वी राजस्वानी भजनों के उदाहरण स्वरूपि सहित प्रस्तुत है :-

## निरुद्धी भजन

( स्वार्ड )

यो को भेद बतावो ब्रह्मचारी  
यो में कोन पुरस कोन नारी ।

( अंतरा )

ना रहे परसी ना रहे कंवारी, टाबर जले जगा हारी ।  
काली मृँदी रो एक नी घोड़ो, तो ई अकन कंवारी ॥  
मुसरो म्हारो पस्सी बरस रो, सासू अकन कंवारी ।  
पति हमारो हीडे पालगो, हीदा दे दे हारी ॥  
ब्राह्मण के घर भई रे बाहुसी, साधा के घर चरी ।  
काजी के घर भई रे तुरकड़ी, कलमी पड़-पड़ हारी ॥  
कहत कमाल कबीरा की बेटी, सुणज्यो सिरजनहारी ।  
परसी भजन री करे खोजना, थो नर अतर सुजाएँ ॥ या में

## स्वरलिपि (ताल दीपचंदी)

स्वार्ड

				सा - सा -
				यो ३ को ५
म रे -	म - म -	प प -	ध - प -	
भे ३ ५	६ ५ थ ५	ता थो ३	छ ३ म्म ५	
ष - -	ष - - ष	म - -	म - प -	
चा ५ ५	री ५ ५ ५	५ ३ ३	यो ३ में ५	
प ष -	प - म -	ग ग सा	रे - रे सा	
को ३ ३	न ३ पु ५	र स ५	को ५ न ५	
ग रे सा	सा - - -	- - -	सा - सा -	
ना ३ ३	री ३ ३ ५	३ ३ ५	यो ३ को ५	
×	२	०	३	

## अंतरा

ग - -	ग - - म	रे ग -	सा - - -
ना ५ ५	महे ५ ५ ५	प र ५	खी ५ ५ ५
ऐ - -	म - - म	प - -	प ख नी प
ना ५ ५	महे ५ ५ कं	वा ५ ५	री ५ ५ ५
प घ -	प - प -	प घ -	प म म -
टा ५ ५	व ५ र ५	व ला ५	ल ५ ला ५
म व -	प - - -	- - -	- - - -
हा ५ ५	री ५ ५ ५	५ ५ ५	५ ५ ५ ५
ए - -	प - घ -	सा - -	सा - - -
का ५ ५	झी ५ मृ ५	बी ५ ५	रो ५ ५ ५
रे - -	रे - रे सा	गं रे सा	सा - - -
ओ ५ ५	फ ५ नी ५	छो ५ ५	खो ५ ५ ५
सा - -	सा - - -	नी नी प	घ - - प
तो ५ ५	ई ५ ५ ५	अ क ५	न ५ ५ कं
नी घ प	प - - -	घ म -	रे म म प
वा ५ ५	री ५ ५ ५	५ ५ ५	या ५ मे ५
प घ -	प - म -	ग ग सा	रे - रे सा
को ५ ५	न ५ मु ५	र स ५	को ५ न ५
ग रे सा	सा - - -	- - -	सा - सा -
ना ५ ५	री ५ ५ ५	५ ५ ५	या ५ को ५
*	२	०	३

जेष्ठ अंतरे मी इसी शुल्क में गावें ।

यह राजस्थानी नियुंगी भजन गहन रहस्यों से परिपूर्ण है। इसके गृहार्थ जिसको प्राप्त हो जाते हैं, वही जीव जगत् के इस रहस्य को समझ सकता है।

### सगुणी भजन

( स्थाई )

गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एलो जमारो रे ॥

( अंतरा )

साथ हमारे विरचणी घो राम, मैं साधों री दास ।

द्रुत जिमार्क याणक लौक में कई ढ़लहळ ढोलुंगी जाय ।

सर्विरियो तो प्राण हमारो रे, यो भूठो जुग लाये जारो रे ॥

कुंवा बालही सूं म्हारे काम नहीं घो राम नाहुले कुण जाय ।

समुन्द्र से म्हारे अरथ नहीं मैं तो जा पूर्ण दरियाव ।

गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एलो जमारो रे ॥

कौसी पीतल सूं म्हारे काम नहीं घो राम लोह लेवा कुण जाय ।

सोना स्वा सूं म्हारे अरथ नहीं, म्हारे हीरा रो चंपार ।

सर्विरियो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एलो जमारो रे ॥

सेना कोतवाळ सूं म्हारे काम नहीं घो राम कचेही कुण जाय ।

कामशारी मे म्हारे अरथ नहीं, मैं तो जाय पूर्ण दरियार ।

गोविन्दो तो प्राण हमारो रे, भजन बिन एलो जमारो रे ॥

मोरावाई हरखी रे लालता घो राम, बोल्यो भजन रो मोइ ।

मोरा मे गिरधर भिला कई नागर नलदिकिलोर ।

सर्विरियो तो प्राण हमारो रे, यो भूठो जुग लाये जारो रे ॥

## स्वरलिपि (ताल दीपचंद्री)

	ग मो रे	प इ वि	म मा वि	ग मा वि	- ५ ५	सा रो दो	रे ५ ५	सा तो ५
मी - -	सा - -	रे	म	प	-	म	-	म रे
प्रा ५ ५	ण ५ ५	ह	मा	५ ५		रो ५ ५	५	
रे ५ -	- -	य म	प	पथ	सानो	ष	-	प -
रे ५ ५	५ ५ न	५	व	(न)	५	वि ५	न	५
(प) - -	म - -	प	ग	-	-	सा रे	ग	सा
ए ५ ५	लो ५ ५	व	मा	५ ५		रो ५ ५	५	
सा - -	- -, ग	प	म	ग	-	सा रे	सा	-
रे ५ ५	५ ५, मो ५	वि	५ ५	५		दो ५ तो ५		
x	५		०			५		

## अंतरा

मी ५ -	मी - -	मी	सा - -	-	-	रे ग	सा	रे
सा ५ ५	ष ५ ५	ह	मा ५ ५			रे ५ ५	५	
मी - -	मी मी -	मी	सा सा	-	-	रेय	पय	यरे ग
५ ५ ५	ति र ५ ष	ष	णो घो	५		राः ५	५ ५	म
(प) - -	म - - -	ग	- -	-	-	सा रे	ग	सा
मी ५ ५	सा ५ ५ ५	घो	५ ५	५		रो ५ ५	५	
सा - सा	य - य म	प	पथ	सानो		ष	-	प ५
दो ५ स	त्रु ५ त	वि	मा	(क्ष) ५		मा ५	ण क	
x	५		०			५		

		ध प प स	प	-	-	ग म प घ नीसां
३	१	३ छो ३ ५ क	मे	३	३	क ३ ( ३३ ) ३३
सा	सा	- नी - ध तो	प	ध	-	प - म -
३	३	हृ ३ ल० ३	ल०	३	३	लू० ३ गो० ३
(ग)	-	प - म -	ग	ग	सा	रे - सा -
वा	३	व० ३ सो० ३	व	रि	३	यो० ३ तो० ३
तो०	-	सा - - रे	ग	प	-	म - य रे०
प्रा०	३	गु० ३ हृ० ३	गा०	३	३	रो० ३ ३ ३
रे०	ग	- - ग म	प	प घ	सो०	घ - प -
रे०	३	३ ३ यो० ३	हृ०	ठो०	( ३३ )	जु० ३ य० ३
ग	-	म - - -	मप	ग	-	सा रे० ग सा
ता०	३	वे० ३ ३ ३	वा०	३	३	रो० ३ ३ ३
सा०	-	- - ग प				
रे०	३	३ ३, गो० ३	विदो०	तो०	प्राण०	हमारो रे....
X		२	०		३	

इस राजस्थानी भजन में भक्तिमति भीरा इस बग की भूड़ा बतलाकर भगवान् के चरणों में पहुँचने की कामना करती है। अत्मशांति के लिये वह छोटे-छोटे स्थानों पर जाने की अपेक्षा सीधे प्रभु के दरबार में पहुँचना चाहती है। यह कामना साधु-संतों की संगति से दूरी हो सकती है। उनकी वह मारणक-बोक में भक्तियूर्वक भोजन कराना चाहती है।

### लोककीर्तन

लोकभजन और लोककीर्तन की पृष्ठभूमि में विशेष अंतर नहीं। भजन में आल्यात्मिक तत्त्वों का आधिक होता है तो कीर्तन में नव और गेय तत्त्व अधिक प्रबन्ध होते हैं। कीर्तन बहुधा नृत्य-प्रभान्न होते हैं, अतः उनकी चाले भजनों की अपेक्षा अधिक दृढ़ होती है। तथा उनमें स्वर-लालित्य भी भजनों से

अधिक होता है। भावों में अंजनारथक शक्ति की कमी तथा वर्णन की प्रबाहसता होती है। कीर्तन को ताले सरल होती है। भजनों में कीर्तन की अपेक्षा आध्यात्मिक तत्त्व अधिक प्रबल होता है। कीर्तन प्राराध्य देव के सम्मुख ही होता है, इसलिये उनमें सौन्दर्य-वर्णन अधिक होता है। भजनों में प्राराध्य देव की उपस्थिति प्रावश्यक नहीं, इसलिये अनुपस्थित विषय के लिये अनेक रहस्यमयी बातें उन्हें आध्यात्मिकता प्रदान करती हैं।

### पारिवारिक एवं शृंगारिक गीत

लोकगीतों में इन गीतों की संख्या मध्यसे अधिक है। ये गीत लोक-जीवन के प्रत्येक घट के साथ जुड़े हुए होते हैं। शादी-विवाह, विरह-मिलन, माई-मीराई, सास-बहू, वर-वधु, संबंधी असंत कल्पनाओं से युक्त ये गीत नाना प्रकार की अंजनाधों की मृष्टि करते हैं। इस प्रकार के गीतकार्य-तत्त्व तथा लोक-सौष्ठव की हृष्टि से सर्वांगपूर्ण, मनोरंजक, मधुर तथा सर्वाधिक लोकप्रिय भी होते हैं। इनका संज्ञार-स्त्री तथा जीवनकाल सर्वाधिक दिग्मुख और विषद होता है। इन गीतों का स्वर-सौष्ठव तथा स्वर-सौन्दर्य भी अपूर्व होता है तथा उनकी अभियंजनाएँ अधिक निखरी हुई और मुकुरित होती हैं। उनमें हृदय के भावों के साथ ही स्वर-नहरियों का फैलाव और गुचाक होता है। इन गीतों में मनुष्य के ह्रास, लास, उच्छ्वास, धानन्द, विरह, सताए, संबंधना, स्मैङ्क, सहानुभूति और सौहाद्र के भाव विशेष काप से निहित रहते हैं, यह उनमें काव्य-सीमदर्श के साथ स्वर-सौन्दर्य की अपूर्व दृष्टा हृष्टिगत होती है। लोकसंगीत की यह ऐसी जीती है, जिसमें मानव-मन को सर्वाधिक अनुरूपित और प्रभिष्यक होने का भवसर मिलता है। वह भावों की निष्पत्ति के साथ ही उपगुरु स्वरों को मृष्टि करता है तथा ध्येने भावमीने स्वरों को शब्दों से संबारता है। यही कारण है कि लोकसंगीत का यह विशिष्ट पक्ष अत्यन्त समृद्ध और रसपूर्ण पक्ष है। इन गीतों को रचनाधों में लालित्य के साथ विविध तथा कमनीयता और मृदुता भी है। कला की हृष्टि से भी ये गीत संबोधित हैं। साधारणतः लोकसंगीत में भाव-पक्ष प्रधान तथा कला-पक्ष गौण रहता है, परन्तु इस विशिष्ट जीतों के गीतों में कला-पक्ष भाव-पक्ष के समकक्ष ही रहता है।

ये गीत उत्तरव, ल्यौहार तथा जीवन के भूम्य क्षणों को रस-न्यायित करने के निमित्त विशेष काप से नाये जाते हैं। उनमें साहित्य की हृष्टि से भी नाना प्रकार की सद्भुत अंजनाधों के दर्शन होते हैं तथा भावों के उत्तार-नहराव के साथ ही स्वरों में भी विज्ञाप्त उत्तार-नहराव निहित रहता है, जो उन्हें

प्रदितीय सोन्दर्ये प्रदान करता है। वे ही ऐसे गीत हैं जो चिरकाल तक मनुष्य के दुःख-मुख में सच्चे जीवनसंगी का काम करते हैं। इन गीतों में मानवीय जीवन की मूलभूत अभिव्यञ्जनाओं तथा समर्पित जीवन का सुन्दर चित्रण रहता है। मानव-मन की विविध स्थितियों में जो अभिव्यञ्जनाएँ स्वामात्रिक होती हैं, उन्हीं का उनमें चित्रण होता है। वे समूर्ण समाज को मान्य होती हैं, सबके मन को भासी है, सबको भाव-स्थितियों में रम जाती है। प्रत्येक व्यक्ति उनमें अपनायन प्रयत्नमन करने लगता है तथा उनकी स्वर-सहरियों में रमता हृदा सरावोर हो जाता है। पारिवारिक जीवन की इन मूलभूत अभिव्यञ्जनाओं को चित्रित करनेवाला एक राजस्थानी लोकगीत स्वरतिषि सहित प्रस्तुत है :-

### पारिवारिक गीत

जधर पुराणो पिया पड़मपो जी तिड़कन लागा बौम  
 तिड़कन लागा बौम औ जी पिया बौम  
 घब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी ।  
 बादल में चमके ढोला बीजली जी, भेठी में डरये घर री नार  
 भेठी में डरये घर री नार, औ जी पिया नार  
 घब घर आय जावो म्हारा बालमा हो जी ।  
 गोरी तो भीजे ढोला गोलडे जी, घालीजो भीजे परदेश  
 घालीजो भीजे परदेश, हो जी पिया देश  
 घब घर आय जावो गोरी रा बालमा हो जी ।  
 कुओ छू तो ढोला यागलू जी, समन्दर याम्हो नी जाय  
 समन्दर याम्हो नी जाय, हो जी ढोला जाय  
 घब घर आय जावो कूल मुलाव रा हो जी ।  
 टावर रहे तो घालीजा राललू जी, जीवन रास्यो नी जाय  
 जीवन रास्यो नी जाय, हो जी ढोला जाय  
 घब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी ।  
 चिनको छू तो पिया तोइलू जी, ग्रीत न तोहो जाय  
 ग्रीत न तोहो जाय, हो जी ढोला जाय  
 घब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी ।  
 घस्सी ने टका री पिया लाकरी जी, लाल मोहर री घर री नार  
 लाल मोहर री घर री नार, हो जी पिया नार,  
 घब घर आय जावो बरसा मोकळी हो जी ॥

## स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा सा सा रे	ग म य म	- गम य प	मप यप म ग
छ प र पु	रा लो पि या	इ पड़ ह ग	योड़ डी त
म रेम ग रे	सा - रेम मम	म रे - -	- - - रे
इ तिङ्क क न	ला ३ गाइ ५५	बा ५ ५ ५ ५	५ ५ ५ स
- सारे हे रे	रेम गरे गम मम	म रेम य सा	प प मम म
इ तिङ्क क न	लाइ ५५ गाइ ५५	५ ब्राइ ५ स	हो ली दोइ ला
रे रेम ग सा	सा रे सा नी	- गप नो नी	सा सा रेम यम
इ ब्राइ ५ म	घ व घ र	५ ब्राय जा यो	व र लाइ ५५
गम रेम ग रे	सा - गरे नी	सा - - -	- - - -
इ मोइ ५ क	ली ५ होइ ५	बी ५ ५ ५	५ ५ ५ ५
x	२	x	२

ऐसा गीत भी इसी पुन में गावें।

इस राजस्थानी स्तोकगीत में एक विरहिसी स्त्री द्वपने विचुड़े हुए प्रीतम से कहती है कि इस धर के छापर भी पुराने पड़ गये हैं, उसके बांस तिङ्कले लगे हैं, अधरधिक वर्षों से समस्त छह भी टपकने समी है, अब तुम कीदृष्ट ही पर आजाओ। बाल्लों में विजली चमक रही है, जिससे तुम्हारी ग्रियतमा नयभीत होरही है। तुम्हारी गोरी धर के गवाढ़ में भीज रही है और तुम परदेश में भीज रहे हो। हे ग्रियतम। यदि कोई साधारण कुप्रा होता तो उसकी गहराई का पता लगा लेती, परन्तु इस ग्रेम के गहन समुद्र की गहराई मुझसे नापी नहीं जातही है। अगर बच्चा होता तो उसे मैं समझा बुझाकर सेवात लेती, परन्तु मह मेरा योवन मुझसे सेवाता नहीं जा रहा है। यदि पम होता तो मैं पड़कर संतोष कर लेती, परन्तु मेरा यह मान्य मुझसे बोचा नहीं

जारहा है। हे प्रियतम ! तुम्हारी यह परदेस की नीकरी तो मास्ती टके (पैसे) की भी नहीं होगी, परन्तु तुम्हारी ही तो एक जात मोहर की है। अब गीध ही उसकी मुप लो और तुरंत घर आजाओ। मुझे तुम्हारा तियोंत महा नहीं जाता है।

इति गीतों की तथा मठपम दर्जे की होती है, न बहुत धर्विक दृत और न वित्तमिति। लग का यह कम गीतों में धर्विक्षित काव्य की व्यञ्जनाप्रयोग पर भी धर्वतमिति रहता है। यदि धर्विक्षिक हर्ष-उल्लास का गीत है तो उस गीत की लग कुछ तेज और स्पष्ट होती है। यदि गीत का भाव-पक्ष विपाद की धर्विक्षितना करता है तो उसको लग यथेष्ठाकृत भीभी और गुरी हुई होती है। ऐसे गीतों की संख्या भी सर्वाधिक होती है तथा नोकगीतों की धर्विकांग व्येरियों इसी एक विशिष्ट घोरों में समाविष्ट होती है।

### नृत्यगीत

ये गीत अन्य गीतों की तुलना में अपनी विशेषता रखते हैं। लोकनृत्य तथा लोकसंगीत दोनों ही अपने अन्मकाल से ही एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ नृत्य है वहाँ गीत अवश्य है। कर्णोंकि विना गीत के लोकनृत्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। नृत्य और गीत की उत्पत्ति के कारण प्रायः एक ही है। आन्तरिक उच्छ्वास के समय मानव-भूत एक ही साथ शरीर में उभयं तथा हृदय में स्वर की निष्पत्ति करता है। ऐसे समय जो गीत उत्पन्नित होते हैं, वे धर्विक्षिक मतिशील होते हैं। नृत्यगीतों में स्वर-सौण्डर शब्द-सौण्डर से कहीं धर्विक्षिक वक्तिवाली होता है। इन गीतों में बहुधा स्वरों की सीमा तकियत तथा रचना सरल होती है। कहीं-कहीं तो गवर्द्धों का लोप ही होता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं। इन गीतों का भाव-पक्ष प्रायः दुर्बंध ही होता है। कुछ गीत ऐसे भी हैं, जिनको रचना केवल नृत्य के प्रयोगन से होने के कारण सालवाच की तात के समान मात्रम होते हैं। यादिवालियों के धर्विकांग गीत इसी प्रकार के हैं। नृत्य की भाव-भेदभावों और मतिविधियों के समानान्तर ही इन गीतों की रचना होती है। इन गीतों में स्वरों की उल्लंघनहृद धर्विक मात्रा में रहती है। नृत्य की एक जात से दूसरी जात पर मुद्रकने के लिये स्वर भी कुदकते रहते हैं और किसी मन्त्र स्वर से तृतीय तीस-चार स्वर खोड़कर अन्य स्थान के स्वरों को बाजा करते हैं।

इन गीतों की रचनाएँ बहुधा नृत्य करते समय ही होती हैं। नृत्यनिरत मत की उभयं नृत्यानुकूल ही स्वरों की निष्पत्ति करती है, जो धीरे-धीरे स्व

हो जाते हैं, उन्हें पद्धत का आमा बाद में पहिनाया जाता है। नृत्यगीत सामूहिक और सामुदायिक होने के नाते उनकी स्वर-रचना भी विशिष्ट प्रकार की होती है। इन गीतों में स्वरों को ऐचीदणियाँ नहीं के बराबर होती हैं। ऐसे गीत अधिकांश ललप्रधान होते हैं, जिन पर अनायास ही पांच चल पड़ते हैं। ऐसे नृत्यगीत जब सामूहिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं तो दर्शकों पर उनका विचित्र सा प्रभाव पड़ता है। नृत्य जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मतिहौस बन गया है और उसके साथ उसनेवाला गीत उसकी ताज में परिवर्तित हो गया है। ऐसे नृत्यगीतों में नहुआ-ताल-वाद की लक्षणत नहीं पड़ती, क्योंकि वे स्वयं ही ताल-वाद बन जाते हैं। इस प्रकार के एक राजस्थानी नृत्यगीत का नमूना स्वरलिपि सहित प्रस्तुत है—

### नृत्यगीत

हुलोनी डमरायी म्हारा माया ना मोडीला राज  
मोडीला बोधी ने मरवा तम्ही किया जाता राज  
मोडीला बोधी ने हम्मी लेता रा रखवाली राज  
बारा बारा बरसाऊ मरवा तम्ही किया जाता राज  
बारा बारा बरसाऊ हम्मी चाकरिया ने म्हाता राज  
बारा बारा बरसाऊ म्हायी बाडियो तूनी रई थो राज

### स्वरलिपि ( ताल लेमटा )

प - प	नी	नी	नी	सा	-	सा	नी	सा	-
हा १ लो	नी	ड	म	टा	१	लो	म्हा	य	१
ऐ - रे	रे	सा	म	रे	सा	या	सा	-	सा
मा १ या	गा	मो	३	डी	१	मा	रा	१	ज
×	०			×			०		

( शेष गीत भी इसी पुन में माया जायगा । )

यह राजस्थानी भीतों का एक नृत्यगीत है, जो उनके प्रत्येक नृत्य प्रसंग पर नाच के साथ गाया जाता है। इसकी स्वर-रचना में जो लल के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनमें नृत्यनिरत-स्वी पुरुषों के पद-संबंधित में स्फुरणा उत्पन्न होती है, विशेषकृप से वर्ण्यन पोषण है।

नृत्यगीत भी नानाप्रकार के होते हैं। वे गीत जो धार्मिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं, उनकी प्रहृति वैसी ही होती है, जैसी धार्मिक गीतों के संबंध में वर्णित की गई है। कुछ गीत ये हैं, जो उत्सव, त्योहार सम्बन्धी नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। इन गीतों का ताल-अंग धार्मिक नृत्यों से भी अलिंग प्रश्नान्तर प्राप्त होता है। उनमें शब्द का महत्व धार्मिक नृत्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीतों में कुछ अधिक होता है। कुछ विशिष्ट प्रकार के नृत्यगीत ये हैं, जो संचार में अपेक्षाकृत कम होते हैं और मोड़-मंगल के समय छोटे समृद्ध तथा कमी-कमी दैरिक्तिक नृत्यों में प्रयुक्त होते हैं। ऐसे गीतों का ताल-पद्धति गीण तथा शब्द और स्वर-पद्धति अपेक्षाकृत प्रबल होता है। इन गीतों की लय प्रायः धीमी होती है। एक प्रकार के नृत्यगीत ये हैं, जिनमें शब्दों का कठई लोप हो जाता है, केवल स्वर ही स्वर रह जाते हैं और नृत्यों में उन स्वरों की केवल गूँज ही गूँज प्रयुक्त होती है। आदिवासियों के अनेक नृत्यों में इस प्रकार के गीत प्रयुक्त होते हैं, जिसे करके मणिपुर तथा चिपुरा की आदिवासियों में ऐसे गीत अत्यंत विलम्बित रूप में संचरित होते हैं, जिनकी लय बहुत ही धीमी होती है, क्योंकि विना शब्द-चयन के केवल स्वरों की बंदियों नंगी सी लगती है और कुछ हृद तक निष्ठाएँ भी। इन गीतों की रचनाएँ दो या चाहे स्वरों से अधिक की नहीं होती और ये केवल स्वरों के निररोक जोड़-तोड़ सी प्रतीत होती है। एक प्रकार का नृत्यगीत यह है, जो नृत्यों के साथ प्रयुक्त तो होता है, परन्तु जिसे नृत्यकार स्वयं गहो गाकर दर्शकगण गाते हैं और नृत्यकार उस पर नृत्य करते हैं। नृत्यकारों को स्वयं ये गीत नहीं पड़ते, परन्तु इनकी लय अन्य गीतों से सर्वाधिक तीव्र तथा द्रुतगामिनी होती है। सम्युक्तगीतों में वहाँ नृत्य के निमित्त द्रुतसम की सावधयकता होती है, वहाँ वह नृत्यकारों को यका देनेवाली भी होती है, क्योंकि उन्हें स्वयं को नाना भी पढ़ता है और नानना भी।

इन कियाशील गीतों के संबंध में एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह है कि जो गीत स्थियों डारा गाये जाते हैं उनकी लय धीमी तथा उनकी गति चक्रकार होती है। उन्हें सुनते समय वह पता नहीं सग रकता कि वे कहाँ से आए होते हैं और कहाँ चरम होते हैं। उनकी एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति का वितरण बहुत कठिन होता है। स्थियाँ नाचते समय यपनी धून में ऐसी रस जाती है कि वे प्रत्येक पंक्ति को एक ही धून में पुमाती जाती हैं। इन गीतों की अपेक्षा पुरावों के गीत अधिक गतिशील और लयप्रवान होते हैं। उनमें कमनीयता कम और सजीवता अधिक होती है। नृत्यगीतों में एक महत्वपूर्ण भेद और है, वह

है एक ही जगह बैठकर गाये जानेवाले और चलते-फिरते गाये जानेवाले गीतों का । राजस्थान के जादी, विवाह, माँड़, केरे, पूर्वज, रातीजने आदि के गीत, जो स्त्रियों द्वारा एक ही जगह बैठकर गाये जाते हैं, उपर और स्वर-रचना की हाइट से अत्यंत शत्रु होते हैं और मंदगति में गाये जाते हैं, परन्तु मेलों-ठेलों में जाते समय गाये जानेवाले गीतों की उपर घटि तीव्र तथा बलिदाने अत्यंत चुस्त होती है ।

### इतिवृत्त्यात्मक गीत

इन गीतों का नेय पश्च अत्यंत दुर्बल और बर्षण पक्ष बहुत ही प्रबल होता है । उनमें केवल शब्दों का जात विद्धा रहता है तथा उनकी स्वर-रचना बहुत ही प्राथमिक और शिखित होती है । उनकी स्वर-सीमा संक्षिप्त और रचना मुनने में बहुत ही दीली होती है । इन गीतों में राजस्थान के पहुँ-गीत, महाराष्ट्र के पवाड़े तथा राव-माटों के विशदावली-गीत शुभार होते हैं । ये गीत विशिष्ट याचक जातियों द्वारा प्राप्त यथमानों की प्रशंसा में गाये जाते हैं । कई गीतों में केवल वर्णों के तात्त्व होते हैं जो थोड़े स्वरों में पुष्ट-वर-पुष्ट गिनाये जाते हैं । कुछ में केवल प्रसंसासूचक शब्दों का जात विद्धा रहता है । कुछ गीतों में किसी देवता का गुण और नीरस गुणगान मात्र रहता है । कुछ में केवल वस्तुओं, प्रोशकों तथा अलंकारणों की सूचियाँ गिनाई जाती हैं । ये गीत प्रायः शब्दप्रधान होते हैं तथा ऐसे स्वरों में गुण हुए होते हैं, जो गाने में केवल कविता-पाठ से प्रतीत होते हैं । इन गीतों में एक विशेषता यह है कि गाते समय गीत की पंक्ति के अंत में एक ही स्वर पर रुकाकर काफी मात्राओं तक एक विशिष्ट प्रकार की पुनर्पैदा करने की जेष्टा की जाती है । महाराष्ट्र के पवाड़ों में जैसे ओ, जी, ओ, राजस्थान के पहुँ-गीतों में रे रे रे, ए ए ए आदि शब्दों की नेय हाइट से पुनरावृत्ति की जाती है । सब तो यह है कि समस्त गीत में यही उसका नेय पक्ष है, जेष्ट सब केवल नेय यथमात्र है । ये सब गीत प्रायः तीन स्वरों में ही चलते-फिरते हैं । उनमें कोई उतार-चढ़ाव तथा वैविध्य नहीं होता तथा उनका काव्यपक्ष भी प्रायः कुछ नहीं के बराबर होता है ।

### अवधारिक लोकगीत

लोकसंगीत का यह पश्च संगीत की हाइट से अत्यंत संपन्न तथा महत्वपूर्ण पक्ष है । अवधारिक जातियों द्वारा गाये जाने के कारण वह संगीत के लोक-पक्षीय तत्त्वों से कुछ विसर्ग प्रवृश्य हो गया है, परन्तु उसकी धारा अभी भी

लोकसंगीत की ही है। इन गीतों के पीछे शास्त्रीयिका उपांडेन का उद्देश्य सम्मुख रहने से के इन जातियों द्वारा विशेषकृत से सजाए-सेवारे जाते हैं। इन की स्वर-रचनाएँ प्रत्यंत परिणाम, प्रावल, रमधूर्ण, सर्वगुणवस्त्र तथा वैविध्यपूर्ण होती हैं। गेय मुलों से शोतप्रोत इन रचनाओं का स्वर-संचार भी अत्यन्त विषय होता है। शास्त्रीय संगीत की तरह ही इनमें स्थाई, अंतरे का स्वरकार कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगता है। इन गीतों के भूल कलेवर को छोटी-छोटी मुरकियों, तालों तथा विदेष भट्टों से सजाया-संचारा जाता है। इनकी ताले भी कुछ हद तक वक्त होती जाती हैं, जैसे भूमरा, चालर पादि। इन जातियों द्वारा अपने यजमानों के सम्मुख गाये जाने के कारण इन गीतों में काफी प्रीड़ता आमहै। इनमें महायात्रु के पवाहे, राजस्थान की नोड, लालियो, उत्तर प्रदेश की कबरी, राजस्थान की शोल, पीली, पीमली आदि गीत शुभार किये जा सकते हैं। कुछ गीत शास्त्रीय संगीत की तुमरी जीती के बनुरूप हैं। कुछ का गेय पल इतना प्रबल है कि कठियप शास्त्रीय संगीतज्ञ भी इन्हें अपनाने जाने हैं। इन गीतों में स्वर-सौन्दर्य के साथ ही काव्य-सौन्दर्य भी प्रचुर मात्रा में है। कुछ गीतों की जलत फिरत शास्त्रीय संगीत की ज्यान जीती के बनुरूप है, स्वरों की बंदिश में रहकर भी उनमें इधर-उधर संचरित होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। राजस्थान में इस प्रकार के संगीत की पोषक घोर रक्षक जातियों में दोनों, मिरासी, लंडे, भाट, डाढ़ी, सरसहे, भोजे, राच, बैरागी, कामड़, कलावंत, बारेठ, भाड़, भवाई पादि जातियों शुभार हैं। ये गीत विशेषकर संगीत के जलसों, दावतों, विवाह-जातियों तथा मांगलिक घवसरों पर संस्कारिक गीतों की तरह कुछ विशिष्टताओं द्वारा गाये जाते हैं। इनमें साहित्यिक छटा के दर्शन होते हैं और यायक के व्यक्तित्व की छाप भी इन पर अंकित रहती है। गानेशाला भी उन्हें अपनी कचि के बनुरूप बना लेता है। इस प्रकार के गीत के उपाहरणस्वरूप एक राजस्थानी भाड़ स्वरतिष्ठि सहित प्रसुत की जाती है —

## व्यवसायिक गीत

मोड़

महारा सोबोडा मोती हाजे तो ने चालू मुरधर देस  
हाजे हाजे हो से चालू मुरधर देस रे बहु मेंगा मोती  
हाजे तो से चालू मुरधर देस

## दोहा

ए रे मोती सीप का कोन तपस्या कीम  
कचन के डिग बैठ के, सो अधरन को रस लीन  
रे भगु मेंगा मोती हाले तो जे चालू मुरघर देस

## स्वरलिपि (ताल दादरा)

							सा	सारे	मी
							महा	राइ	उ
ता ग ग	गमध	प	-	ग	ग	-	पथनीसा	ष	म
सा चो छा	(मोइ)	तो	५	हा	ले	५	(तोइङ्ग)	३	ले
मव म रेसा	(सारे)	गरे	गसा	सा	-	सा,	गम	पथ	नीसा
चाइ लू ५	(मुर)	षड	(ग्न)	दे	५	स,	हाँड	५	५
नी सो -	मी	सो	-	मारे	मी	षण	पथ	नीष	मीष
हा ले ५	तो	ले	५	चाइ	लू	५	मुर	षड	५
पथ सानी ष	प	म	गम	गरे	ग	-	गमध	प	-
देइ ५ स	रे	ष	सोइ	(मेइ)	सा	५	(मोइ)	तो	५
ग म -	पथनीसा	ष	म	मप	ग	(ऐसा	सारे	गरे	गमा
हा ले ५	(तोइङ्ग)	५	ले	चाइ	लू	५	(मुर)	षड	५
सा - सा,	सा	सारे	मी	सोचोङ्गा	मोती				
दे ५ स,	महा	(राइ)	५						
X	०			X			•		

## दोहा (विना ताल के)

नमपञ्चनीसाँनी नी - नी - नी - नी - रे सारें नीसो धनी - - ध  
 हों  $\underbrace{555555}$  ए ३ रे १ मो ५ तो १ सी ५ प का५ ५५ ५५ ५५ ५५  
 सो - सो सो सो - नी रे सो - - - - - सो  
 को ३ न त प १ स्वाँ८ की ५५५३३५६ न,  
 नी - नी नी नी - नी नी नी - नी साँनी धनी - - ध  
 को १ च न के ५ दि ग वै ३ ठ के५ ५५ ५५ ५५  
 सो सो सो सो सो - नी रे  
 ध ध र न को १ र स

## (ठेका शुण्)

साँनी	रेसों नी	ध	पञ्च	प	ग	गम	रेस	म	प	-
नी५	५५ म	रे	१८	ग	मैं	गाँ५	५५	मो	ती	५
ग	म -	पञ्चनीसो	ध	म	ग्र	ग	सा	सारे	गरे	गसा
हा	ले५	५०५५५	३	ले	चाँ५	लै५	५	मुर	धै५	४५
सा	- सा,	सा	सारे	नी५						
वे५	१ स,	म्हा५	राँ५	५,	सांचोडा५	मोती५				.....
X		○			X			○		

इस लोकमीत की स्वर-रचना गास्त्रीय संगीत को उमरी-रचना के समान है। अवसाधिक जातियों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसे अत्यन्त प्रसंकृत हो जाया जाता है।

## नाट्यगोत्र

इस गीत की कुछ शब्दों में मृत्युगीतों की थेरी में आ जाते हैं, किंतु भी उनको घण्टों प्रहृति तथा उनका घण्टा अर्थात् है। ये गोत्र नाटक

के साथ आये जाते हैं, इसलिए इन्हें नाट्यसंगीत की संबंध प्राप्त है। लोक-जीवन में जो अनेक नाट्य विस्तरे हुए हैं, उनके मुख्य माध्यम ये हों गीत हैं। भारतीय परम्परा में लगभग सभी लोकनाट्य पर्वों में ऐसे जाते हैं। ये पश्च अत्यधिक ऊचे स्वर एवं विविध घुनों में इसलिए आये जाते हैं, जिन्हें अभिनेताओं को बिना छवि-विस्तारक यन्त्र के स्वर्य माकर अपने सहसारों के साथ बातचाप द्वारा अपना बाणी-नालित्य दर्शाना पड़ता है। इन नाट्यगीतों में ऐसे तर्स्वों का अभाव रहता है, जिन्हें ये नाट्य के कथोपकथन के रूप में प्रयुक्त होते हैं, स्वतन्त्र गीतों के रूप में नहीं। यदि अभिनेता गीतों की बारी-कियों में ही फैसलावें तो निश्चय ही कथोपकथन अपने मूल उद्देश्य से गिर जाय। इन ऐसे संचारों के साथ अभिनेताओं को अपने घंगों का नाट्योचित संचालन भी करना पड़ता है, इसलिए नाट्यगीतों की स्वर-रचना भी विशेष प्रकार की होती है। गाते-गाते कहीं भी गीत को तोड़ना पड़ता है, अतः लय की हट्टि से जो जगह गीत में पैदा हो जाती है उसे अभिनेता लय-तालयुक्त अंगभगिमाझों के संचालन से भरता है। चूंकि ये गीत अभिनय आदि के साथ स्वयं संचार बनकर अवतरित होते हैं, इसलिए उनमें प्रायः ताल की बक्ता तथा लय का टेहुपत रहता है। प्रत्येक अभिनेता अपने अप्स्ट्रिलिय का चमत्कार दर्शने के लिए इन गीतों को अत्यन्त अलंकृत ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश करता है।

ये नाट्य विशाल जगत्समूह के समझ कुले में प्रदर्शित होते हैं, इसलिए गीतों को अपना बाणी-चमत्कार दर्शाना चक्खी होता है। यही कारण है कि उनके गीत-संचार आताप्रधान होते हैं तथा ऊचे स्वरों में गाये जाते हैं। प्रत्येक गीत की अन्तिम चौकि को लम्बी आलाप के साथ माना पड़ता है, जिससे उसको आवाज दूर तक फैल सके और लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो सके। घटों तक नाट्य-गीतों को रंगमञ्च पर अनेक भूमिकाएँ अदा करनी पड़ती हैं, इसलिए उनके गीतों को उठाने के लिए रंगमञ्च पर अनेक सह-गायक भी होते हैं। पाल जब गाते-गाते यक जाते हैं तो सह-गायक उनके गीत-संचारों को स्वयं गाने लगते हैं और उन्हें (गीतों को) अपना अंग तथा पद-संचालन अत्यंत चमत्कारिक ढंग से प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। उस समय सह-गायक भी अपनी अतिमा का परिचय देने लगते हैं। यही कारण है कि नाट्य-गीत स्वतन्त्र गायेजानेवाले गीतों से अत्यन्त भिन्न होते हैं, उनकी अदिशो ही ऐसी होती है कि वे बैठे-बैठे गाने ही नहीं जा सकते, उनके साथ कियाघों का मैल होना ही चाहिए। इसलिए ये गीत कम स्वरों में सीधी लय के साथ ऊचे जाते हैं, तथा उनका स्वर-संचालन मध्य और तार सफ्टक ही में होता है।

ताकि प्रधिक से प्रधिक जनता को उनका साम भिल सके । ये गीतसंबाद चातौराप के रूप में घाराप्रवाह प्रयुक्त होते हैं । इसलिए उनकी मुन बहुधा एक समान ही होती है । तथा शोट-शोटे पदों में उनका विमावन होता है । नाथसंगीत लोकसंगीत का बहुत ही महत्वपूर्ण पक्ष है । यद्यपि ये पक्ष का विविध उसमें नहीं है, फिर भी तथा का अमलकार उसमें चरम सीमा तक पहुँच गया है । अवसायिक नाथसंगीत का उत्तम उदाहरण राजस्थान के इस व्याल-मीत में देखिये—

### व्यालगीत

( स्थाई )

बड़ी छै निरभागण तू' राणी  
बड़ी छै निरभागण तू' राणी...  
पारस भेटा होय ॥ बड़ी छै...  
उतर जाये मुखड़ा रो पाणी  
उतर जाये मुखड़ा रो पाणी...  
पारस भीक न होय ॥ बड़ी छै...  
( अंतरा )

बणवारो बोतल नर बैट्ठो, मारी छै मतवाल  
निरभानैस्तो सनसुख आयो, चैपड़ दीनी डाल  
याँ छै निरभागण तू' राणी.....

( शेष नीत वहाँ उद्धृत नहीं किया गया है । )

### स्वरजिपि ( ताल कहरवा )

स्थाई

			सा	सा	ग	ग	म
- श्व म ग	सारे नी सा रे	ग - -,	सा	ब	डी	है	नि र
५ माँ ग गा	तू' ३ रा ५	री ३ ५, ब					
- नी नी नी	सानी साँवपच म	मय ग ग, सा					
* पा र स	भै॒, ३ टाँ॑ ५	हो॑३ य, उ					
×	०	×					०

- गप म ग	सारे नी सा रे	ग - - , सा	- - - -
५ मुख छा ५	रोड ५ पा ५	रो ५ ५, ५	५ ३ ५ ५
- नी नी नी	सानी सांध पथ म	मप ग ग, सा	सा ग ग म
* पा र स	पीड ५ कृ न	होड ५ य, उ	त र जा मे

मुलवा दो वासी.....

## अंतरा

सासा सा ग गम	पप पप ग ग	- पप घ घप	पथ सानी ग्र ग
बहु आ रो बोड	तन भर वै ल्हो	३ भानी छै मत	बाड ३ ५ छ
साम ग ग म	गम मप मग म	- नी नी नी	सानी सांध पथ म
मिर गा मे ली	सग मुल शाड लो	३ चो व ह	लीड ३५ लीड ३
मप ग ग, सा	सा ग ग म		
बाड ३ ल, व	ही छै नि र	आमला तै रासी.....	.....
X	*	X	*

इस गीत की स्वर-उच्चता से लम्बकारी पद-संचालन के असम्भव अनुरूप है उथा समस्त गीत के गाते समय संभाषण-परिपाठी का पूर्णरूप से पालन किया गया है।

## लोकसंगीत का तालपत्र

लोकसंगीत का ताल-नवा वित्तना बहिर होता है उसना लोक-संगीत का नहीं होता। नाधारणतः लोकसंगीत की संवेदन तार्क ३, ८, ९ या १० मात्रा में होती है और उसकी सब जग से सरलता की लिए हुए होती है। विस तरह लोकसंगीत को गुणित में जब उथा स्वर धनायाम हो उद्भूत होते हैं उसी तरह उसके साथ ताल भी गीत की प्रकृति के अनुकूल गठित होती जाती है। बैसे-बैसे गोत-रक्षिता के मन से स्वरों की निष्पत्ति होती है, बैसे-बैसे उसके मन में भ्रनेक उर्फे उठती रहती है। यदि उसके भावों की

निष्पत्ति वक्र है तथा उसका मन अतिशय उद्दिग्न तथा अनेक गुणियों से उत्तम हुआ है तो उसके प्रभुरूप ही उसके स्वर अत्यन्त गुणित तथा जटिल होते जाते हैं । ऐसी विषय स्थिति में गीत की ताल भी वक्र होती है । यही कारण है कि हर्षोल्लास के गीत जितने सरल, सुगम तथा प्रचलित लय में होते हैं, उतने विषयाद के गीत नहीं होते । यहीं यह भी समझना असंगत नहीं कि भावों और स्वरों का जितना सामंजस्य लोकगीतों में होता है, उतना कहीं नहीं । यदि रचयिता का मन किसी विषयाद से उद्दिग्न है तो उस गीत की स्वर-रचना भी उस विषयाद को उद्दीप्त करने वाली होगी । इसी तरह जब उसकी हृदय-त्रियों उल्लास के अतिरिक्त से विरक्ति सगती है तो उस समय की स्वर-रचनाएँ भी उस उल्लास के उद्दीपन में मदद करती हैं । इस उद्देश्य की पूर्ति गीत की लगभगी करती है । साधारणतः लोकगीतों की लय में वक्रता नहीं होती और जो भी वक्रता कहीं-कहीं परिलक्षित होती है, वह भावावेग के कारण ही होती है ।

लोकगीतों की तालें सीधी, लटकेदार, लयप्रवान तथा चक्राकार होती हैं । प्रत्येक गीत में एक स्थान पर मान होता है, जो जास्तीय संगीत की भाषा में सम कहनाता है, परन्तु सम और मान में बड़ा अन्तर है । जास्तीय संगीत के सम में अन्य माजाओं का परिमाण निहित रहता है । उससे संगीतकार को अपनी माजाओं की सीधा का पता लगता रहता है, जिससे वह अपनी स्वर-विस्तार-मोजना का नियोजन करता है । यह उसके लिए वह भील का गत्पर है, जिससे वह अपनी वायन-संचरण-पाजा का सही प्रभुमान लगता है, वही उसकी विश्वा-निर्देश करता है और महीनलत का मान करता है । मान और सम लय के वे स्थान हैं, जो सभी रचनाओं में होते हैं, जहे वह जास्तीय संगीत की रचना हो, जहे लोकसंगीत की । वे संगीत के मेलदब हैं, जहो से लय का चक्र गुरु होता है, और पुनः वही पर समाप्त होता है । यदि यह मेलदब नहीं हो तो लय जिन उद्देश्य के चक्रकर लगाती रहे और संगीतकार की उस चक्र में तुरी तरह उसभा दे । जास्तीय संगीत के सम में अन्य घटकों के आसने निश्चित रहते हैं, परन्तु लोकसंगीत का मान इस प्रयोजन से नहीं होता । लोकसंगीत की लगभग सभी तालें उनके लटकों की हाप्ति से मान से बदावर कामने पर होती है और चाचर, दीपचंदी आदि तालों की तरह, लय के स्थान बदावर कामने पर होते हुए भी उनमें स्थानों का अन्तर रहता है, परन्तु उनका सम अन्य एक ही होता है । परन्तु जब वे संचरण के समय कियाजील होती हैं तो उनमें अनिवार्य रूप से वक्रता का भावाव भिजता है । भूमरा, भाचर, दीपचंदी आदि तालों में यही विशेषता है ।

बहुधा लोकसंगीत के मान के साथ जो तीव्रा लगाने को परम्परा है, उससे कभी-कभी शास्त्रीय तालों का भ्रम होता है। शास्त्रीय संगीत के तीव्रे सभी तालों के साथ प्रयुक्त किये जाते हैं तथा प्रत्येक ताल में तीव्रे के अलग-अलग स्थान नियत हैं। दुगुन, चौगुन तथा सामारण लग के तीव्रों के उठान के स्थान शास्त्रीय संगीत में अलग-अलग होते हैं, परन्तु लोकसंगीत के तीव्रों में कोई पूर्व नियोजन नहीं होता। लोकसंगीतकार जो यह भी मालूम नहीं कि मान कहाँ पर है, उसका अमुक गीत में कहाँ से उठाव होता है, कहीं से उठने पर तीव्रा मान पर सही था सकता है। परन्तु फिर भी वह गाते समय सही मान का अनुमान कर ही लेता है और बचाने वाला असजाने ही मान पर प्रत्यन्त सही बगह तीव्रा लगा देता है। जिस तरह लोकसंगीत का वाय्य-कार अपने तारों के बाज बिना स्वर-ज्ञान के सही घोर गुह्य तरीके से मिला लेता है, उसी तरह गाने-बचाने वाला मान के माने में बगह का मान नहीं होते हुए भी कभी गलती नहीं करता। राष्ट्रस्थान के भवाई कलाकार की ढोनक मुनकर हम आश्वर्यंचकित इसलिए हो जाते हैं कि वह अनजान ही में बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ढोनक पर प्रत्यन्त बकरति की जाने बजाकर अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है। भवाई नृत्यकार भी उसके साथ प्रत्यन्त बकरति से नाचकर बिलखण्ड चमत्कार दर्शाते हुए उसे भासमान के तारे दिलाता देता है। भवाई की ढोनक-बादन-कला लोकदीनी की हीकर भी शास्त्रीय बादनों को एक बार तो आश्वर्य में ढाल ही देती है।

लोकसंगीत में ऐसे अनेक लोकगीत हैं, जिनका ताल-यथा चिल्कुल स्पष्ट नहीं होता, केवल लगमात्र से ही उसका काम चल जाता है। यहाँ लय और ताल का भेद भी समझ लेना आवश्यक है। लय गीत की वह स्वाभाविक चाल है, जिस पर भीत की मूलरचना का आधार होता है। हवा में जो बूँद के पत्ते हिलते हैं वे भी लय में हिलते हैं, कोयल जब कुट्टकरी है तब भी वह लय ही में कुट्टकरी है, बादल जब गरजते हैं तो वे भी लय ही में गरजते हैं, हम जब चलते हैं तो लय ही में हमारे होठ हिलते हैं, हम चलते हैं तब भी लय पर ही हमारे पौंछ उठते हैं। तथा वह प्रज्ञात और स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिस पर समस्त चाहाण्ड टिका हुआ है तथा विश्व की समस्त क्रियाएँ अवलम्बित रहती हैं। लय संचार-क्रियाओं को आत्मा है तो ताल उसका भारीर-यथा है। लय के विविध भागों, विभागों तथा अनुभागों के विविध समूह को ताल कहते हैं। उच्च पूछिये तो लोकसंगीत में ताल शब्द का प्रयोग ही गलत है, उसमें सब कुछ लय ही है, ताल जैसी कोई चीज ही नहीं है। शास्त्रीय संगीत में

लयकारी के अनेक नेव-अनुभेद करके ही तातों की कल्पना की गई है। तातों को गिनने तथा उनके फ़ासले निर्धारित करने के लिए जो शास्त्रीय टेक्नीक है, उसका नाम मात्रा है।

लोकसंगीत में तो लय ही सब कुछ है। यही लय गीत-रचना के अनुसार अपना विविध स्वरूप पहुँचा करती है। जिस तरह लोकगीतों की रचना में रागों का चयन अनामाम ही रचनाकार की भाव-तरंगों के परिणामस्वरूप निर्धारित हो जाता है, ठीक उसी तरह लय भी इन गीतों में अपना स्वरूप अपने-आप निर्धारित कर लेती है। जिस तरह विविध तातों शीलनी पड़ती है, उस तरह लयकारी सीखनी नहीं पड़ती। वह लोकगीतों में अपने स्वाभाविक ढंग से ही समाहित रहती है। जास्त्रीय संगीत में संगत करनेवाले तबलिये तात भूल सकते हैं, परन्तु लोकसंगीत में संगीतकार याते समय अपनी लय कभी नहीं छूकता।

### आदिमसंगीत और लोकसंगीत में अन्तर

लोकसंगीत विकास की अपनी पहली सीढ़ी में वैयक्तिक सौमा में ही संचरण करता है, बाद में वह सामाजिक गुण प्राप्त करता है। महाकल अनादिकाल से ही चला आरहा है। जिस समय मनूष्य अमन्य समझ जाता था, वह गुफाओं और कंदराओं में निवास करता था, उसकी भाव-त्वितियाँ अत्यन्त प्राचीनिकावस्था में थीं, उस समय भानन्दातिरेक के खण्डों में जो व्यवनियों स्वतः ही उसके मूँह से निकल पड़ती थीं, वे ही अवस्थित और संपत्त होकर स्पान्तरित हुईं। वे व्यवनियों प्रथमधार वैयक्तिक दायरे में प्रविष्ट हुईं, तत्पश्चात् उन्होंने सामाजिक और सामुदायिक स्तर प्राप्त किया और लोकगीतों का दर्जा उन्हें मिला। मानव की आदिम अवस्था में उक्त पक्ष का निभाव होता रहा, परन्तु जब आदिमतोर्ग सम्भ होते गये, उनके गीत भी उनके साथ ही उभय हुए तथा वाव में समर्पित बनकर लोकगीतों को श्वेती में पाये। इस तरह और-और सम्भवता का विकास होता गया, मानव-सम भी उत्तरोत्तर परिष्कृत हुआ, कल्पनाएँ प्रांजलि और प्रीङ् होती गई और भावानिवृत्यजनाएँ संस्कार को प्राप्त हुईं। तानुसार लोकगीतियों में प्रांजलता और प्रीङ्ता की सृष्टि हुई।

विकास की उक्त कसीटी के अनुसार आदिमतोर्ग के गीत लोकगीतों में शुभार अवस्था होते हैं, परन्तु फिर भी वे अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं।

लोकगीतों के गुण इनमें विचारान होते हुए भी आदिमजातियों के सीमित शीखन तथा उनकी सीमित मानसिक और मानवात्मक प्रबलता के प्रमुखार वे एक तरह से प्राचीनिक ही बने रहे । आदिमजाति के गीतों की इसी इटि से देखना चाहिए । उनकी तुलना अम्य लोकगीतों के साथ करना उचित नहीं है । आदिमगीतों की भूख विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

उनका शब्द-नयन खोटा होता है तथा उनकी ताल अत्यन्त सरल और प्राचीनिक होती है । गीत अत्यन्त लयप्रधान होते हैं तथा उनके स्वरों का किराव केवल तीन-चार स्वरों तक ही सीमित रहता है । सीतों के शब्द भी अत्यन्त प्राचीनिक प्रबलता में होते हैं । उनमें बहुधा पुनरावृति विदेश होती है । ये गीत अधिकांश दृश्य के साथ चलते हैं, इसलिए वे लयप्रधान होते हैं । गीतों में ही ताल का धारास भिज जाता है । गीतों का साहित्य-पद्धत अत्यन्त दुर्बल होता है । सभी गीत सामुदायिक स्तर के होने से उनमें व्यासायिक गीतों की कहीं दू भी नहीं है । इन गीतों में वर्णन का बहुल्य होता है । एक पर्सिक से दूसरी पर्सिक का बहुमा कोई सम्बन्ध नहीं होता । इन गीतों का कलापक्ष नहीं के बराबर होता है । देवी-देवताओं की पूजा आदि में प्रयुक्त होने के कारण इन गीतों में साम्बद्धिकाल, दैवी प्रकोप तथा भूत-प्रेतों में विश्वास सूट-कूटकार मरा रहता है । उदाहरण के रूप में भीत जाति का एक भीत प्रस्तुत है —

### आदिमगीत

मैरू याने पूजा हो मैरू याने पूजा  
 मैरू मादल नो लंकी याने याने पूजा  
 मैरू मरारा ना मायल माए याने पूजा  
 मैरू भालर नो भमको बामे याने पूजा  
 मैरू याने पूजा हो मैरू याने पूजा

### स्वरलिपि (ताल लोमटा)

मी	-	सा	-	सा	-	सा	-	रे
या	३	ने	५	प्र	३	जा	५	हो

नो	-	नी	-	नो	-	नी	-	
मै	३	के	३	मै	३	के	३	

ती ८ सा ५ ने	-	सा ५ पू ५	-	सा ५ लो ५	-	सा ५ डे ५	-	ती ८ मै	ती ८ ह	-
ती ८ सा ५ द	सा	सा	-	सा	-	रे	सा	नी	-	
ती ८ सा ५ ने	-	सा	-	सा	-	को	सा	गै	-	
X	३	५	५	५	५	५	५	८	८	५
			०							

( ऐस पंक्तियाँ भी इन्ही स्वरों में गावें । )

राजस्थान के इस भीतीमीत में शब्द-बयन प्रायः नहीं के बराबर हैं । स्वरों की सीमा भी बहुत छोटी है । वेष्ट दो-चार स्वरों में ही इसका संचरण होता है तथा शब्दों की इसमें पुनरावृति मात्र है ।

### लोकवाच और वाचसंगीत

लोकसंगीत में वाचसंगीत का बहुत बड़ा महत्व है । दो वस्तुओं के संघर्षण से जो आधार निकली जाती है वाचसंगीत की कल्पना साकार हुई । उसी के पापार पर नानाप्रकार के प्रयोग हुए, जिससे लोक और शास्त्रीय वाचों के अनेक स्वरूप हुमें हासिल हुए । कंठ-संगीत की तरह ही वाच-संगीत का भी प्राप्तुभौत हुआ है । सर्वप्रथम निष्पत्ति लोकसंगीत की हुई, उसके बाद कुछ चिशिष्ट जनों ने वाचों में प्रयोग किये और अपने कंठ-संगीत को उसमें उतारा । वाच-संगीत कंठ-संगीत की तरह लोकशिल्प नहीं बना, व्योंगिक कंठ-संगीत में स्वामाविक नावान्तक अभिव्यञ्जना विना अन्यास तथा पूर्व प्रयास के ही होती है । यह प्रक्रिया लोकवाचों में उतनी ही सच्चाई के साथ लागू नहीं होती, व्योंगिक वाच बजाने में हस्तसाधय रथा और वाचसुर्य की आवश्यकता होती है । यदि वाच-वादन उतना ही सरल और स्वामाविक होता तो आज प्रत्येक मानव के पास कोई न कोई वाच अवश्य होता । कंठ-संगीत में व्यष्ट वाच को ही उपलब्ध करना होता है । वाच यदि घर में पहले से उपलब्ध भी हो तो भी कुछ तो पूर्णन्यास तथा प्रधिकारण की आवश्यकता होती

ही है । सभी ऐसे प्रतिभाएँ नहीं हुए करतीं जो अपने हाथ में वाच बाते ही बजाने लगती हों ।

वाचों में ताल-वाचों की उत्पत्ति सबसे पहले हुई, क्योंकि एक तो यह आसानी से उपलब्ध हो सकता है, दूसरा उसे बजाना भी सबसे आसान है । यदि कोई व्यवस्थित साक उपलब्ध नहीं भी हो सके तो भी वो चोरों को ताल में टकराने से सरल ताल की निष्पत्ति हो सकती है । यदि कुछ भी नहीं मिले तो भी दोनों हाथों से ताली तो बजाई ही जा सकती है । आदिकाल में मनुष्य की अपने भीत-मृत्यों के साथ जब ताल की आवश्यकता हुई तो भरे हुए पशुओं की जाल को मिट्टी के बर्तनों पर चढ़ाकर ताल-वाच बना लिया जाता था । उसके साथ ही शाली, लकड़ी आदि बजाने की भी प्रथा प्रारम्भ हुई । ये दोनों ही प्रकार के ताल-वाच आदि ताल-वाच हैं, जिनका प्राचुर्यविधादिम संस्कृति के साथ ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है । होलक, तबला, पत्तावज, छोल, चंग, दोल, नक्काड़े, डफ, लंजरी आदि वाच बाद में विकसित हुए । जंगल में कटे हुए बाँसों में धांधो-तुफानों से जब बायु का संचार हुआ और उससे जो भौति-भौति की आवाजें मुखरित हुईं, उससे फूंक-वाच की कल्पना साकार हुई । सर्वप्रथम एक ही घ्रेद को फूंकाकर स्वर निकाला जाता था और उसी को मूल स्वर (Basic note) मानकर हमारे प्राचिम भाष्यों ने अपने भीतों का गृजन किया । ये ही प्राचीमिक वाच बाद में बांसुरी, ग्रंथमोर्ख तथा नानाप्रकार के फूंक-वाचों में विकसित हुए । भूत जानवरों की जातें भी जने में जो तनाव उत्पन्न होता था और उसकी जांतों का नाना प्रकार की रसियों के स्पर्श में प्रयोग किया जाता था, वस समय उनके तनाव में जो तुनतुनाहट पैदा होती थी, उससे नाना प्रकार की छवियों का भूजन हुआ तथा उनसे तनु-वाचों की कल्पना साकार हुई । इस तनु-वादन के परिणामस्वरूप सबसे पहले बना हुआ वाच इकतारा है । इसी इकतारे के तार को कुछ-कुछ धन्तर से दबाकर बजाने से जो विविध स्वरों की सृष्टि हुई उससे अन्य तनु-वाचों का विकास हुआ । इन तनु-वाचों में भी चुटकी चुटकाकर बजानेवाले वाच और बाद में गज से बजानेवाले वाचों का निर्माण हुआ । वाचों की यह अल्प कला उसके संपूर्ण विकास और भौति-भौति के विकसित वाचों की ओर संकेत करती है ।

यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकांश वाचों की कल्पना कण्ठ-संगीत के बाद की कल्पना है जो कठ-संगीत को अधिक प्रभावशाली बजाने के प्रयोगन से ही प्रादुर्भूत हुई है । जो कवाचों का विकास मूलतः कठ-संगीत की संगत के लिए

ही हमा है । उनके स्वतंत्र प्रयोग की कल्पना वास्तव में बाद की कल्पना है । लोकवाचों में कोई ऐसा वाच नहीं है जो केवल बजाने के उद्देश्य से हो । वराचा जाता हो । ताल, मजीरे, लजरी, छोल, नवकाहे, नफीरी, बांसुरी, चंग, डफ, अपंग, बीन, इकतारा, तुतारा, पंतुरा, सारंगी, रघाव, कमाचा, जंतर, रावण हत्ता आदि सभी वाचों का, स्वतंत्रताम् से बजाने की इच्छा से कोई मूल्य नहीं है । वे सब गीतों को समझि हेतु ही निमित्त होते हैं । इन सब वाचों को मिलाकर एक साथ एक ही धुन में सामूहिक कथा से बजाने की प्रवृत्ति भी सामुनिक होती है । लोकवाचों में बृन्द-बादन जैसी कोई भी वाच ही नहीं है । कुछ प्रेषेवर कला-नाट्यों आजीविका उपाखन के लिए यहाँ वालानों के यही तथा विद्याह-शादियों में तुलूस के साथ जो साथ बजाती है, वह वास्तव में बृन्द-बादन की परम्परा नहीं है ।

लोकवाचों में कुछ वाचों को सृष्टि गायन की कुछ विशिष्ट शैलियों में प्रयुक्त होते के लिए ही हुई है, जैसे शीर्तन, भजन के साथ इकतारा, तम्भूरा, पंतुरा, लड़वाल, मजीरा, लंबरी आदि का प्रयोग । इस विशिष्ट शैली के लिए वे ही वाल सर्वाधिक उपयुक्त हैं । इस शैली की संभीरता को निभाने तथा शीर्तन को सात्त्विक आमास देने के लिए ही वे साथ उपयुक्त समझे गये हैं । पारिवारिक तथा शृंगारिक गीतों में तो किसी प्रकार के ताज ही की प्राच-श्यकता नहीं समझी गई है, वर्षोंकि वे गोकिया जन-जीवन की शैलियों हैं और मन की भौत तथा उत्तम समारोह के लिए ही प्रयुक्त होती है । इनके द्वारा किसी का मनोरंजन नहीं किया जाता, न इनका उपयोग व्यवसायिक इच्छा में होता है, अतः कोई साथ इनके साथ नहीं बजता । केवल व्यवसायिक गीतों के लिए साथ बजाने की जिजान्त यावश्यकता होती है, क्योंकि वे जिसी वर्गविज्ञेय को रिभाने के लिए होते हैं तथा इन्हें प्रयुक्त करनेवाले स्वयं संगीतपट्ठ होते हैं और जिनकी संगीतपट्ठा हो जाती का व्यवसाय है । इन विशिष्ट गीतों के साथ सारंगी, तबला, छोलक, रघाव, कमाचा, रावणहत्ता, नफीरी, बांसुरी आदि वाच वही शैली के साथ बजाये जाते हैं ।

नृत्य तथा नाट्य-संगीत के साथ नफीरी, नवकाहे, शहनाई, सारंगी, तबला, छोलक, मजीरे आदि वस्त्रों वजलते हैं । ये साथ इन गीतों को प्रभाव-शाली तथा भाष्यिक रूपीन बनाने के लिए घर्षणन्त यावश्यक होते हैं, इनके विनाम नृत्य-नाट्य निरूपण का विषय होते हैं । आदिवासी नृत्यों के साथ यहाँ लोडे, धाली, माल, लोल, दोल आदि सामाजिक निष्ठाएँ बजते हैं, क्योंकि उनके नृत्य लगभग धारण होते हैं और इन साँझों की लंग से उनके पौध सूक्ष्मि के साथ उठते हैं ।

इतिवृत्यात्मक गीतों के चिरसंगी सारंगी, रावणहता, अपंग, इकतारा, भौतारा, रवाव, कमाचा आदि वाय होते हैं, जो इन गीतों के साथ बजाये जानेवाले सर्वाधिक उपयुक्त वाय हैं। इनके साथ एक विशिष्ट परम्परा ही युक्ति हुई है। ताल-वाय ग्रायः इनके साथ नहीं बजते, वर्योकि ये उपयुक्त साथ ही इन्हें ताल का ग्रान्त भान करा देते हैं। गे फटके के साथ बजाये जाते हैं, जिनसे ताल का आदूर्भव अत्यन्त स्वभाविक ढंग से हो जाता है। जैसा कि कपर कहा जा चुका है, स्वतन्त्ररूप से वाच-वादन लोकसंगीत की विशुद्ध परम्परा नहीं है। केवल कठ-संगीत की संगत के लिए ही उनको मूर्खित हुई, ऐसी वाय भी नहीं है।

लोकसंगीत शास्त्रीय संगीत का अविकसित स्वरूप नहीं है, न शास्त्रीय संगीत ही लोकसंगीत का विकसित स्वरूप है। यह सिद्धान्त वाच-संगीत पर लागू नहीं होता। लोकवायों के लिए हम विशिष्ट रूप से कह सकते हैं कि वे शास्त्रीय वायों के अविकसित स्वरूप हैं। वर्योकि शास्त्रीय संगीत में वायों का विकास ही लोकवायों से हुआ है। यह सिद्धान्त इसलिए सत्य सिद्ध होमया वर्योकि लोकवायों की कल्पना बहुत प्राचीन नहीं है तथा उनके साथ कोई प्रम्पोन्याप्रित संबंध भी नहीं है। उन्हें लोकवाय कहने की अपेक्षा केवल वाय ही कहना चाहिए। साथ में यह भी नहीं भ्रूतना चाहिए कि वे शास्त्रीय तथा उप्रत वायों के प्रायमिक रूप हैं।

### लोकसंगीत-शास्त्रीय संगीत : दिशाभ्रम

लोकसंगीत जब शास्त्रीय संगीतज्ञों के पहले पह जाता है तो उसका कृपान्तर होने संभवता है। वह शास्त्रीय संगीत में बदलता इसलिए नहीं है कि उसमें बदलने की कोई वाय ही नहीं है। विशिष्ट राग-रागिनियों में वर्योकि हुई जो विशुद्ध चंदिसे होती है वे अत्यन्त सरल होती हैं। उनके साथ तान, गालाप, मुकियाँ, धूतियाँ आदि जौहकर ही उन्हें शास्त्रीय स्वरूप दिया जाता है। उनके साथ गायक की गायनपद्धता, पराने की गायकी तथा रागविजेष की विशिष्ट परम्पराएँ यीरी के रूप में जब चुक जाती हैं तब उनका कैप निलंबित है। तापर्य यह है कि शास्त्रीय संगीत की कृतियों में अनेक तत्त्व मिलकर ही उन्हें शास्त्रीय गीतों का स्वरूप प्रदान करते हैं। परम्पुरा लोकसंगीत की कृतियाँ धपने में तम्भूर्णी होती हैं। गीत की स्वर तथा शब्द-रचना ही में समस्त लोक-संगीत का स्वरूप निहित रहता है। गायक केवल धपनी गायकी तथा धपने अतिक्रम के कुछ तत्त्वों को छाप उस पर लगा देता है। लोकगीतों में दी

स्वर-रचना तथा गीत के विशेष लकड़ों का चमत्कार मूलम रूप में निहित रहता है । अतः शास्त्रीय संगीत की रचना में और लोकसंगीत की रचना में कोई भेल संभव नहीं है । शास्त्रीय संगीत की रचना संगीतशास्त्र के विशिष्ट नियमों के प्रनुसार ही होती है । उसमें अनेक संगीतावारों का कौशल तथा चुदितस्व निहित रहता है । लोकसंगीत में जो रचना-कोशल निहित है वह किसी और ही शास्त्र से प्रतिपादित होता है । उसमें वैष्णविकास चुदितस्व के कहीं अधिक सामाजिक भनोविज्ञान से परिपूर्ण भाव-तत्त्वों का समावेश होता है । दोनों शैलियों का भनोविज्ञानिक घरातल, उनका शास्त्र, उनकी परम्परा तथा प्रकृति विलकृत भिन्न होती है । अतः दोनों के मिलने तथा एक झुसरे में लिनीन होने की कोई भी गुजारण नहीं है । यदि कहीं कोई भेल संभव भी है तो उनके तानेवाने में है जो कि उनका फरीद माज है, आस्मा नहीं है । वैसे यदि कोई शास्त्रीय संगीतकार किसी लोककृति को शास्त्रीय पद्धति से गाना चाहे तो बछूबी गा सकता है । लोकसंगीत की अपनी मूल स्वर-रचना तो होती ही है । किसी-किसी संगीत में तो स्वायी अन्तर भी होते हैं । उस विशिष्ट संगीत में जो राग का परम्परागत स्वरूप विद्यमान है, उसको पकड़कर उसके राग का रूप-विधान लियारित करके शास्त्रीय संगीत की विस्तार-पद्धति से आलाप, तान आदि का गृहण करते हुए संगीतकार प्रत्यग्न ग्रन्थाली डंग से गा सकता है तथा उसमें विशिष्ट तान-तथा के चमत्कार बतला सकता है । लक्ष्यरान्त गीत के स्वरों के अनुसार मन्त्र से तार संपत्तियों के बाम से स्वरों पर छकता हुआ उसमें तालबद्ध स्वर-संभार के चमत्कार दिलाना सकता है । स्वाइं के संचार के उपरागत वह ग्रंठों की चहल-नहल में इसी बाम से प्रविष्ट कर सकता है । तदुपरागत वह तान-पक्ष को मुख्यरित करने के लिए मूलशीत की स्वर-रचना का आभास देते हुए विविध तानों एवं पलटों की सृष्टि करता है । इस तरह वह सम्पूर्ण लोकसंगीत को शास्त्रीय ताना-बाना पहिलाने में समर्थ हो सकता है, परन्तु वह शास्त्रीय संगीत नहीं बन जाता, व्याकुं वह तो जहाँ का तहाँ ही रहता है । किसी व्यक्ति को कपड़े, अलंकरण आदि पहना देने से ही कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं बन जाता । उसी तरह शास्त्रीय संगीत के तानेवाने से किसी गीत को सजा देने से वह शास्त्रीय नहीं बन जाता । लोकसंगीत में तो संगीत की रचना ही सारा गीत है, परन्तु शास्त्रीय संगीत में मूल गीत-रचना के साथ उसका समस्त ताना-बाना मिलकार ही शास्त्रीय संगीत बनता है । अतः यह स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकारों के मिलने की कल्पना ही एक भ्रामक कल्पना है ।

इस तरह उनेक ऐसे लोकसंगीत हैं, जो कुछ पेशेवर लोकगायकों द्वारा अस्तित्व-शैली में गाये जाते हैं। उनमें लयकारी तथा शास्त्रीय स्वरप का कुछ आभास देनकर कुछ लोग यह समझ नहें हैं कि वे शास्त्रीय संगीत की लोकसंगीत में प्रवेश करके उसके अंतर्भूत को छु रहे हैं। परन्तु बात यह नहीं है। वह भैंड तो गायक के गायनशास्त्रमें के कारण आगया है, मूलसंगीत तो बहीं का बहीं है।

लोकसंगीत की कुछ विदियें निरन्तर अवहार तथा पेशेवर जातियों द्वारा प्रयोग के कारण कुछ विलक्ष अवश्य बन जाती हैं। उनके द्वारा नाई हुई मह कलात्मक वक्ता शास्त्रीय संगीत का आभास देने जगती है। राजस्वान में गाई जाने वाली माँड़ इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस वक्ता का यदि विश्लेषण किया जाय तो मह जात हो सकता है कि यह वक्ता गीत के रचनाविधान में नहीं है। वह उसकी गायनशैली ही में निहित है। इन अवसाधिक लोकसंगीतों का यह पद्ध निश्चय ही लोकपक्ष से कुछ दूर है तथा कुछ ही लोगों की अभिभावित तथा उनके मानसिक घरातल के अनुकूल पड़ता है। यह बात विलक्ष नहीं है कि लोकसंगीत की शास्त्रीय संगीत में और शास्त्रीय संगीत की लोकसंगीत में परिवर्तित होने की प्रक्रिया विलक्ष प्रसंग दूर है, क्योंकि शास्त्रीय संगीत उसके शरीरपक्ष में तथा लोकसंगीत उसके आत्मपक्ष में निहित रहता है। यदि यह लोकसंगीत अपने शात्मपक्ष को रायगकर आपने शरीर-पक्ष के निलार पर उत्तर दिये तथा पेशेवर कलाकार प्रचलित लोकसंगीतों को सजा संवारकर उनके शरीर को निलारते रहें तो वह निलार के बाल कला-वौशल का निलार समझा जायेगा और वह गीत अपनी गायनशैली की हट्टी से निश्चय ही लोकपक्ष ने नीचे उत्तर दियेगा, परन्तु वह शास्त्रीय गीत नहीं बनेगा। शास्त्रीय गीत बनने के लिए शास्त्रोक्त तने बाने की शावश्यकता होती है और जैसे ही उसका शात्मपक्ष तिरोहित होने लगता है और वह प्रायः मर ही जाता है। अवसाधिक लोकसंगीतकारों की कुतियां इस स्थिति तक कभी नहीं पहुँच सकती हैं, क्योंकि उनके शरीर-पक्ष के निलार के साथ उनका शात्मपक्ष तो फिर भी विद्यमान रहता है, क्योंकि शास्त्रोक्त ज्ञान से वे संगीतज्ञ विलक्ष अनभिज्ञ रहते हैं।

### लोकसंगीत और उसका निर्वेश

शास्त्रीय संगीत को दिला निर्वेश की शावश्यकता इसलिए होती है कि वह बहुत अधिक शास्त्रीय और तकनीकी (technical) होता जा रहा है।

उसका भावपत्र गोला और उसका कलागत्र प्रधानता पा रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उसका आवहार कुछ ही वाचाओं तक सीमित रह गया है, तथा लोकभवहार से वह कोई दूर हो गया है। परन्तु प्रश्न यह है कि वहा लोकसंगीत की भी इस दिशा-निर्देश की आवश्यकता है। वास्तव में दिशा-निर्देश की सो नहीं परन्तु इस बात की आवश्यकता है कि नवीन रचनाकार अपने नवरचित गीतों में लोकगीतों के कुछ बाहुदार नेकर मौजिक गीतों की भाँति उत्पन्न नहीं करें। वे लोकगीतों को लोकगीत ही रहने दें और स्वरचित गीतों को स्वरचित ही। नवरचित गीतों में लोकगीतों की भाँति उत्पन्न करने की चेष्टा अत्यन्त यातक चेष्टा है। यह भाँति भी आधिक समय तक नहीं जल सकती, क्योंकि लोकगीतों के संचार, प्रसार तथा अवहार-धोन बिल्कुल निश्चित रहते हैं। उन जोओं में वे खूब जाने पहिचाने होते हैं। वहाँ किसी प्रकार की चतुराई नहीं जल सकती। भाँति तो वहाँ होती है, जब वे किसी विज्ञातीय क्षेत्र में पहुँच जाते हैं तथा वहाँ उनकी जान-पहिचान किसी से नहीं होती। ऐसे जोओं में वास्तविक, अवास्तविक का भेद करना बहुत कठिन होता है।

लोकगीतों में अन्य किसी प्रकार के दिशा-निर्देश की आवश्यकता नहीं होती। दिशा-निर्देश तो वहाँ दखली होता है, वहाँ दिशाभ्रम हो जाए। वह तो लोकगीतों के सराहकों में हो सकता है, उनके प्रयोक्ताशों में नहीं। लोकगीत सीखने सिलामे की जीव नहीं होती। उनके प्रयोक्ताशों को परम्परा से ही वह भरोहर मिली हुई होती है। जैसे वे किना सिलामे ही जा जैसे हैं, सो जैसे है तथा उठ बैठ जाते हैं, जैसे ही वे गा भी जैसे हैं। जो गीत उनके जीवन में रहे हुए हैं तथा जिस जीली में वे उन्हें माते हैं, उनमें कभी भी उन्हें दिशा-भ्रम नहीं हो सकता।

दिशा-निर्देश केवल अवसाधिक लोकगीतकारों को तथा लोकगीतों के शीकिया प्रयोक्ताशों को इस बात के लिए आवश्यक है कि वे कहीं अपनी कृतियों की इतना सजावे संवारे नहीं तथा उसका रचनागत स्वामाधिक सांगीतिक सौंदर्य निर्देश दें। दूसरा निर्देश उन्हें आवश्यक है जो लोकगीतों के प्रमुख तथा प्रम्परागत प्रयुक्ता है; वे आधुनिक प्रमाद तथा संगीत को अन्य वाचाओं में इतने नहीं उन्हें जायें कि वे लोकसंगीत के आवश्यक सौंदर्य के ही विमुख हो जायें। उन्हें इसी उचित सामाधिक वामरक्षण तथा

भागेदशन की आवश्यकता है। यहीं एक तथ्य को और संकेत करता प्रति-आवश्यक है कि लोकगीत लोकगीत ही से प्रेरणा प्राप्त करता है, अन्य किसी गीत से नहीं। वैज्ञानिक तथ्य भी यहीं है कि समता समता ही को प्रहण करती है, विषमता को नहीं। इतः विरले ही ऐसे लोकगीत होंगे, जिन पर मायन-विधि की दृष्टि से फिल्मी प्रभाव नहर आया हो। फिल्मी गीत लोकगीतों से प्रभाव प्राप्त करते हैं, परन्तु लोकगीत फिल्मी गीतों से नहीं। अनेक फिल्मीगीत-रचनाकार ऐसे हैं जो घपनी रचनाओं में लोकछुटों का सहारा लेते हैं। एक विलक्षण बात और है कि एक शेर के लोकगीत दूसरे शेर के लोकगीतों की भुनों तथा गायकी से प्रभावित होते रहते हैं और एक दूसरे की भुनों को आत्मसात् करते हैं। राजस्थान और गुजरात की सीमा के लोकगीत तथा खंडाव और राजस्थान की सीमा के गीत स्वर तथा गच्छ-रचना की दृष्टि से, एक दूसरे से गले मिलते नहर आते हैं।

यहीं इस बात की और संकेत करता भी आवश्यक है कि स्वरविज्ञान के नियमों के अनुसार स्वरों का मेल गल्डों से कहीं शक्ति जल्दी होता है। स्वर पहले गले मिलते हैं और शब्द बाद में। राजस्थान के डाढ़िया गीतों में तथा मुजरात के गरवा गुल्हों में जो सांगितिक लालित्य है, वह इसी मिलन का द्वेषक है। यद्य जिसी व्यक्ति के मन पर जिसी गीत का प्रभाव पड़ता है तो उसके मन पर भावनापद्धान स्वर का असर पहले और प्रर्यप्रधान शब्द का असर बाद में पड़ता है। हृष्य को प्राप्त तथा संवेदन शक्ति मस्तिष्क से कहीं शक्ति शक्तिशाली होती है, इतः मनुष्य गीतों की भुने पहले पकड़ता है, शब्द बाद में। यहीं कारण है कि हमें पर्सिया आनेवाले लोकगीतों की भुने हम पहले मुनमुनाते हैं, उसके शब्द बाद में रहते हैं। उन गीतों के स्वर स्मृतिपट्टन पर अधिक अधिक रहते हैं जो स्वरों के साथ समरत होते हैं, या यों कहिये कि जिन स्वरों को समरस गच्छों का योग प्राप्त हुआ होता है, वे ही समरस होते हैं। यह शब्द स्वर-समरसता लोकगीतों में सर्वाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। यहीं कारण है कि लोकगीत सामाजिक हृदय पर जितने समय तक अक्षित रहते हैं, उनमें कोई नहीं। यहीं शब्द-स्वर-समरसता लोकगीत का रचना-सौरक्ष्य है। आदिम गीतों में यह सामज्जन्य प्राप्त नहीं के बराबर है। इसीलिए वे इसने सबे और नीरस होते हैं। आदिमसी सदा ही एकान्तप्रिय तथा समरता और नवीनता से दूर रहे हैं, इसीलिए उनके जीवन की निरीहत के साथ उनकी कला भी निरीह रह गई।

### लोकसंगीतों की प्रांजलता

उन लोकों में जहाँ विभिन्न लोकों के मनुष्य मिलते हों, वहाँ उनके में उत्सव, समारोह आदि होते हों, वहाँ सांस्कृतिक आदान-प्रदान अधिक होता हो, वहाँ के प्रचलित लोकगीत अधिक प्रांजलता तथा उनमें रचना-सीनदर्य की अनुपम छटा दृष्टिगत होती है। केवल प्राकृतिक सौन्दर्य तथा भौगोलिक विशेषताओं से ही गीतों में प्रांजलता नहीं आती बल्कि मानव के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का उनकी प्रांजलता में अधिक योगदान रहता है। जहाँ मनुष्य का सांस्कृतिक तथा सामाजिक आदान-प्रदान तथा मेलबोल होता है, वहाँ के लोकगीतों में भाषा, भाव तथा स्वरसीलता की हृष्टि से अद्वितीय तात्त्विक होता है। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि के सभी-स्थलों पर इन गीतों का लालित्य चरमसीमा पर होता है। जो लोक इस प्रकार के आदान-प्रदान तथा मानवी लीलाओं से हीन होते हैं तथा जहाँ मनुष्य की रंगोनियों को चमत्कृत होने के लिये आवश्यक संघरण नहीं मिलता है, वहाँ के लोकगीत अदेशाहृत जिधिल और रचनाकौशल से विहीन होते हैं। यहाँ यह भी जान लेना चाहती है कि यह सांस्कृतिक संघरण समता की स्थितियों में ही होता है। जो राजस्थानी सेकड़ों वर्षों से आग्रा, तामिल, बंगाल तथा आसाम के सुदूर लोकों में स्थानीय जनता के साथ पुनर्मिल गये हैं, उनके दृश्य-सुन्दर में काम भी आते हैं, उनकी भाषा में भी प्रवीण हो गये हैं, परन्तु वहाँ के संगीत से लेखामाल भी उन्होंने प्रेरणा अहण नहीं की। अतः यदि किसी लोकविजेता का सांस्कृतिक साम्प्रदाय दूसरे लोक से नहीं है तो यह उक्त प्रक्रिया निष्ठाएँ ही रहती है। यही कारण है कि राजस्थान के गीत बंगाल के गीतों से नहीं होता। ये सब प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म और अज्ञातरूप से अपना काम करती हैं कि वहाँ कुछ हो रहा है, उसका कोई पता नहीं लग सकता। लोकगीतों का यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान उनकी सबसे बड़ी घरोहर है।

### लोकसंगीत का लोकपक्ष-कम

भाषा में सरलोकरण को प्रवृत्ति अनेकात्म से बली आरही है। भाषा जैसे-जैसे विस्तृत और पांचित्यपूर्ण बनाई जाती है, वैसे-वैसे वह लोक-प्रवोग से दूर होती आती है। उसे पांचित्यपूर्ण बनाने की प्रवृत्ति अद्यन्त स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जैसे-जैसे पाहित्य में प्रोड़ता आती रहती है, वास्तव भाषा पर हाथी हो जाता है। उसका एक अद्यन्त विस्तृत स्वरूप समाज में प्रचारित होने समता है

प्रीर और भीरे उसका स्वरूप पुस्तकों तक ही सीमित रहता है। लोक प्रबलन के लिये उसके किसी सरल स्वरूप का प्राप्तार प्रहरण किया जाता है। इस तरह सरलता से किलष्टता तथा किलष्टता से सरलता का चक्र अनंतकाल से चलता आरहा है। इस क्रम के प्रभुमार माया का स्वरूप ही बदलता रहता है। यह पश्च लोकगीतों के साथ जुड़ा हुआ अवश्य है, परन्तु उसके शब्दपञ्च के साथ नहीं। यह लोकगीतों का शब्दपञ्च किलष्टता से सरलता और सरलता से किलष्टता की ओर अप्रसर होता है तथा समाज की सांस्कृतिक स्थितियों के प्रभुमार घटता बढ़ता रहता है। लोकगीत पहले माया की हृषि से किलष्ट रहता है, निष्पत्ति के समय उसमें दब्दों का जाल गुफित रहता है, परन्तु सामाजिक भावना की कसोटी पर उत्तरते-उत्तरते उसका सरलीकरण होने लगता है। वह इतना सरल हो जाता है कि उसकी सरलता में ही उसका लोन्दर्य निहित रहता है तथा वे ही शब्द उसमें रह जाते हैं जो थोड़े ही में अधिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस सरलीकरण को किया के साथ स्वर-रचना अधिक गुफित होती जाती है। उसमें प्रीहता, वैचिष्य, विविष्टता तथा प्राजनता की भावना बढ़ती है, जिसके कारण रसनिष्ठति अधिक प्रभावशाली हो जाती है और शब्द प्रीर स्वर की व्यंजनाशक्ति बढ़ जाती है।

स्वर-मुकुल से ताल्ये उसकी भावाभिव्यजना से है। शास्त्रीय संगीत की तरह स्वरों के तोड़ मरीड़ से मतलब नहीं। इस किया में बौद्धिक तत्व गौण और भाव-तत्व प्रधान है। यह कहने का तार्यार्थ यह है कि इष्ट शब्द सरलता की ओर बढ़ता है, जो कि बौद्धिक तत्वों पर भाव तत्वों के प्रभुत्व के बाव ही संभव है, उधर स्वर-तत्व की प्रांजनता भी भावों के निकार और परिमार्जन से ही सम्भवित है। जब वे दोनों ही तत्व समकक्ष और समरूप हो जाते हैं, तभी लोकगीतों की आस्ता निवार को प्राप्त होती है। यह लोकगीतों की चरमोत्तम तथा स्थिति है, जो उसे सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वेषाम् बनाती है। उसीसे उसको सामाजिक तथा देवीय सीमा-विस्तार भी प्राप्त होता है तथा वह छोटे दायरे से बड़े दायरे में प्रवेश करता है। इसी स्थिति में अवसायिक लोकगलाकार इन गीतों को बढ़ाव देकर उन्हें अपनी आदेविका का प्राप्तार बनाते हैं। इन गीतों का लोकपश्च इसमें निहित नहीं है कि लोगों को वे कितने पतन दें हैं, परन्तु इसमें है कि उन्हें कितने लोग गाते हैं और व्यवहार में लेते हैं। ये जेहर कलाकार उन्हें सजाते हैं, सेवारते हैं तथा हर तरह से किलष्ट बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि उसका लोकपञ्च दुर्बल पड़ जाता है तथा वे लोकभावहार से उत्तर जाते हैं। उस स्थिति में ऐसे गीत प्रचार

और विस्तार पाते हैं, जिनका लोकपक्ष प्रबल होता है और धीरेधीरे उक्त सीधियाँ यार करके निशार पाते हैं, अन्तम सीधी विलष्टता की ओर ही होती है। यह कम अनेकाल तक चलता रहता है। लोकगीत बनते हैं, विळमित होते हैं, निश्चरते हैं, लोकध्यवहार की चरमसूझा तक पहुँच जाते हैं, फिर विलष्टता की ओर प्रवृत्त होते हैं और धीरेधीरे प्रचार से बाहर होकर विलीन हो जाते हैं। इस तरह यह कम अनेकाल तक चलता ही रहता है। यही चक शास्त्रीय संगीत में भी चलता रहता है। परन्तु इन दोनों ही प्रक्रियाओं का एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोगों की गलत धारणा भी बन गई है कि लोकगीत विलष्ट बनकर शास्त्रीय बनते हैं और शास्त्रीय भी त सरल बनकर लोकगीत बन जाते हैं।

### लोकध्युनों में ऋतुसाम्य

शास्त्रीय संगीत में मेघमल्हार गाने से वर्षा होने और दीपक राग गाने से दीपक जलने की पदम्पदा बहुत पुरानी है। पता नहीं मेघमल्हार राग से कभी वर्षा हुई या नहीं और दीपक राग से दीपक जले या नहीं। परन्तु उनमें इतना सत्य अवश्य है कि मेघमल्हार को रचना में वर्षाकर्तु का आभास अवश्य मिलता है तथा दरबारी कानड़ा की स्वर-संगति से राजदरबार भी अभीरता का प्रभाव मालूम पड़ता है। शास्त्रीय संगीत में प्रभाव उत्पन्न करने के लिये स्वरों का ही प्रबल प्राप्तार है, शब्द का प्रभाव आप्त नहीं के बराबर है। लोकगीतों में भी स्वर-संगति का प्रभाव सर्वोपरि है, परन्तु शब्द इतना गीण नहीं जितना शास्त्रीय संगीत में। इसका भूल कारण यही है कि विशिष्ट भाज-निष्पत्ति के समझ जो स्वर-अवयन स्वभाव से ही रचनाकार के हृदय में उपजता है, वह उसके विद्योप मूढ़ (Mood) का ही दोस्तक है। उसके बाद जिन शब्दों की व्युत्पत्ति होती है, वे भी उसी मूढ़ (Mood) को उद्दीप्त करते हैं। यह बात लोकगीतों की व्युत्पत्ति के विवेचन के समय पूर्व-पृष्ठों में जल्दी प्रकार प्रनुमोदित हुई है, परन्तु इसके साथ ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात की ओर सकेत मिलता है। बोकानंद की उरफ गायेजानेवाले राजस्वानी जीमासे बीकानेर की अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा लोकप्रिय लोकगीत है। इन गीतों में भूमास की विविध अवस्थाओं का सांकेतिक वर्णन तो होता ही है परन्तु उनकी स्वर-रचना भी अत्यन्त विलक्षण है। वर्षा के अभाव में गायेजानेवाले जीमासों की शब्द तथा स्वर-रचना में एक विशेष उदासी का प्रभाव होता है। जब वर्षा की प्रथम दूर्यों या आविर्भाव होता है, उस समय के विशिष्ट जीमासों में

शब्द-स्वर-रचना को एक विचित्र सी रंगत होती है और जब वर्णों की पूर्ण कुप्राप्ति होती है, उस समय गायेजानेवाले जीवासांकों का तो कहना ही चाहा है। विभिन्न परिस्थितियों को प्रकट करने में कोई विशेषता नहीं हो सकती, यद्योऽपि शब्द स्वर्य आपने लालाशिक और व्यंजनात्मक गुणों से बांधित प्रभाव उत्पन्न करने को शक्ति रखते हैं। परन्तु यही बात जब स्वर-संगति से प्रकट होती है तो हमारे मस्तक उन संस्कृत रचयिताओं के चरणों पर झुक जाते हैं। इन विभिन्न स्थितियों में गायेजानेवाले गीतों की स्वर-संगति में यह विलक्षणता वर्णों है इसका विषय अस्यत अपेक्षित है। जार्यावाच की स्थिति में स्वर-संगति की रंगत एक विशेष प्रकार की निराशा उत्पन्न करती है। उनके स्वरों के सूचन में तृप्त वायु का सा आभास मिलता है। वे गीत जो बूद्धा-वाची के बाद गये जाते हैं, उनमें एक प्रकार की हृषि की रेखा है जो स्वतः ही स्वर-संगति से प्रकट होती है। इसी तरह इन गीतों की घलिरी मन्डिल वह है जो मूलधार वर्णों के समय प्राप्त होती है। ऐसे गीतों की स्वर-संगति में एक अनुच्छेदीतता तथा हृष्टभित्ति तन्मयता का आभास मिलता है। इस अति सूक्ष्म प्रभाव की अद्भुति निरन्तर ऐसे गीत मुनकर ही हो सकती है। स्वर-शब्द की संगति का यह अनुच्छेद प्रभाव सिकाय लोकगीतों के अन्य गीतों में बहुत कम परिलक्षित होता है। शास्त्रीय संगीत में यह साम्य प्राप्त होता ही नहीं है क्योंकि उसमें स्वर ही की प्रधानता है, शब्द विस्तृत गीरण है, बल्कि कहीं-कहीं तो यह भी देखा गया है कि स्वर जो प्रभाव उत्पन्न करता है उसमें विस्तृत विपरीत प्रभाव शब्द का होता है। लोकगीतों में यह विषमता प्राप्त होती ही नहीं है। यद्योऽपि उनमें स्वर-शब्द-संगति का मूलधार भाव है, कुछ नहीं। राजस्वान के बारहमासों में उक्त स्वर-शब्द-साम्य का निभाव अतिशय प्रभाव-साली रूप से हुआ है। इन लोकगीतों में बारह महीनों का छहन्तु-प्रभाव जिस विषय द्वारा स्वर-शब्द-संगति द्वारा प्रकट हुआ है वह विडानों के लिये यहाँ अध्ययन का विषय है।

स्वर-शब्द-संगति का यह चमत्कार विरहन्य शून्यारिक लोकगीतों में सर्वाधिक निभाया गया है। कहीं-कहीं तो यह निभाव इतना मार्मिक बन पड़ा है कि अनम्बे के निवाय कल्पना काम ही नहीं करती। राजस्वान में जब वयु को विवाह के बाद विदाई दी जाती है, उस समय गायेजानेवाले विदाई-गीतों की मार्मिकता पराकार्था तक पहुँच गई है। इसी तरह जब नवविवाहिता स्त्री का पति विवाह के बाद ही परदेश चला जाता है, उस समय गायेजानेवाले

विरहगीत न केवल काल्य की हठिट से ही बल्कि स्वर-रचना की हठिट से भी अत्यन्त मार्मिक है। साहित्यकारों ने ऐसे गीतों की बड़ी मार्मिक अवध्या की है, परन्तु दुमोग्य से संगीतकारों ने उनका स्वर-सौनदर्य कदाचित् भवी तक भी नहीं पहचाना है जबकि गीत का समस्त शास्त्र भीतृप्त है। इस प्रकार के गम्भीर स्वरों करनेवाले स्वर-वयन युक्त राजस्थानी गीत का अवलोकन कीजिये—

### विरहगीत

ऊटे यह धावजो रे योहे यह धावजो रे।

बाई सा रा बीरा जीवहुलो धवराम छै रा।

नगारी रा बीरा जीवहुलो धवराम छै रा।

( ये प्रथम गीत यहाँ उद्घृत नहीं किया गया है। )

### स्वरलिपि (ताल कहरवा)

सा - ग -	सा - नी -	सा म ग - ग	म - पम ग -
जे ३ टे ५	जे ५ ड ३	जा ३ ३ व	यो ३ ३ ५
म ग - -	मग मग ग -	म ग य -	म - म म
टे ३ ६ ३	ल ३३ ३ ३	यो ३ टे ३	व ५ ड ५
म ग म ग	सा ग सा नी	सा - - -	- - सा नी
जा ३ ३ व	जी ३ ३ ३	रे ३ ३ ३	३ ३ रा ई
सा ग ग -	ग म प म ग	म व व व	म - ग ग
सा ३ रा ३	जी ३ रा ३	जी ३ व व	लो ३ घ व
म ग म ग	सा ग सा नी	सा - - -	- - सा नी
रा ३ ३ य	जी ३ ३ ३	रा ३ ३ ३	३ ३ न ला
सा म म -	म - पम ग -	म व व व	म - ग ग
दी ३ रा ३	जी ३ रा ३	जी ३ व व	लो ३ घ व
म ग म ग	सा य सा नी	सा - - -	- - - -
रा ३ ३ य	जी ३ ३ ३	रा ३ ३ ३	३ ३ ३ ३
X	३	X	२

यह एक राजस्वानी विरहगीत है, जिसमें एक विरहिणी स्त्री अपने विषुके हुए पति को साथ करती हुई कहती है कि है प्रियतम ! तुम थोड़े पर चढ़कर आयो, तुम केंट पर चढ़कर आयो, लव में तुम्हारे बिना नहीं रह सकती ।

### लोकगीतों में शारीरिक कियाओं की प्रधानता

लोकगीतों की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे अधिकांश सार्वक शारीरिक कियाओं के साथ जुड़े हुए हैं । उनको जूने ही इस तरह रखी हुई होती है कि उनके साथ स्वामाविक कियाएँ जुड़ जाती हैं । जिनका स्वरूप बहुधा सामाविक होता है । वयोंकि लोकगीत स्वयं ही समाज ही की उपज है, किसी अक्षतिग्रन्थ की नहीं । प्रारम्भ से ही वे शारीरिक कियाएँ इन गीतों के साथ जुड़ी रहती हैं । नृथ उनमें एक ऐसी किया है, जो पर्यन्त स्वामाविक के से आनन्दोलनात्मक के काम में उनके साथ जुड़ गई है । यही एकमात्र किया है जो गीत को ही तरह अवकाशमक गतिके साथ जोड़ता है । इन गीतों के साथ जो अन्य कियाएँ जुड़ गई हैं वे स्वयं में कला नहीं हैं । उनसे गदि संगीत को संगति निकाल दी जाय तो वे कियाएँ अस्पन्न नीरस और सिरदर्द पैदा करनेवाली रह जाते ।

प्रत्येक श्वेत के लोकगीतों में इन कियाओं के नानारूप परिवर्तित होते हैं । सभी लगत् पमपट पर हिवर्यां गीत गाती हुई पानी भरने जाती हैं । मुख्य उठकर गाते हुए चकिकर्या पीमती है । चेतों पर काम करते हुए किसाम गीत गाते हैं । तम्भी याचा करते समय धूपनी याचान भिटाने के लिये लोग गीत गाते हुए जाते हैं । लकड़हारा लकड़ी काटते समय गीत गाता है । यहस्ति खेड़ चराते समय गीत मुनमुनाता है । इसी तरह हुए से पानी भरते हुए, लाघ बिलोते हुए, भकाम वो छहं कूटते हुए, बच्चों को भूता भूताते हुए, गोदी में गुलाते हुए, नाज साफ करते हुए, शादियों में दूल्हे के हृत्यों चढ़ाते हुए तथा वर-बधु को फेरे किराते हुए प्रादि-प्रावि नानाप्रसंगों पर कियर्यां नानाप्रकार के गीतों की सूचित बारती हैं । इनमें अनेक कियाएँ ऐसी हैं, जो निरन्तर अवहार से संस्कार तथा अदियों की तरफ पहुँच गई हैं । तात्पर्य यह है कि इन कियाओं का संगीत के साथ प्रयोग कुछ इतना लोकप्रिय और धारान्द्रप्रद होनपाहा है कि उन्होंने एक सार्वजनिक और सांस्कारिक क्षय धारणा कर लिया है । यह स्विति लव उत्पन्न होती है जबकि वे कियाएँ जीवन में मांगलिक और धनिवार्य क्षय धारणा कर कोई सामाविक तथा राष्ट्रीय महस्त्र प्राप्त कर लिती हैं । इन सामाविक तथा राष्ट्रीय महस्त्र प्राप्त करनेवाली कियाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

- ( १ ) भीती लादियों में तूल्हे को विवाह के समय सटिया पर चिठ्ठाकर उछालते हुए गायेजानेवाले सौरिया गीत ।
- ( २ ) तूल्हे के शरीर पर हल्दी छड़ाते समय गायेजानेवाले हन्दी गीत ।
- ( ३ ) वर-वधु को अग्नि की परिकमा करानेवाले फेरे गीत ।
- ( ४ ) माता-पोती को गणगीर उत्सव पर भाव पर चड़ाकर जलायन के निकट लिजाते समय गायेजानेवाले राजस्थान के मांगलिक गणगीर गीत ।
- ( ५ ) विवाह के उपलक्ष में कुम्हार के यहाँ आकर चाक के समझ नृत्य के साथ गायेजानेवाले राजस्थानी चाक गीत ।
- ( ६ ) चौरी पर वर-वधु की नजर निकालने के लिये मांगलिक कलश आरती उतारते समय राजस्थान में गायेजानेवाले कामण्ड-नामक गीत ।
- ( ७ ) लिलाह से पूर्ख भागा के यहाँ से वर-वधु के लिये वस्त्राभूषण लिजाते समय गायेजानेवाले भाष्टरा गीत ।
- ( ८ ) राजस्थान में रामदेवजी की स्तुति में भग्नोरा-बादन करते समय गायेजानेवाले लेरहडाल गीत ।
- ( ९ ) राजस्थान में पादुकी तथा देवनारायण की पदों के समझ नाचते हुए गायेजानेवाले भोजों के गीत ।

मांगलिक और सांस्कारिक-किया-प्रदान गीतों के ऐसे असंख्य उदाहरण मारतवर्ष के प्रत्येक द्वे त्रिमासों में प्राप्त हो सकते हैं । ये गीत दीर्घकाल से लोक-जीवन में पारिवारिक जन की तरह समाविष्ट हो गये हैं । इससे गहरी सिद्ध होता है कि लोकगीतों की स्वर-रचना में ही बुद्धि ऐसे तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जो स्वाभाविक कियाओं के उत्तरावत में सहायक होते हैं । इन लोकगीतों में एक बात स्पष्ट परिलक्षित होती है और वह वह है कि संगीत के साथ कियाएँ जुड़ी हुई हैं, न कि कियाओं को संगीत प्रदान किया गया है । परम्परा पर जाती हुई स्थियों गीतों की तात्त्व के साथ यपने पाव नहीं मिलती, वक्तों यीसने तथा भेहूं बीमने को कियाओं में हाथ संगोल की लय के साथ नहीं चलते, इसी तरह भेही करते समय किसान की कियाएँ सपवद नहीं होती । यह सब विषयपूर्ण लोकगीतों की व्यावहारिकता की ओर ही संकेत करता है । इन गीतों का लयपरम उनके अनुरूप ही बनाया गया हो, ऐसी बात भी नहीं है । अपरोक्ष में किया और उसके साथ गायेजानेवाले गीतों की लय में कोई

प्रत्यक्ष समझपता नहीं है, बल्कि परोक्ष में देखें तो वे दोनों ही तर्ग ही में हैं। वह लय गीत की ताल में निहित नहीं है बल्कि गायक के हृदय और कियानिरत अंगों के व्यञ्जित सामंजस्य में निहित है। पलघट पर जाती हुई स्त्रियों के पांव भरे ही तंगीत की ताल पर नहीं पड़ते हों फिर भी गीत को भुन और गायक के हृदय में लय को समझपता है, जो इन दोनों को एक दूसरे के साथ जोड़ देती है। वह जोड़नेवाली शक्ति है स्वरों की व्यञ्जना, जो गायक के कठ से निकले हुए गीत की एक मावात्मक निष्ठति है। इन सबका ऐसा भावात्मक तालमेल बैठ गया है कि उपोंतों चक्षी चक्षी और धीसनेवाली स्त्रियों के कठ से वे ही गीत उद्भासित हुए। यही बात इन गीतों के साथ भुलो हुई सभी कियाओं के साथ लागू है।

इन विशिष्ट कियाओं के साथ गायेजानेवाले गीतों में जब कियाओं का कोई बरान नहीं है, तब उनकी प्रत्यक्ष तालों से ही उनका कोई संबंध है, तो वह कोई सी शक्ति है जो उन विशिष्ट गीतों को उन विशिष्ट कियाओं ही से जोड़ती है, दूसरों के साथ नहीं। इन गीतों के सूखम विशेषण से वह ज्ञात होता है कि इनकी स्वर-रचना ही इन विशिष्ट कियाओं के साथ तालमेल के लिए उत्तरदायी है। उदाहरणात्मक चक्षी के गीतों की ही जीविते। चक्षी बहुधा ग्राम: सूर्योदय से पूर्व बहामुहूर्त में घरयन्त गीतीर, बाल्त और तिनर्घ बालायरण में चलाई जाती है। चक्षी जब चलती है तो उससे भी एक विशिष्ट स्वर की निष्ठति होती है। उस समय उसके बधुर संघर्षण के साथ कठ के ऐसे बधुर गीतों का उदय होता है जो उस बधुर की घटनि से मेल आते हैं। सबंध चक्षों पर गायेजानेवाले घण्ठिकोश परम्परागत गीत इसी स्वभाव के होते हैं। इसी तरह पलघट पर जाती हुई स्त्रियों जो गीत गाती हैं, उनकी लय कुछ तेज़ और स्वर-चयन भी कुछ चुलचुला होता है। इसी तरह खेती के शीत, साढ़क कूटने के गीत भी द्रुतगति के होते हैं। ऐसे गीत जूँकि प्रत्यक्ष अथ और शक्तान के समय गाये जाते हैं, इसलिए उनका स्वर-चयन अत्यन्त संविष्ट होता है। स्वरों की संचार-सीधा भी छोटी होती है। उनकी अंदियों भी ऐसी होती है कि उन्हें यकान के समय गाये हुए प्रथिक शक्तान का अनुभव नहीं हो। उसी तरह बच्चों को गुलाने के लिए जो लोरियों गाई जाती है, उनकी बदियों भी अत्यन्त कोमल और कमभैय होती है। उनके अवण मात्र से बच्चों के कानों में जैसे गम्भृत बरसता है। मेलोंठों की संयकर हुरी और लाली दुपहरी के कपड़ों को गुलाने के लिए यात्रियों के कंठों पर जो गीत

जहे हुए होते हैं, उनमें भी वकाल मिटाने की एक अद्भुत क्षमता रहती है। वक्त्रों को सुलाने के लिए राजस्वानी स्त्रियों जिन मधुर लोकनीतों को प्रयुक्त करती है, उनमें से एक मधुर रचना यहाँ स्वरचिपि सहित प्रस्तुत की जाती है। इस रचना में वक्त्रों को सुलाने योग्य क्रमसंबंध एवं कमनीयता दर्शानीय है—

### लोटीगीत

नान्या धरणी रे गांवो रे गोर मे  
नान्या पालसौं वकाल जावे रे  
म्हारो रायमल हींदि पालणे।  
नान्या कुण्डी बो मोलावे पालणे  
नान्या कुण्डी बो खरने दाम रे  
म्हारो रायमल हींदि पालणे।  
नान्या भुवावाई मोलावे पालणे  
फूँफाली खरने दाम रे  
म्हारो रायमल हींदि पालणे।  
नान्या काम कर्क तो चित पालणे  
नान्या करती मचोलो देझ रे  
म्हारो रायमल हींदि पालणे।

### स्वरचिपि (ताल दीपचंदी)

				सा — सा —
				ना ३ न्या ३
भी नी २	सा — रे —	रे — —	सा — — —	
ध रुणी ३	रे १ मा १	रु १ १ १	रे १ ३ ३	
ली ५ १	५ — — —	५ — —	५ सा सा —	
गो ३ १	३ १ ३ १	मे १ १ १	ना ३ न्या ३	
सा रे —	रे — रे —	रे — —	सा — सा —	
पा ६ १	व १ लो १	व १ १ १	का १ ऊ १	

नी - -	सा - रे -	रे - -	सा - सा -
वा ५ ५	वे १ ५ ५	रे ५ ५	म्हा ५ रो ५
सा सा -	सा - सा रे	रे - -	सा - - -
य य ५	व १ रे ५	हीं ५ ५	वे ५ ५ ५
मी प -	प - - -	प - -	सा - सा -
पा ५ ५	ल ५ ५ ५	ले ५ ५	ना ५ न्या ५
४	०	०	३

(वेष मीत भी इसी भूत में गावे ।)

इस राजस्थानी लोकगीत में शब्दों से कही अधिक स्वरों की कमनी-यता की विवेषता है । लब्धार्थ की इटि से तो केवल माता पाता यातने में अलगने वाले बच्चे से यही कहती है कि तुम्हारी भूषा ने यह पालना खरीदकर भेजा है और मैं काम करती हूई अला दे रही हूँ । स्वरों की रचना इत मनो-वैज्ञानिक दंग से हुई है कि उसे मुनाफ़र बच्चा भनायास ही सो जाय ।

### लोकगीतों की अवाध कार्य-संबर्धक शक्ति

लोकगीतों की रचना में एक आश्वस्यजनक बात और देखने को भिजती है, यह है उसकी कार्य-संबर्धक शक्ति । वह विधिन घमनियों में रक्त-संचार करती है, अनिद्रित को निद्रा प्रदान करती है । अकर्मण को जायेंसिरत करती है । अथादालु को अद्वावान् बनाती है । प्रेम विहीन में प्रेम की जी जागृत करती है । उसे हुए को चलने की शक्ति प्रदान करती है । सोतों को जगाती है तथा कागरों को बीर बनाती है । यह! तक कि राजस्थान के नाथपंथी साधुओं को अग्नि में कूदकर मरणकर मृत्यु में निरत करती है । प्रग्नि में कूदने से पूर्ण ये साथ एक विशिष्ट भूत को घटों गुनगुनाते हैं तथा जब वे उसमें पूर्णंकप से समरप हो जाते हैं तो साथ में बजनेवाले विशिष्ट साक्षों के पार निनाव के साथ ये लोग अधिकारी आग में कूदकर नाथने लगते हैं । राजपूती जौहर के समय भी विश्वा ऐसे ही गीतों के बातावरण में अधिकारी हुई ज्वाला में कूद पड़ती थी । राजपूती युद्धों में रणकांकण-नामक वाजे ही भूत पर कई विश्व और युद्ध में जूझ जाते थे । भील युवक अपने बांसुरी-बादन में प्रमेक भील बालाशों को अपनी ओर आकर्षित करते थे । विरहविद्यम् स्त्रियाँ इन विरहविद्यम् लोकगीतों

से अपनी विरहानि बुझाने में समर्थ होती थी। इन्हीं की तीन मज़नों ने अनेक भक्तजनों को शाध्यात्मिक आत्मन उपलब्ध होता है। ऐसे ही गीतों से सेषे हुए समाज को जगाया जाता है और पथ-भूमि-हुए राष्ट्र को अपने कर्तव्य का मान कराना पड़ता है। सोकीतों की अनेक भूमि ऐसी है जो दीमारों को अच्छा करती है। वादिवासियों के गीतों में अनेक भीत ऐसे हैं जिनसे अनेक मानवी देखों का सफल उपचार किया जाता है। इन गीतों की विशिष्ट स्वर-रचनाएँ एक विशेष प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रमाण उत्पन्न करती हैं और दोनों निष्ठय ही रोगमुक्त हो जाता है। अनेक लोकगीत ऐसे भी हैं, जो पशु-पक्षियों को भी प्रभावित कर देते हैं तथा कभी-कभी बढ़ीकरण मंत्र का काम करते हैं। उनसे चार्कित इच्छाओं की पूर्ति तो होती ही है बल्कि उनसे शकु भी वश में हो सकता है।

### लोकसंगीत की प्रेरकशक्ति : प्राकृतिक ध्वनियाँ

लोकसंगीत का यह बहुत ही महत्वपूर्ण पक्ष है, जो बहुधा संगीत के लिंगों के व्यान से ब्रोक्स ही रहता है। यह पहले कहा जा चुका है कि हृष्य के उदगारों के साथ यानायास ही जो मन में मुनमुनाहट उत्पन्न होती है, वही स्वर की निष्पत्ति है। इस मुनमुनाहट की जो अन्नात प्रेरक-शक्ति है वह प्रकृति से उपलब्ध होती है। लोकसंगीत की गोद प्रकृति ही मानी गई है। अच्छा जब मीं की गोद में पलता है तो मानवकार की ध्वनियों का उसके मन पर असर पड़ता है। पहाड़ ढूटे हैं, चट्ठामें टकराती है तो उसके संघर्षों का जिनाव उसके कानों में पड़ता है। जब बादल गरजते हैं और विविधी बमलती हैं तो उसकी कहकहाहट का असर उस पर हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह हवा, दूधान तथा शाँखियों की प्रसरणकारी आवाजें प्राकृतिक मानव को अवश्य ही आनंदोत्तम करती हैं। पहाड़ी भरनों, बूँदों, घतों तथा मख्य समीक की मरं ध्वनि, कोयल की कूक, मधुर के बोल, भीमुर की फिगुरन मानव के अवास मन पर न जाने किन्तु समय से आवात कर रही है। प्राकृतिक मानव इनसे कैसे धूकूता रह सकता है ? वे ध्वनियाँ किसी ब्रह्मार के संगीत का आवास नहीं देती, बरोकि केवल ध्वनियों के संगोग से ही संगीत नहीं बनता। संगीत तो स्वरों के उस नियोजित और सार्वक योग को कहते हैं, जिससे माधुरे और रस की निष्पत्ति होती हो। उक्त सबी प्राकृतिक ध्वनियों का यह स्वरूप नहीं है। वे केवल मूँछ विशिष्ट वैज्ञानिक तस्वीरों के आवार पर आतायास ही संघर्ष-उत्पन्न होते के परिणामस्वरूप जम्म लेती हैं और

धनेक वैमेत और अभियोगित स्वर समृद्ध का सा आभास देती है। उससे संगीत रचनाओं के लिए प्रेरणा प्राप्त करने तथा उन्हें जर्डों-का-ल्पों उनमें प्रतिष्ठापित करने की संभावना लेता मात्र भी नहीं है। वे किसी गीत-प्रणेता की स्वामानिक स्वर-सिद्धियों को प्रमाणित करके उसमें गजेन, संघर्षण, अंकार, घर्मरता आदि का आभास अवश्य पेटा करती है।

इन छवनियों का आभास प्रधिकतर आदिवासियों के गीतों में मिलता है, क्योंकि वही हमारा आदिवासीत है। उसका पोषण और सजैन प्रकृति की गोद ही में हुआ है। वह आदिवासीत छवनि-प्रधान होता है, उसमें शब्द अत्यन्त घोर है। मणिपुर, चिन्हुरा तथा मध्यप्रदेश आदि के घने जंगलों, पहाड़ों, गुफाओं तथा उपत्यकाओं में रहनेवाले आदिवासियों के गीतों में इन प्राकृतिक छवनियों की प्रधानता है। उनके कुछ गीत तो ऐसे हैं, विशेषकर मणिपुर और चिन्हुरा के आदिवासियों के, जिनमें इन-पिने शब्द हैं और जेव केवल छवनियों मात्र हैं। कहीं-कहीं तो केवल छवनियों ही हैं, जो भयंकर तूकान के समय पहाड़ों से टकराकर लीटनेपाली हवाओं का आभास देती है। कहीं-कहीं उन गीतों में ऐसी चिलकारियों हैं, जो पहाड़ पा चट्टान टूटने के समय मुनाई पड़ती हैं। कहीं-कहीं गीतों में ऐसी सीटियों का आभास मिलता है जो एकान्त जंगलों में नीरव धानि के समय मुनाई पड़ती हैं। इन छवनियों के साथ ही दो-चार शब्द जोह देते से पूरा गीत बन जाता है। सारे गीत में कुल भिन्नकार दम-पंडह शब्द भी गिनती के नहीं होते और उनका मतलब भी बहुपा ऐसा निकलता है 'तुम आओ', 'तुम आओ', 'तुम नाचो' आदि। वे गीत उस आदिम-समाज के हैं, जो आज भी आदिमसमाज की प्रारंभिक अवस्था में रहते हैं। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वही आदिवासी उन अत्यन्त आदिमस्थितियों में से निकलकर समय भी बन जाता है, अच्छे कपड़े भी पहिल जैसा है, लिल पहकर-होशियार भी हो जाता है, जिष्ट समाज में विचरण भी करने लगता है, फिर भी जब वह रात को या अपने गालों वरणों को आनंदित करने के लिये अपने अन्य साधियों के साथ जमा होता है, तो वह उन्हीं आदिमगीतों, नृत्यों, पोशाकों तथा साझों का उपयोग करता है तथा उन्हें ठोक उनकी आदिम-अवस्थाओं में ही अदा करता है। यही प्रश्न यह उठाता है कि जब उनकी सभी अवस्थाएँ आदिमस्थिति से ऊपर उठ गई हैं तब उनके मृत्यु, गीत तथा जीवन के सम्य सांस्कृतिक पद्धतियों-क्षेत्रों क्यों रह गये हैं? इसका मुख्य वैज्ञानिक कारण यही है कि मनुष्य जब बदलता है तो उसका भौतिक स्वरूप बदलता

बदलता है और उसका सांस्कृतिक स्वरूप काफी विलम्ब करके परिवर्तित होता है। कभी-कभी तो वह पञ्च संविदों तक कायम रहता है। आज हमारे देश में अनेक परिवर्तन आये, हमने भोपड़े छोड़ दिये, हम महलों तथा बंगलों में रहने लगे, हमने घपनों वेशभूषा छोड़कर विदेशी कपड़े पहन लिये तथा रहने के विदेशी तीर-तरीके घपना लिये, परन्तु किर भी हमने विदेशी गंगीत नहीं अपनाया, विदेशी नृत्य से कोई नाता नहीं जोड़ा। हमारी संस्कृति की मूलभूत वातें, जैसे पूजा, पाठ, सांस्कृतिक पञ्च, नृत्य, गीत, समारोह तथा सम्प्रकार, हमसे छूटे नहीं। यही बात धारिमसंगीत पर भी लागू होती है। कभी हमारे पूर्वज भी धारिम ही थे। अनेक ग्राहकित और सामाजिक कारणों से हम उन धारिम-धर्मस्थानों से बाहर निकल आये, सम्पत्ति की बुद्धि के साथ हमारी धारिम-धर्मस्थानों बदलती गई। ज्ञों-ज्ञों चहुं घोर का जीवनक्रम बढ़ता गया, मानस का विस्तार हुआ, हमारी इंसिट ( Insight ) का फैलाव हुआ, जीवन की धाराशयकताएं बढ़ीं, हमारा मानसिक विकास हुआ, हमारे भावों का परिवर्तन हुआ, हमारे जीवन के तीर-तरीके बदले, संस्कृति के दोषक तत्त्वों में बुरि हुई, अनेक संस्कृतियों का मेल हुया, जीवन की अनुभूतियों के साथ साहित्य का आकाश फैला; कला, साहित्य और संस्कृति के नये-नये स्वरूप मुश्खित हुए, संगीत के स्वरों में निखार आया, स्वरों और शब्दों की अंगना-शक्ति बढ़ी, माखनाएं परिष्कृत हुई। परिणामस्वरूप धारिमसंगीत की आधारशिला पर अवस्थित हमारा संगीत आज कहाँ पहुँच गया? पहले उसने प्राकृतिक छविनियों से हक्कि यहसु की परन्तु आज उसके प्रेरणा-स्रोत विस्तृत हो गये। छवियों के अनेक अनोखे और यदुल मेलजोल से असंघ दृदयथाही भूमों की मूरिट हुई जो आज हमारे लोकगीतों के धंतराल में विराजकर मानव-मन को आळादित कर रही है। इन छविनियों के विलेपण से यह ज्ञात करना कठिन नहीं है कि धारिमसंगीत की मूलभूत प्रेरणाएँ आज भी उनमें विद्यमान हैं। राजस्थान के मरुप्रदेशों के अच्छे से अच्छे उन्नत लोकगीतों में महभूमि पर चलनेवाली उद्धु भाषियों का प्रमात्र आज भी विद्यमान है। जैसे जैसलमेर के स्वरों के कठोर पर गायेवानेवाले मारभीतों में भी वही गूंज, जो उनकी विशिष्ट आलाओं से प्रकट होती है, आज भी विद्यमान है। यही प्रभाव बीकानेर तथा बाड़मेर की गरम लूप्सों के बाद चातुर्मासी भी प्रतीक्षा में गायेवानेवाले लोमासों में परिलक्षित होता है। बीकानेर के जसवंथी माघुओं के अग्नि-नृत्य के साथ गायेवानेवाले गीतों में भी एक विशेष प्रकार की छविनि

का धारामास होता है, जो दबे हुए सुप्तानों और भूमध्यावासों से प्रकट होती है। घरमेंर के धारामास के शुद्धरों के अलगोंजों के साथ गावेजनेवाले गीतों में भी प्राकृतिक किलकारियों तथा सीटियों की बहुत ही विविध नकल की जाती है।

यह प्राकृतिक छवियों की प्रतिच्छाया उन सभी गीतों में पाई जाती है, जो प्राकृतिक वातावरण में अधिक संचरित होते हैं। धारुनिक सम्मता के धारिक वातावरण के संपर्क से मेरे गीत अपनी इस विशेषता को गो बैठते हैं। प्राकृतिक छवियों का यह प्रभाव इन विशिष्ट गीतों की स्वर-रचनाओं में नहीं होता बल्कि उनके लहजों में होता है। धारिगमीतों की स्वर-रचनाएँ में तो कहीं-कहीं ये छवियाँ स्वर-चयन का ध्येय बन जाती हैं, परन्तु सांख्यिक गीतों में मेरे छवियों के बीच याने के लहजों तथा गायकों की शैली ही में सीमित रहती है। गीतों की स्वर-रचना और हों और लहजे कुछ और हों ऐसी बात भी नहीं है। स्वर-रचना और उनके लहजों में भी साम्य होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वर-विज्ञान का यह स्वाभाविक निमाय बिना किसी शास्त्रीय ज्ञान के ही इन गीतों में हुआ है, यही अच्छे की बात है।

### शास्त्रीय संगीत की प्रेरकशक्ति लोकसंगीत

यह तो सर्वसिद्ध बात है कि शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत का विकसित रूप नहीं है फिर भी शास्त्रीय संगीत को लोकसंगीत की प्रत्युपम देत है। वह ऐसा याज्ञाना है जो शास्त्रीय संगीत को नये-नये रूप प्रदान करता है। शास्त्रीय संगीत का शास्त्र संगीत का प्रेरक नहीं बन सकता, क्योंकि शास्त्र को प्रेरणा नहीं देता। वह तो कभी-कभी प्रेरणा देने की अपेक्षा उसकी शक्ति को अवश्य ही करता है। वह उसके उत्तमुक्त प्रवाह को रोकने की चेष्टा करता है, उसे नीमासों में बौद्धता है तथा नियमों में जकड़ता है। जब शास्त्र की यह तब कर्तव्य निभाने का काम सौंपा जाता है तो वह प्रेरणा-शक्ति की से बन सकता है। अतः संसार की कोई भी कला अपनी प्रेरणाएँ शास्त्र से नहीं लेती। ये अपना प्रेरणा-स्पष्ट कहीं और जगह ही बूँदती हैं। लोकसंगीत का प्रवाह, उसका अपरिभित स्वरूप तथा बैविध्य ही शास्त्रीय संगीत के लिए प्रेरणादायिनी शक्तियाँ हैं। लोकसंगीत के बीच शास्त्रीय संगीत की प्रेरणा-शक्ति ही नहीं, वह काव्य की भास्तु भी है। काल्पनिक अन्तर्गताओं में कभी-कभी पढ़ जाता है तब यह लोकसंगीत का मुँह ताकता है। लोकसंगीत की अनेक ऐसी धाराएँ तथा मुकियाँ हैं जो धारानी से हृदयगम होती हैं। ये धाराएँ तथा मुकियाँ शास्त्रीय संगीत में ज्ञान-की-लयों प्रयुक्त हुई हैं। यह तो

पहले ही सिद्ध किया जा चुका है कि लोकसंगीत में शास्त्रीय रागों का मूल स्वरूप धारिकाल से विद्यमान है। शास्त्रकारों ने उनके अनेक जोड़-नोड़ मिला कर अनेक शास्त्रीय रागों का निर्धारण एवं नियोजन मात्र किया है। अतः यह स्वाभाविक है कि लोकसंगीतों के अनेक ऐसे शालाप तथा तान-समूह शास्त्रीय संगीत की रचनकाल तथा भनमोहकता को बहाने के लिए उनमें ज्यों-केत्यों प्रयुक्त हुए हैं। रचीहुई, बनायटी तथा शास्त्रोक्त नियमों में जड़ी हुई शालाप-तानों में वह स्वाभाविक भाव-प्रवणता नहीं होती, जो कभी-कभी दीर्घकाल से असंबद्ध कठोर पर उतरी हुई अनुभूति-संगत लोकतानों तथा लोकधुनों में विद्यमान होती है। ऐसी शालाप-तानों का संचय इन लोकधुनों में से किया जाय तो अनेक पीछियाँ ही भर जावें।

दूसरी प्रेरणा जो शास्त्रीय संगीत लोकसंगीत से जेता है वह है ऐसे विवादास्पद स्वरों के जोड़-नोड़, जो कुछ संगीतज्ञों को न्याय-संगत लगते हैं और कुछ को नहीं। इसी विवाद के कारण बड़े-बड़े विरोधों पक्ष स्थापित हो जाते हैं, बड़े-बड़े विवाद होते हैं और एक पक्ष को विजयी और दूसरे पक्ष को पराजित होना पड़ता है। शास्त्र की इटिंग से ऐसे निर्णय सही हो सकते हैं, परन्तु लोकध्यवहार से वह ठीक नहीं होते। उस ध्यवहार के सच्चे इसनं लोक-संगीत में ही मिलते हैं, जिससे ही शास्त्रीय रागों का यामास शास्त्रकारों ने प्राप्त किया है। और जिस पर शास्त्रीय संगीत का यह विशाल भवन निर्मित हुआ है। इस विवाद का हल यदि लोकसंगीत के ध्यवहार से मिल भी जाता है तो शास्त्रीय संगीत के अनेक विद्वान् अपनी हीनता की माफना को दबाने के लिए कभी स्वीकार नहीं करते। परन्तु मह विवाद शास्त्रीय संगीत स्वयं लोकसंगीत के पास आकर मिटा देता है। इनजाने ही लोकिक ध्यवहार में पारस्परिक भेलजोल, आदानप्रदान, तुनाना, संबंधन आदि से यह विचार अन्दर ही अन्दर चैठ जाता है। इस नुष्टि के मूल में लोकसंगीत ही है, जो उन विवादास्पद बासों को अपने ध्यवहार में गुढ़ रूप से दिलाकर औलाध्य तथा प्रयोत्ताध्यों पर अपनी अभिट छाप छोड़ देता है। वे विवाद रागों के नियत स्वरों की अवस्थिति के संबंध में नहीं उठते क्योंकि उनका शास्त्र तो सर्वदा ही निविवाद रहता है। वे तो स्वरों के बादी-विवादी पक्ष के धरण तथा भूत्यल्प प्रयोग के संबंध में उठते हैं, जो कभी-कभी शास्त्रविकल्प होते हुए भी विचारण राग में माधुरे जपन करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। उन विवादी स्वरों के अल्प प्रयोग की अनुमति कभी शास्त्रीय संगीत में मिल भी जाती है

तो उसका मुख्य कारण लोकसंगीत ही है, जिसमें ऐसे विवादी स्वरों से प्रभाव उत्पन्न करते के असंबंध उदाहरण मिलते हैं।

लोकसंगीत का दूसरा पथ ऐसा है, जिससे शास्त्रीय संगीत अत्यधिक मात्रा में प्रेरणा द्वारा करता है। एक ही लोकसंगीत में बहुधा एक से अधिक रागों की प्रतिश्चिति रहती है, जो कि उसे प्रतिश्चिति रंग और माधुर्य प्रदान करती है। घनेक लोकसंगीत ऐसे भी होते हैं जिनमें एक ही राग को सभी हाथ तक निभाया गया है जाहे उनमें शास्त्रीय रागों के सभी नियम न भी निभते हों, फिर भी राग की सच्ची प्रतिश्चिति उनमें विद्यमान रहती है। ऐसे लोकसंगीत जिनमें एक से अधिक रागों का विभाग नहीं होता, वे गीत के सौन्दर्यपद्म की हाईट से या स्वर-अंगना की हाईट से खेड़ गीत नहीं समझ जाते, जबकि शास्त्रीय संगीत में ऐसे ही गीत खेड़ समझे जाते हैं, जिनमें एक ही राग का मलीब्रकार निभाव होता है। लोकसंगीतों को सर्वाधिक सौन्दर्य प्रदान करनेवाली थाकि पही विविध रागों की स्वाभाविक संगति है जो धनायास ही जिनका प्रयास के लोकसंगीतों की सामाजिक रचना-विधि से हूँमें उपलब्ध होती है। इन गीतों का जाहे कितना ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय, उनके विविध स्वरों के जोड़तोड़ सर्वदा ही रस की संगति करनेवाले होते हैं। उनमें उन्हीं रागों की संगति होती है जिनका मिलना स्वाभाविक होता है। ऐसी रागों कभी नहीं मिलती है जो विहृत प्रभाव उत्पन्न करती है। शास्त्रीय रागों को लोकसंगीतों की सबसे बड़ी देन यही है। शास्त्रीय रागों में राग-प्रश्चात्य के जो विलक्षण नमूने मिलते हैं, उनके पोछे लोकसंगीतों की प्रेरणा ही प्रधान है।

लोकसंगीत की तीसरी सबसे बड़ी देन जो शास्त्रीय संगीत की है वह है उसकी लोकप्रियता। शास्त्रीय संगीत सदा ही शास्त्रों की तरफ भुक्ता है। शास्त्रीय संगीतकार अन्य संगीतों के समक्ष अपना बच्चेद्वय स्वापित करने के लिए शास्त्रों से ही अपने संगीत की संपद्ध करता है और उसके प्रदर्शनकारी पथ को ही सर्वाधिक महसूव देता है। इसीलिए शास्त्रीय संगीत विलष्ट से विलष्टतर बनता जाता है और जनसंघ से अलग होने लगता है। ऐसी स्थिति में लोकसंगीत ही ऐसा पथ है, जो उसकी मदद के लिए आवाह है। संगीत के अन्य स्वरूप जैसे तुगम संगीत, फिल्मी संगीत आदि तो उनकी प्रेरणा-कल्पना ही नहीं सकते, क्योंकि वे गंसकार-संगत संगीत की अंतिमी नहीं हैं। शास्त्रीय संगीत के समकाल यथि कोई महसूवपूर्ण तथा गंसकारिक अंतिमी ही नहीं है वह लोकसंगीत ही ही है, जिसकी लोकप्रियता से वह पूर्णकरण से प्रभावित

होता है। वह उससे रायों के स्वाभाविक विवरण के संकेत लेता है, उसके स्वाभाविक लहजों, धारायों तथा मुक्कियों को आधम्यात् करता है तथा स्वरूपता के असंख्य प्रकारों को प्रपने में गहरा करके प्रपने प्राण संजोता है।

### लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति

यह तो पूर्व-पृष्ठों में भली प्रकार दर्जाया गया है कि लोकगीतों में उसका संगीतपद्धति प्रधान प्रोटर शब्दपद्धति गौण होता है। अभी तक शब्दपद्धति की प्रधानता इसलिए, समझो मई, क्योंकि शब्द तक लोकगीतों को एक ही पद्धति में देखा गया है तथा उसके समीक्षकों ने उनके शब्दपद्धति की ही विवेचना की है। हम यह भूल जाते हैं कि लोकगीत की उत्पत्ति के समव श्वर ही प्रधान या और उसका चरम उद्देश्य ही स्वरपद्धति की प्रधानता प्राप्त कर शब्दों से अधिकाधिक मुक्कि प्राप्त करना है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि लोक-संगीत धरपनी शादिय-धरवस्था को प्राप्त करने की ओर प्रवृत्त है, जिसमें अनियों की ही प्रधानता है तथा स्वर और शब्द दोनों ही गीण हैं। न इससे यह तात्पर्य है कि वह शास्त्रीय पद्धति की ओर प्रवृत्त है, जिसमें स्वर ही स्वर है, शब्द धरपन्त मीण है। ये दोनों ही पद्धति लोकसंगीत की चरम प्रवृत्ति के पक्ष नहीं हैं। चरम प्रवृत्ति का तात्पर्य यह है कि लोकगीत धरपने मूलादर्यों की पूर्णसूप से निभाते हुए धरपने स्वरपद्धति के सीनदर्यों को पहुँचना चाहता है। यही लोकगीतों का चरम आदर्य है, जहाँ तक विरले ही पहुँचते हैं। धरने की गीत तो ऐसे हैं, जो धरपनी प्रारम्भिक धरवस्था में नियामित होकर स्वर-शब्द का सामंजस्य प्राप्त करते हैं। शब्द के प्राचार्य से मुक्त होते-होते ही स्वरों की धरनत प्रक्रियाओं में या तो जो आते हैं, या शास्त्रीय संगीत के द्वंग बन जाते हैं। स्वर की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए जिन पोषक उद्देश्यों की आवश्यकता होती है, वे उन्हें समय पर उपलब्ध नहीं होते। ऐसे गीतों की भवत्त्वति निश्चित है जो इस प्रोटर प्रवृत्त मज़हर आते हैं। उस चरम सीमा तक पहुँचते हुए गीत लोकलोकन से मुक्त होकर ऐसे कठोर पर विराब जाते हैं, जिनकी पहचान करना असाध्य कार्य है। इस चरम सीमा तक पहुँचे हुए गीत या तो साधु-संतों की प्रगाढ़ साधनाध्रों के बीच उनकी धार्मतरिक मुनगुनाहृष्ट या साधना-निरूप छवियों में अनुरूप रहते हैं, या कहीं शास्त्रीय संगीत की प्राप्त-तानों में अनुरूप हो जाते हैं। बास्तव में लोकगीतों के स्वर में इन चरमसंकार्य तक पहुँचे हुए गीतों की अवस्थिति अधिक सम्भव नहीं है। ये धरपनी स्वर-रचनाध्रों की विदेषता के कारण शब्दों से मुक्त होकर धरने

शोकिया कलाकारों, शोकिया समीतप्रेमियों के कठों पर बिराज जाते हैं। परन्तु उनका यह जीवन भी अत्यन्त अल्पकालीन है, क्योंकि विना शब्द की संगति से मानव-कठ पर वे अधिक समय तक विद्वामान नहीं रहते। वे पदि शब्दों के कारण अभूता प्राप्त होते ही उन्हें कागज पर सुरक्षित रखा जा सकता या और वे दीर्घकालीन जीवन पा सकते थे। परन्तु केवल कठ की गुनगुनाहट के रूप में उनकी अवस्थिति दीर्घकालीन नहीं हो सकती। उनके दीर्घकालीन होने की एक ही गति है कि वे जीवन के लोकिक पथ से निकल कर अलोकिक साधनों के साथ जुह आवं और वे ऐसी रुहि में पढ़ जावें कि उनके विना प्राराघना असंभव बन जाय। परन्तु यह स्थिति बहुत संभव स्थिति नहीं है। सहस्रों गीतों में कुछ ही गीत इस स्थिति में मिल सकते हैं।

इस चरण अवस्था में यदि लोकसंगीत की कहीं अवस्थिति मिल सकती है तो वह बाधकारों की खुनों में। यह विशिष्ट दर्जी भी हडारों गीतों में से कुछ ही गीतों को मिलता है, क्योंकि लोकगीतों में स्वर-शब्द-संगति का यह विलगीकरण अत्यन्त असाधारण किया है। यह विलगीकरण भी उन्हीं गीतों में संभव है जिनको धुने माधुर्य, लोकसाहिता तथा प्रभाव उत्पन्न करनेवाली होती है तथा जो शब्दों के लालित्य वर विशेष निमंर नहीं रहती। ऐसे गीत अपने स्वर-लालित्य तथा अनुपम हृदयवाही बदियों के कारण लोकजीवन के अत्यन्त रसीदे गीत बन जाते हैं, जिन्हें जनसाधारण हुर परिस्थिति में गाता है तथा जो उनके कठों का हार बन जाते हैं। उनका प्रचार, अवहार तथा प्रभावक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। वे जाति, धेन, परिवार तथा व्यक्ति की सीमा से बाहर निकलकर दीर्घजीवी तथा दीर्घक्षेत्री गीत बन जाते हैं। उनमें शब्दों का प्राप्तान्य नहीं होता इसलिए प्रत्येक प्रयोक्ता उनमें आजादी लेता है, फिर भी उनका स्वाभाविक सौन्दर्य अवृप्त होता है, पूरनों से लिलचाड़ करता है, किर भी उनका स्वाभाविक सौन्दर्य अवृप्त होता है। विद्वज्जन खुनों का संघर्ष करते हैं, इवनि-संकलन-वेत्र पर उनका संकलन करते हैं, कविगण ऐसे गीतों की खुनों पर अपनी कविताएँ रचते हैं, फिल्मों निर्माता ऐसी खुनों को शब्द देकर अपनी फ़िल्म-रूपनालियों में प्रयुक्त करता है। कई शोकिया लोग ऐसी खुनों को दक्षाली धुने मानकर उन पर अधारित अपने नीत रस्कर पुस्तके प्रकाशित करते हैं तथा प्रत्येक स्वरचित गीत पर शीर्घक्षय में "तज्जफ़तानी" का संकेत करता है। ऐसे गीतों का यह बहुमुखी प्रचार और प्रसार इसी तथ्य की ओर संकेत करता है कि वे गीत अपने शब्दों की संगति से मुक्त होकर अपनी खुनों के कारण ही अमर बन रहे हैं। उनकी वैज्ञानिक अवस्थिति

वाद-संगीत की भुन के रूप में है । शब्दों के प्रभुत्व से भुक्त होकर यदि ये भुने कहीं बोधकात के लिए गम्भीरपूर्वक उच्चासीम हो जाती है तो वाचों पर ही हो सकती है । लोकसंगीत में स्वतन्त्र वाचसंगीत बहुत ही असाधारण विशेषता है, क्योंकि वाचसंगीत के योग्य वे ही भुने समझी जाती हैं, जिनके बजाने मात्र से खोतामण उन मूल शब्दों का अदाका लगा सके । ऐसे मौत वे ही ही सकते हैं जो अपनी भुनों के कारण ही प्रभुता प्राप्त हों और जो उनके शब्दों की प्रभुता से प्राप्त मुक्त हों और जिन्हें ओता वाचों पर सुनते ही स्वयं या उठते हों ।

यहीं एक प्रश्न और उठता है कि क्या प्रत्येक लोकसंगीत इसी उत्कृष्ट को प्राप्त करने को लानाप्रिय है ? इसमें काफ़ी हद तक सच्चाई का अंश है, क्योंकि शब्दों की सर्वप्राप्तता सदा ही स्वर से कम होती है । शब्दों का प्रसार विशिष्ट शैल तथा समाज तक ही सीमित रहता है । परन्तु स्वरों को प्राप्त कोई सीमा नहीं हैंसी । वे सर्वज्ञताय, सर्वव्याप्त तथा सर्वप्रिय होते हैं । इसीलिये स्वर सकीख दायरे से बाहर लिकलने की चेष्टा में सदा ही शब्दों से भुक्त होने को कोशिश में रहते हैं, चाहे उनकी समति से कितनी ही रसनिष्ठता नहीं न होती हो । वे सदा ही इस कोशिश में रहते हैं कि वह रसनिष्ठता उन्हें शब्द-संगति के बिना ही मिल जाय । यह चेष्टा प्रत्येक लोकसंगीत में सदा ही विद्यमान रहती है, चाहे वसे सफलता मिले या न मिले । अगले ऐसे लोकसंगीत हैं जो इस स्थिति तक पहुंच नी जाते हैं, परन्तु अधिक समय तक रिवर नहीं रहते । प्रत्येक ऐसे सामाजिक और भावात्मक कारण होते हैं, जो उन्हें इस स्थिति तक नहीं पहुंचने देते । अधिकांश भुनों तो शब्दों के साथ चिपकी रहती है । कुछ ऐसों मो होती हैं जो इस स्थिति को ग्राप्त करने से पूर्ण ही समाप्त हो जाती हैं और कुछ ही ऐसी हैं, जो शब्दों के बजात से मुक्त होकर आव्याहिक लिपाच में लिपटकर बोधज्ञोंही हो जाती हैं ।

### लोकसंगीत और सामाजिक परिवर्तक

लोकसंगीत के बहुत यतोरजन और भावमानन्द का ही साधन नहीं है, उसमें कहीं प्रथिक उसका सामाजिक भूलूल है । जिस जाति या समाज में लोकसंगीत का प्रचलन नहीं है, वह राज-देश, पारस्परिक विदेश तथा पारिवारिक उपचानों में फैली रहती है । यह भी अध्ययन से लिछ हो जाता है कि जिस जाति में लोकसंगीत का सर्वाधिक प्रचलन है, उसमें मुकदमेबाजी तथा नडाई भगवें कम होते हैं । यह ऐसी सांस्कृतिक ब्रह्मिका है जो ननुष्य के भावों का संस्कार

करती है, विहृत भावी को सही दिशा देकर उसको मधुर बनाती है। वह मनुष्य जो गाता नहीं, उसके ओप जल्दी गाता है और वह लड़ता-मगड़ता भी बहुत है। उसके पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध अच्छे नहीं होते। लोकसंगीत सारे सभाज का संगीत है। किसी व्यक्ति, परिवार, गुट या लोकविशेष का नहीं। वह सबका है, अतः सबके मिलाप के लिये वह एक सामाज्य रंगमंच है। वही सभी लोग भेदभाव रहित मिलते हैं, गाते हैं और मिल-बैठकर आनन्द मनाते हैं। यहाँ तक कि यदि कोई पारस्परिक विवेष के कारण नहीं भी बोलते हैं तो भी सामूहिक गान के समय वे सब मिलकर गाते हैं।

लोकसंगीत के विविध रंगमंच हैं, मंदिर, गवि का चोराहा, घर का अंगन, सार्वजनिक मेले, बाजार, हाटबाट, बाग-बसीने, बेस, खलिहान, देवल, मठ यादि-यादि। वही मनुष्य अकेला नहीं गाता। वैयक्तिक अभियंजना लोकमीलों में प्राप्त: नहीं के बराबर है। अतः जातीय, सामाजिक तथा राष्ट्रीय संगठन का यह सबसे अधिक शक्तिशाली मंच है, जिसके द्वारा विलरे हुए समाज तथा परिवार पुनः बुढ़ जाते हैं, और यान्त हो जाता है, विवेष मिट जाता है और प्रेम, सौहार्द तथा दया के प्रनंत सोत बढ़ने लगते हैं। संगीत की इस अवधार शक्ति का कौन मुकाबला कर सकता है? ये ही लोकसंगीत विरहिणी स्त्री के विदग्ध हृदय को गान्ति पहुँचाते हैं, माता-पिता, भाई-बहिन, परिवार, सास-बहू, देश, समाज, जाति, जमी की तरफ कर्तव्यपालन का पाठ पढ़ते हैं। इन स्नेह-संबंधों की पश्चित्ता सदा ही अधुर्णा बनी रहे, इस और ये लोकसंगीत सदा ही संकेत करते रहते हैं। ये ही लोकसंगीत मानव-कठ के हाथ बनकर ध्वनि गुल का अनुभव कराते हैं, कर्तव्यघुरुत को कर्तव्य का रास्ता दिखाते हैं, मंत्रपत् हृदय को मुण पहुँचाते हैं, धर्तीत की मधुर स्मृतियों को ताजा करते हैं तथा वर्तमान और भविष्य के लिये हुस्में शक्ति का सचार करते हैं। इन्हीं लोकसंगीतों की स्वर-सहरियों नवीन गीतों को और हमें प्रेरित करती है और इस तरह गीतों की इस अमर परम्परा का चक चलता ही रहता है।

### लोकसंगीत के पोषक तत्त्व

लोकसंगीत की पुष्ट करनेवाली सबसे महान् शक्ति सामाजिक प्रतिभा है। सामूकितिक धरातल समान होते हुए भी कभी-कभी जातिगत प्रतिभा-लोकसंगीत को मुसम्मद करने में सहायक होती है। कई जातियाँ स्वभाव से ही संगीत के विशिष्ट तत्त्वों से विभूषित होती हैं। जिस समाज या लोकविशेष

में ऐसे तत्त्वों का बहुत्य है, जहाँ लोकसंगीत को विशेषण से पोषण प्राप्त होता है और सच पूछिये तो ऐसे ही स्थलों से लोकगीतों की प्रारंभिक निष्ठति भी होती है । ऐसे तत्त्व स्थल-संगत नहीं, जाति-संगत होते हैं । इन जातियों की व्यवसरभूमि से ही के तत्त्व विरासत में मिलते हैं, जो तनिक अवसर पाकार सामाजिक पोषण पाने लगते हैं । लोकसंगीत की हाइ से अधिकांश प्रतिभाएँ ऐसी ही जातियों में छिपी रहती है । इन जातियों से तात्पर्य संगीत की व्यवसायिक जातियों से नहीं है बल्कि उन जातियों से है जिनका संगीत व्यवसाय नहीं है, वरन् जिनमें संगीत की बंगानुगत प्रतिभा होती है । जब ये भीत इनमें सचिरित होते हैं तो उनको ये जातियाँ अपनी बंगानुगत प्रतिभा तथा स्वर-शब्द-संगत से ऐसे मधुर तत्त्व प्रदान करती रहती हैं, जिनसे लोकगीतों की संचरण और प्रभावशालिक बढ़जाती है ।

इन पोषक तत्त्वों में समाज के सांस्कृतिक घटातल का महत्वपूर्ण स्थान है । प्राचीन समाज हीनावस्था को प्राप्त होता है तो कला के प्रति उसकी जागरूकता नष्ट सी हो जाती है और लोकगीतों को पोषण प्राप्त होने की अपेक्षा उनकी स्वयं की प्रतिभा भी घटने लगती है । सुसंस्कृत और सम्य समाज लोकगीतों को प्राप्तना घलकार बनाये रखता है और उसके प्रत्येक सांस्कृतिक, पारिवारिक और सामाजिक समारोह की ओर जोड़ा बनते हैं ।

लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व परंपरांगत संस्कृति के प्रति आस्था है । जिस समाज में अपनी संस्कृति के प्रति कोई आस्था नहीं है तभी जो बाह्य प्रभावों से प्रभावित होकर अपनी सांस्कृतिक परम्परा को लो बैठा है, वह समाज अपने लोकगीतों के प्रति उदासीन सा रहता है । अपनी अर्तीत की जाती पर गव्ह का अनुभव करनेवाले सुसंस्कृत समाज में ये लोकगीत सर्वाधिक पोषण प्राप्त करते हैं । लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सामाजिक समता, स्वत्त्व सामाजिक मन्त्रित्वक तथा अग्निविक जीवन अत्यन्त सहायक है । कलहर्ष समाज, संघर्षमय जीवन, असंस्कृत तत्त्वों का प्रभुत्व तथा जातिगत सामाजिक व्यवस्था लोकगीतों के शब्द हैं । ये तत्त्व आज सर्वाधिक बढ़ि पा रहे हैं, इसीलिये लोकगीतों के प्रति सामाजिक उदासीनता भी बढ़ रही है ।

लोकगीतों के पोषण में स्त्रियों का बहुत बड़ा लाभ है । उन्हींने ही लोक-संगीत की अध्युण्णा धाराएँ सुरक्षित रखी हैं । बालक का जन्म, विवाह, ल्योहार, पर्व, संस्कार, मेले, उत्सव, रात्रिनाट्यरस, दैव-मनीजियों प्रादि परम्परों पर गायेजानेवाले सभी गीत स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं । सच पूछिये तो लोकगीतों को सुरक्षित और पुष्ट करनेवाली स्त्रियों ही होती हैं ।

लोकगीतों के पोषक तत्त्वों में सामाजिक भावप्रवणता का प्रमुख स्थान है। यह प्रवणता आज के चाँचिक जीवन में कम होती जा रही है। मनुष्य बुद्धिगीती होता जा रहा है अतः साहित्य, संगीत तथा कला-सज्जन के कार्य में यह स्थिति घातक सिद्ध हो रही है। जहाँ समाज का भावपक्ष दुर्बल हो जाता है वह समाज हो जाता है और बुद्धितत्त्वों का बाहुरूप होता है वहाँ कला, लोकानन्द और आत्मानन्द से दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में मनोरंजित और मनोरंजक की दो भ्रलग-भ्रलग भ्रेशियों बन जाती हैं और कला आत्मानन्द की वस्तु न रहकर जेवल मनबहलाव की वस्तु बन जाती है। यह मनोरंजक का विशिष्ट वर्ण जनता को मनोरंजित करता है और सामाजिक तथा सामूदायिक मनोरंजन का यक्ष सदा के लिए उठ जाता है।

लोकसंगीत के पोषक तत्त्वों में संगीत का बाह्य आदान-प्रदान भी प्रमुख भाग बना करता है। जहाँ विविध क्षेत्रीय, जातीय, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का पारस्परिक मेल होता हो वहाँ भेलजोल, सहयोग-संसंग दे गीतों को पोषण मिलता है। जहाँ ऐसे प्रवसर प्राप्ति होते हैं, वहाँ का संगीत एक दूसरे से पोषण-तत्त्व प्राप्त करके सम्पन्न और समृद्ध बनता है। जो समाज आदिवासी समाज की तरह अपने प्राप्तको अलगबलग तथा सांस्कृतिक आदानप्रदान और सम्पत्ता के प्रसंगों से बचा-बचाकर रखता है, उसकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कुपण के धन के समान वहाँ की तहीं रहती है।

लोकसंगीत की निष्पत्ति के लिये सांस्कृतिक संघरण, भावात्मक उथल-पुथल तथा आध्यात्मिक ऋग्नि का बातावरण अत्यन्त अनुकूल होता है। लोकगीतों के पीछिक संघरण से फ्रेनेक सांस्कृतिक तत्त्व मिलते हैं, एक दूसरे से विचुड़ते हैं, नये तत्त्व आते हैं, पुराने लड़खड़ाते हैं, नवीन धरातल बनते हैं, जिनसे गीतों को स्वर-शब्द-संगति में जिलबण ताजगी आती है। भावात्मक उथलपुथल, धार्मिक संघरण तथा राष्ट्रीय उत्कर्ष-ध्यपकर्य के बायु-मंडल ही में नवीन रचनाओं के पोषक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में निराशा उत्पन्न होती है तब आध्यात्म की जरण भी जाती है। ऐसे ही समय धार्मिक लोकगीत, भजन आदि का मृजन होता है।

### शब्दसापेक्ष और स्वरसापेक्ष लोकगीत

लोकगीतों को लोककाव्य यी संज्ञा न देकर गीत को संज्ञा इसलिये दी गई है कि उनमें गेय मुण्ड विकेष है। विमुद साहित्यिक कृतियों में भी कविता

और गीत को अवधिति यत्तम-यत्तम दर्शाई गई है, जैसे तुलसीकृत रामायण महाकाव्य है और गीतावती सीतिकाव्य। रामचरितमानस में काव्यतत्त्व विशेष है और गीतावती में येव तत्त्व प्रधिक। ठीक यही स्थिति लोकगीतों की नहीं है। लोकगीतों का येव तत्त्व साहित्यिक गीतों के येव मुण्डों से बहुत भिन्न है। साहित्यिक गीतों में कविता को किसी भी भून में गा लेने से वह गीत की वेसी प्राप्त कर लेती है, परन्तु लोककाव्य अथवा लोककविता को मा लेने से गीत नहीं बन जाता। साहित्य में तो छब्बिहीन तथा अतुकाव्य गद्य को भी गद्यगीत की संज्ञा दी जाती है, परन्तु अतुकाव्य और छब्बिहीन लोकगद्यगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। लोकगीतों की कविता साहित्यिक गीतों की कविता के समान नहीं है। लोकमानस में स्वतन्त्रत्व से कवित-रचना की गतिक कहीं से या सकती है, उपर्युक्त विविध संस्कार, विकास तथा साहित्यिक स्तर की प्रावश्यकता होती है। किंतु ऐसे प्रश्न यह कहाँ से आई ? ये जीवन के ऐसे पहलुओं को एवं करते हैं तथा उनकी अविवृद्धजनाएँ इतनी मार्मिक होती हैं कि बुद्धि काम नहीं करती। लोकगीत में विस विषय का प्रतिपादन होता है तथा उसे जितने सुन्दर ढंग से निभाता जाता है, उनमा कोई महान् भ्राचार्य भी नहीं कर सकता। विषय और अविवृद्धजनाओं का सुन्दर प्रतिपादन, शब्दों का सुन्दर चूनाय तथा उनकी अद्भुत व्यञ्जनाशक्ति, सामाजिक जीवन की मुक्ति-मुक्त मार्मिक स्थितियाँ, जारित्रिक वर्णन में स्वाभाविकता तथा सामाजिक मूल्यों का सुमधुर तथा यज्ञतत्त्व विभ्रण, भावों-और शब्दों की बढ़कृष्टता तथा उनका समर्पित निभाव, ये सब गुण लोकगीतों के साहित्य में इतने सुन्दर ढंग से निभाये गये हैं कि कभी-ननी यह प्रकृत उड़ता है कि ऐसी कृतियाँ लौकिक जीवन में विना साहित्यिक ज्ञान के केसे संभव हुई ? इन शब्दों द्वारा एकमात्र तत्त्व यही है कि इनकी निष्पत्ति भार्मिक स्वरों के साथ हुई है। स्वर-व्यञ्जन-संगति के द्वारा किसी व्यक्ति, परिवार, प्रतिभास तथा शेषविशेष का हाथ नहीं। ये समर्पित कृतियाँ हैं, असंख्य जनसमुदाय की भिसीजुली योग्यता, अनुभूतियाँ, प्रतिभास उनके द्वारा दिखी हुई हैं, तभी यह सीन्दवयं संभव हुआ है। गीतों में शब्द के अनुरूप ही स्वर-संगति का चमत्कार परि कहो देखना है तो इन गीतों में ही देखा जा सकता है।

**साधारणत:** लोकगीतों की स्वर-व्यञ्जन तथा शब्द-रचना में सौम्य-सामर्पजत्व रहता है, परन्तु अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनमें इस तत्त्व का निभाव पूरी तरह नहीं हुआ है। कुछ लोकगीत अपनी स्वर-व्यञ्जना के लिये जाने गए

ही तथा कुछ प्रपते साहित्यिक गुणों के कारण ही प्रचलित हुए हैं। अनेक गीत ऐसे भी हैं, जिनको स्वररचना अत्यन्त प्रोफ़ और समृद्ध है, परन्तु जिनका साहित्यिक पाल इसमा निलंबना हुआ नहीं है। ऐसे गीत स्वरप्रधान गीत हैं। इनका महत्व केवल उनको मुन्दुर छुनीं के कारण ही है। ऐसे गीतों की प्रवृत्ति सदा ही शब्दों से मुक्ति पाने की होती है, जिससे स्वर अक्षण्या रह जाते हैं और शब्द मौका पाकर बदलते रहते हैं। परन्तु साहित्यिक गीतों में शब्द-संस्करणीय भी स्वर-संस्करण से अलग होने की चेष्टा नहीं करते। वे सदा ही एक दूसरे के साथ चढ़ते रहते हैं। एक स्वरप्रधान राजस्वानी लोकगीत स्वरजिपि गहित उद्घृत किया जाता है।

### टिक्कड़ी गीत

शावियो भाजे रे टीकू भरती भूजे रे  
 भूजे भारे टीकूए री पाल - टीकूया रे लाल  
 म्हारा टीकूया रे लाल - टीकूया रे लाल  
 शावियो बररे भरती भीजे रे  
 भीजे भारा टीकूए री पाल - टीकूया रे लाल  
 म्हारा टीकूया रे लाल - टीकूया रे लाल  
 मोठ याजरी मगळो ई लाम्यो रे  
 लाम्यो म्हारी हरयोही जवार - टीकूया रे लाल  
 काचरुया ही लाम्यो म्हारा मतोरा ही लाम्यो रे  
 लाम्यो म्हारा सजना रो खेत - टीकूया रे लाल  
 म्हारोहे खेत में केर मती याजे रे टीकू  
 योया कक्के रे जुवार - टीकूया रे लाल  
 म्हारा टीकूया रे लाल - टीकूया रे लाल

### स्वरजिपि (ताल दीपचंदी)

म	म	-	म	म	म	मा	मा	-	मा	मा	-		
भा	वि	इ	भो	इ	गा	इ	जे	इ	रे	टी	इ	कू	इ
मा	म	-	म	-	म	म	म	प	-	म	प	म	-
थ	र	इ	ली	इ	क	इ	भु	जे	इ	रे	इ	इ	इ

म प -	म - ग -	म प -	म - ग रे
सु जे ५	महा ५ रे ५	टी ह ५	ए ५ री ५
रे म ग	- - - ग	ग म -	सा म ग सा
पा ५ ५	५ ५ ५ श	टी ह ५	आ ५ रे ५
गा - सा	सा - सा नी	सा ग -	म प ग म
सा ५ श	महा ५ रा ५	टी ह ५	सा ५ रे ५
म नी प	- - - -	- - -	म ग सा ग
सा ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ५	५ ५ ५ ५
ग म -	- - - -	- - -	ग प म ग
इ ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ५	५ ५ ५ ५
सा -	- - - -	- - -	सा - सा नी
५ ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ल	महा ५ रा ५
सा ग -	म प ग म	पम नीप	- - - -
टी ह ५	सा ५ रे ५	(तां) ५५	५ ५ ५ ५
प - -	म ग सा ग	ग म -	- - म -
५ ५ ५	५ ५ ५ ५	५ ५ ५	५ ५ ल ५
ग म -	सा म ग सा	सा - -	- - सा -
टी ह ५	सा ५ रे ५	सा ५ ५	५ ५ ल ५
X	२	०	३

( नेष्ठ भीत भी इसी भुन में गावें । )

इस गीत में एक कृपक टिक्कियों से कहता है कि कृपा करके मेरे चेत में दुखारा पदार्पण नहीं करे, क्योंकि पहले भी मेरा भारी नुकसान हुआ है। इस अनुनयशुल्क कथन को बाह-बाह आवृत्ति हुई है। सभस्त गीत में शब्दों का

कोई महत्व नहीं है, न उनसे कोई कारण्य की ही अभिव्यक्ति होती है, परन्तु स्वरस्वना इतनी मधुर और मामिक हुई है कि उसे सुनकर किसी का भी हृदय द्रवित हो सकता है। इस गीत में से यदि शब्दों का लोग भी हो जाय तो भी स्वर अपनी मुद्दु रखना के कारण अक्षण्णु रह सकते हैं।

लोकगीतों का साहित्यिक पश्च सरल, स्वाभाविक तथा साहित्यशास्त्र की ऐचीदगियों से मृक्त होता है। उसको प्रीकरण और व्यंजकता प्रदान करने-वाला कारण्यशास्त्र नहीं है, वह उसका स्वर-पश्च ही है। कुछ लोकगीत तो ऐसे भी हैं, जो केवल धुन मात्र हैं। कुछ ही शब्द असंबंधित रूप से उनके साथ खड़े हुए होते हैं। ऐसे गीतों की धुनें ही इतनी अस्तिकाली होती हैं कि वे स्वभाव से ही शब्द-गति को अपने से दूर रखती हैं। शब्दों की बाँधित गति उन्हें अपने स्वरों से ही प्राप्त होती है। वे इस स्थिति की प्रतीक्षा में रहते हैं कि शेष शब्द भी उनसे सदा के लिये मुक्ति पा जावें; परन्तु विपरीत इनके गीतों का शब्दपश्च सर्वदा ही स्वरों को पकड़े रहना चाहता है, वर्योकि जन-मानस भी उन गीतों को उनकी मुमधुर और प्रभावशाली धुनों के कारण ही पकड़े रहता है।

लोकगीतों के साहित्यिक पश्च के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीनिक और पारिवारिक गीतों का ही साहित्यपश्च प्रबल होता है। मनुष्य में पारिवारिक भावनाएँ सर्वाधिक प्रबल होती हैं, वह प्रतिदिन उन्हीं में विचरता है और नाना प्रकार के कहवे और भीठें अनुभव करता है; उनके प्रति उसकी ममता और वैयिकिक भावना लिपटी रहती है। अपने दुःख-मुख, भ्रातन्द-उल्लास को अभिव्यक्ति का वही एकमात्र साधन है। पारिवारिक जीवन के अनेक पहलुओं के बीच वह मुखरता है। पति-पत्नी, भाता-पिता, नगद-मौजाहि, प्रेमी-प्रेमिका आदि अनेक मधुर पारिवारिक संबंधों में वह गुच्छता है और परिवार की भूमिका में जीवन के अनेक अनुभव प्राप्त करता है। मामली भावनाओं में दूधे हुए ये मधुर संबंध मनुष्य को विरह-भिजन, संयोग, मैत्री, स्नेह, प्रेम तथा ममता के अनेक दोषों में अवैश करता है और वह इन जीवन-स्तरों से परिपूर्ण और भावनाओं से सराबोर अपनी अनुभूतियों के मोतियों को स्वरों के धागे में पिंडता है। ये अनुभूतियाँ धीरे-धीरे एक से अनेक की तथा व्यक्ति से समिट की अनुभूतियाँ बन जाती हैं और सुदूर, अृगारिक और पारिवारिक लोकगीतों में प्रकट होती हैं। इन सब वैविध्यपूर्ण और सारणीय अनुभूतियों को व्यक्त करने का सर्वाधिक प्रबल भाष्यम् शब्द

ही है। यहाँ स्वराष्ट्र की गति को नहीं पहुँच सकता। यही कारण है कि पारिवारिक और भूगोलिक गीतों का साहित्यिक पक्ष प्रबल होता है। वे इसी पक्ष के कारण मनुष्य को अत्यन्त भूल्यवान परोहर बने रहते हैं।

अन्य स्वरपक्षीय गीतों का सचरण परिवार के साथ संस्कारकृप में परम्परागत परिजन के नाते उत्सव, त्योहार, विवाह, वर्ष आदि के उपयोगाभं होता है और समाज के साथ उनका संबंध समर्पित तथा सामुदायिक होता है। क्योंकि ये गीत सामाजिक और सामुदायिक धरातल पर चिचरते हैं, तथा सहस्रों नर-नारी उन्हें एक साथ गाते हैं अतः उनका सचरणकृत बहुत बड़ा होता है तथा असंख्य जन-समुदाय की स्मृतियों में उनका सदा ही सजीव रहना आवश्यक होता है, इसीलिए वे शब्दों के बोझ से हल्के रहते हैं।

गीत के साहित्य तथा स्वरपक्ष की आदर्श संगति उसकी आदर्श स्थिति में प्राप्त है, परन्तु यह अवस्थिति बहुत कठिन है। यहाँ शब्दपक्ष प्रबल होता है वही स्वर को बनाना ही बहुत कठिन है और जहाँ स्वरपक्ष प्रबल होता है, वहाँ शब्दपक्ष को भ्रकुणा ही होता है। अतः लोकगीतों का स्वर-शब्द-संतुलन तभी कायम रह सकता है, जब उनके साथ कुछ संस्कारिक परम्पराएँ जु़ह जाती हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी परियोजना अनिकार चेष्टा और सामाजिक अपराध समझा जाता है। स्वरपक्षीय गीतों का सचरणकृत सर्वाधिक विशाल, उनका जीवन अधिक जम्बा तथा उनके सामाजिक तथा सामुदायिक गुण अधिक प्रबल होते हैं। साहित्यपक्षीय गीतों का सचरणकृत अपेक्षाकृत छोटा होता है और वैज्ञानिक और पारिवारिक दावों में अधिक लिपटा रहता है।

### लोकगीतों का रचनाकाल तथा स्थायित्व

किसी भी रचना को धारु का अनुमान बहुधा उसके रचयिता से लगाया जाता है, परन्तु जिस रचना के रचयिता का ही पता नहीं और जिसका कोई एक रचयिता नहीं, उसके रचनाकाल का केमें पता समाया जाय, यही सबसे बड़ी कठिनाई है। यदि लोकगीत जिसी एक रचनाकार की हृति के रूप में मान्यता आप्त है तो निश्चय ही उसे लोकगीत की सलत पदवी मिली है। लोकगीत समाज की परोहर है। यसके रचनाकारों की प्रतिमा के परिणाम-स्वरूप उसका स्फुरण होता है, अतः किस मुग को छाप उस पर स्थाप्त है वह जानना बहुत ही कठिन है। एक बहुत ही महस्तपूर्ण बात यह है कि किसी भी लोकगीत पर किसी कालविशेष की ध्वाप अकित नहीं रहती। कभी-कभी

धर्मानवग कई महानुभाव यह कहते देखे गये हैं कि अमुक गीत पर डिगल मापा का प्रभाव है तथा अमुक पर आज से ५० वर्ष पूर्व की इतिहास की छाप है। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि अमुक सोकमीत हिन्दी का है और अमुक उदौँ का तथा अमुक गीत की रचनाचिह्नि १०० वर्ष पहले की है।

उक्त सभी अटकलों के पीछे लोकगीत विषयक सैद्धान्तिक विश्लेषण की कमी है। सर्वप्रथम तो यह मान लेना चाहिये कि लोकगीत एक निर्मल निर्भर की तरह है, जो प्रतिपल बहता रहता है। उसमें घनेक छोटे बड़े भरने मिलते रहते हैं और उसके प्रबाह और भवित्वालता को कायम रखते हैं। यदि यह प्रक्रिया बन्द हो जावे तो लोकगीत की स्वामाचिक प्रकृति विकृत हो जाती है और वह लोकगीतों के दर्जे में गिर जाता है। किसी भी रचयिता के कठ से उद्गमाचित हुआ गीत मिथि समाज के कठ पर उत्तरने की जगता रखता है तो वह तत्काल ही उस प्रक्रिया में संचरित होने लगता है, सहजों कठों पर बढ़कर उसके स्वरों तथा अविवृद्धनार्थों में प्रावलता और प्रौढ़ता का संचार होने लगता है और उस पर से रचयिता का व्यक्तित्व समाप्त होकर समस्त समाज का व्यक्तित्व अंकित हो जाता है। मूल रचयिता के गीत का स्वरूप उसी तरह का होता है, जिस तरह एक संकीर्ण कृपकाव निर्भर का अपने उद्गम स्थल पर होता है और बाद में जिसके साथ सहजों निर्भर मिलकर जिसे एक मंभीर तथा भीमकाव नदी का व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। किसी भी सोकगीत में यह प्रक्रिया शास्त्रत रहती है। पायिव नदी भले ही अपने स्वरूप को अधिक समय तक कायम न रख सके, परन्तु लोकगीत अपने शास्त्रत निर्भरी स्वरूप को नहीं छोड़ता। यदि कोई लोकगीत किसी कारणवश अपने इस स्वभाव को लाग देता है तो निश्चय ही वह अपने दर्जे से भिर जाता है और थीरे-थीरे वह प्रचलन से बाहर होकर लुप्त भी हो जाता है। सोकगीतों की यह शास्त्रत प्रक्रिया हजारों गीतों को जन्म देती है। उनमें से घनेक अपनी दुर्बलता के कारण आवे रास्ते चलकर बैठ जाते हैं, कुछ समाप्त हो जाते हैं, कुछ लड़कड़ाने लगते हैं और कुछ मेघावी तथा सशक्त गीत चल निकलते हैं और सेकहों वधों तक जीवित रहते हैं।

इस विश्लेषण के अनुसार किसी भी संजीव लोकगीत की मापा-जैली पुरानी नहीं पहुंचती, न उसकी अभिव्यञ्जनाएँ, उसके विषय एवं संदर्भ ही पुराने पड़ते हैं, यतः किसी भी क्षेत्रीय मापा के लोकगीत अपनी स्थानीय नवीनतम मापाओंमें ही ही जीवित रहते हैं। उनकी मापा की प्रकृति कभी पुरानी नहीं

पड़ती। यह बात दूसरी है कि किसी लोक के लोकगीत की भाषा उसी भाषा के सुदूर द्वेष के उसी लोकगीत की भाषा से निज है, परन्तु एक ही लोक में प्रचलित उसी लोकगीत की भाषा की गोली नवीनतम भाषा-जीती के ही अनुच्छेद होगी। अन्यथा वह मान लेता चाहिए कि वह लोकगीत मृतप्राण हो चुका है और वह लोकगीतों के दर्जे से गिर गया है। वह केवल इतिहास के पद्धतों में लिखने योग्य नहीं है, जो अपनी स्वामानिक दुर्बलता के कारण अब लोकगीत नहीं रहा है।

सबीच लोकगीत समाज से सदैव प्रेरणा लेता रहता है। उसकी अभिभावनाओं में सामाजिक अभिभव्यजनाधारों के अनुकूल ही संशोधन होता रहता है, भाषा भी प्रचलन के अनुसार बदलती रहती है तथा स्वरों में सामाजिक भावनाधारों के अनुच्छेद परिवर्तन, परिवर्धन होता रहता है। लोकगीत समाज के बदलते हुए स्वरूप का सच्चा दर्पण है। यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी लोकनीति को सुनकर हम इतिहास या धर्मीत का चित्र अंकित नहीं कर सकते। किसी ऐतिहासिक तथा धार्मिक अक्तिविधेय के गीतों के सीकड़ों संकलन हमारे साहित्य में हुए हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक जीवन का भली प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है। राजस्थान का सच्चा इतिहास तो इनी वीरगीतों तथा काव्य-गम्भीरों से लिया गया है। इसी तरह रामायण तथा महाभारत से तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का भली प्रकार अंदाज लगाया जा सकता है। परन्तु लोकगीतों से यह अंदाज नहीं लग सकता। अक्तिविधेय के गीत धर्मित के स्वर्य के होते हैं। उनमें उसकी स्वर्य की वे अनुभूतियाँ तथा भावनाएँ अंकित रहती हैं, जिनमें उसका स्वर्य का अपनात्म है। यह आवश्यक नहीं कि समाज उन्हें स्वेच्छाकार करे या उनके प्रति अपना ममत्व प्रकट करे। वे कृतियाँ ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। भाषा, भाव, दीनी तथा अभिभव्यजनाधारों की हृष्टि से रचिता स्वर्य ही उनके लिए उत्तरदायी है, समाज नहीं। यदि रचनिता बहुश्रूत, लोकप्रिय तथा लोकमानस का परम पारकी है तो उसकी हृतियों में समाज चिपित होगा, परन्तु फिर भी उसकी रचनाएँ सामाजिक रचनाएँ नहीं हो सकती, उनमें संशोधन परिवर्धन भी एक सरदू से सामाजिक अपराध ही समझा जायेगा, अतः उनका काल-निर्धारण बड़ी आसानी से हो सकता है। ये रचनाएँ नामांकित न भी हो और वे लोकरचनाधारों में पुनर्मिल भी गई हों तो भी उनकी दीनी, भाषा एवं स्वर-संयोजन की प्रकृति, भावाभिभव्यजना तथा विषय-प्रतिपादन

की परिपाठी से उनका काल-निर्धारण हो सकता है। परन्तु लोकरचनाओं के निरन्तर निर्भरी स्वभाव के कारण यह कार्य दुर्लभ ही नहीं असंभव भी है।

यहाँ तक भी देखा गया है कि कई वर्ष पूर्व रघुवित लोकगीत ग्राम भी अपने नवीन रूप में विश्वास है। उस गीत में कोई भी ऐसी बात नहीं जो उसे नवीनतम गीत का दर्जा नहीं देता हो। लोकगीत का दर्जा उसे इसोलिये प्राप्त है कि उसका प्रथमतम धनेकों वर्षों से विस्तृत धोज में विश्वास समाज द्वारा होता है और समाज ही अपने को उसका रघुवित मानकर उसे अपनी घरो-हर समझता है। कभी-कभी लोकगीतों के ऐसे पुराने संस्करण भी मिल जाते हैं जो किसी की पुरानी चौपाई में लिखे हुए हैं या लिखे हुए हैं। उनमें ऐसे धनेक गीतों के पुरातन संस्करण भी उपलब्ध होते हैं जो नवीन संस्करणों से सर्वधा भिन्न हैं। वे गीत संगीत, साहित्य तथा समाज-विज्ञान की इटिंग से अत्यन्त महत्वपूर्ण गीत होते हैं और इस दिशा में कार्य करनेवालों के लिये अत्यन्त मुख्यबाण सामग्री हैं। इन गीतों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से वह पता चल सकता है कि किन-किन महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं के बीच उसी गीत का आधुनिक संस्करण मुड़ता है। मोटे-मोटे रूप में वे प्रक्रियाएँ इस प्रकार होती हैं—

( १ ) स्वर-नियोजन की इटिंग से पुरातन संस्करण अधिक सरल तथा न्यूनतम स्वरों में रचा हुआ होता है। आधुनिक संस्करण में स्वरों का अन्यत विस्तृत तथा उनके उत्तार-चढ़ाव अधिक तीव्र होते हैं।

( २ ) दोमों ही गीतों के मूल में भुज का प्रकार एक ही है। उनकी लय भी प्रायः समान ही होती है। पुरातन संस्करण की लय धीमी और नवीन संस्करण की लम्बिक तेज होती है।

( ३ ) पुरातन संस्करण के लोकगीत में भुज प्रायः सामान्य होते हुए भी उसके लहजे वडे विभिन्न और प्रभावशाली होते हैं। आधुनिक संस्करण में वे नहजे प्रायः लुप्तप्राय से रहते हैं।

( ४ ) सब्दों में परिवर्तन प्रायः कम ही होता है, वज्रोंकि लोकगीतों की प्रवागता उनके स्वरों में है तथा सब्दों से पूर्व ही स्वरों के प्रति लोक की असता आयुर होती है। अप्रिक से समष्टि की मामग्री बनने की प्रक्रिया के बीच स्वर छब्द से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करता है। लोकगीतों का अपनाव माध्यमुनक होने से उनकी लय और भुज सर्वाधिक सामाजिक क्षमीदी

एह उत्तरती है और सामाजिक प्रक्रियाओं से लोकगीतों में कितना भी परिवर्तन होता है, वह प्रधिकार मुनों में होता है। शब्द और उनकी अंजनाएँ भी बदलती हैं, परन्तु उनकी गति और सोमा अत्यंत न्यून होती है।

(५) पुरातन गीतों की अद्वावली और अंजनाएँ प्रधिक तरफ होती हैं और उनके आधुनिक संस्करण में वे वैविध्यपूर्ण होती हैं।

उदाहरण के लिए राजस्थान के लोकगीत राजस्थानी भाषा में हैं। उनके क्षेत्रीय स्वरूप भी अलग-अलग क्षेत्र की राजस्थानी में हैं। जो प्रथम ऐसी के लोकगीत हैं, किसका प्रचलन यथने गेय मुझों के कारण समस्त राजस्थान में है, जैसे लूट, पूमर, पनिहारो, गोरबन्द, मायरा, बधाया, घोड़ा पादि; उनकी मूलभूत वाही होते हुए भी लय, गति तथा लहजों की इटिंग से उनके क्षेत्रीय संस्करण काफी हद तक भिन्न हैं। द्वितीय ऐसी के लोकगीत वे हैं जो समस्त राजस्थान में तो प्रचलित नहीं हैं, परन्तु राजस्थान के विस्तृत क्षेत्रों में बहुधूत और बहु प्रयुक्त हैं; उनमें भी मूलभूत में साम्य होते हुए भी लय तथा लहजों की इटिंग से भिन्नता है। तृतीय ऐसी के गीत वे हैं जो केवल क्षेत्रीय हैं, उनकी मूले तथा भाषा भी क्षेत्रीय विकल्पताओं से भुक्त होती हैं। इन सभी प्रकार के गीतों से यही भली प्रकार ज्ञान होता है कि कम-क्षयादा करके सभी गीतों में भाषा की इटिंग से नवीन भाषाओं का प्रतिपादन हुआ है। जो भाषा भाज लोक में प्रचलित है वही लोकगीत की भाषा है। चाहे वह भीत ३०० वर्ष पूर्व ही क्षेत्रों में रचा गया हो। गोम्बामो तुलसीदास के ४०० वर्ष पूर्व लिखे हुए अधिक भाषा के भीत भाषा की इटिंग से भाज की अधिक से विळुत भिन्न है, परन्तु लोकगीत चाहे कितना ही पुराना वर्षों न हो वह सदा ही सभाज के साथ-साथ चलता है, वह सभी परिवर्तन यथने में ऐसे समा जेता है कि उनका पता भी नहीं लग सकता। यही कारण है कि राजस्थान में डिगल के लोकगीत भाज तुड़े भी नहीं मिल सकते। कारण स्पष्ट है, डिगल भाज लोकभाषा नहीं, परन्तु डिगल के लोकगीत भी बदलते-बदलते भाज की राजस्थानी में बदल गये हैं। गीतों की अंजनाएँ, जूने प्रायः वही हैं परन्तु शब्द समय के साथ घिस-घिसकर बदलतेरित हो गये हैं।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि हिन्दी भाषावा भाड़ीओंसी में लोकगीत क्यों नहीं है? वहाँबोली भाड़ी-सोकभाषा का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है। उसकी भाषा ही लगभग १०० वर्ष की है। लोकभाषा बनने के लिये

यह प्रवाधि कुछ नहीं के बराबर है। जिस शब्दों में सड़ीबोली लोकाचार को भाषा बन गई है, वैसे दिल्ली, मेरठ आदि वही इस भाषा में लोकगीतों को कल्पना की जा सकती है, परन्तु अभी तक उनका सामाजिक तथा लोकस्वरूप परिचित नहीं हुआ। साधारणतः एक गीत को लोकगीत का दर्जा प्राप्त करने में डेढ़ सौ दो सौ वर्ष लगते हैं। जो लोकगीत सबंधसाधारण हारा गाये जाते हैं, वे ही लोकगीत हैं, यह बात ठीक नहीं है। उनकी अनेक कसोटियाँ हैं जो लोकजीवन में गिहित रहती हैं। लोकगीत लोक के साथ संस्कारवत् तुम्हे रहते हैं, उनके साथ उनका न केवल भावनात्मक वर्तिक सामाजिक और धार्मिक मठबंधन भी रहता है। वे आसानी से उनसे छूटते नहीं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि वे लोकगीत सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं और समाज उन्हें परिचय के रूप में देखता है तो उनकी पहचान कैसे की जानी चाहिये? आज हजारों गीत विस्तृत शब्दों में विशाल समृद्धाम डारा लम्बे समय से गाये जा रहे हैं। उनमें से सैकड़ों गीत ऐसे हैं, जो कुछ ही समय पूर्व रखे गये हैं। उनके रचयिताओं ने उनका यह विस्तार स्वर्वं घपने जीवनकाल में देखा है। फिर लोकगीतों को परिचाया में वे गीत वर्षों नहीं सम्मिलित होते? सामान्य हृष्टि से यह बात ठीक मालूम पड़ती है। लोकगीतों का इतना दुर्बलवहार लोकप्रियता के नाम पर इन दिनों हुआ है कि मौलिक और अभीतिक लोकगीतों के भ्रम में जनता नरमा गई है। परतः आज इस ओर निश्चय ही एक बैज्ञानिक हृष्टि की आवश्यकता है।

लोकगीतों की उक्त कसोटियों के बालाका उनकी पहचान के लिए कुछ विशिष्ट कसोटियाँ भी जीती हैं। ये ही कसोटियाँ ऐसी हैं जो लोकगीतों को स्थायित्व प्रदान करती हैं, उन्हें बहुधृत, बहुप्रयुक्त तथा सामाजिक घरीहर बनाती हैं।

लोकगीतों की रचना अनन्तकाल से हो रही है। भहशों गीत बनते हैं, सामाजिक स्तर को प्राप्त करते हैं और मिट भी जाते हैं। कुछ अल्प आयु के होते हैं, कुछ दीर्घायु होते हुए भी बहुधृत और बहुप्रयुक्त नहीं होते। लोकगीतों के स्थायित्व के लिये उनके इवनिज्ञन्य तथा भावबन्ध गुण तो विचमान होने ही चाहिए, परन्तु उनका संस्कारण लगाव उससे भी अधिक भावशक्ति है। किसी भी परिवार में अच्छे-बुरे सभी तरह के बालक पैदा होते हैं। अच्छे, तो अच्छे होते ही हैं, परन्तु एक और गुणहीन बालक भी संस्कारवत् मात्रापिता तथा परिचय से लगाव प्राप्त कर लेते हैं, जिससे उनके प्रति परिवार की स्वभावगत ममता हो जाती

है। यही संस्कारयत् खगाव कमी-कमी साधारण कोटि के लोकगीतों को उच्च थेगों के लोकगीतों से भी कही अधिक प्रतिष्ठा प्रदान कर देता है। ऐसे लोकगीत उनसे भी अधिक स्थायित्व प्राप्त करते हैं और उन्हें घोषकाङ्क्षा अधिक नम्बी आपु भी प्राप्त हो जाती है। ऐसे लोकगीतों की छुने तथा उनके शब्द उन विद्यार्थी के साथ ऐसे रुढ़ हो जाते हैं कि प्रयोक्तामों के साथ उनकी प्रगाढ़ ममता हो जाती है, जो छुड़ाने भी नहीं शुट्टी और कमी-कमी प्रव्यविस्तार की तरह उन पर आ जाती है।

ऐसे गीतों में सर्वाधिक स्थायित्व निये हुए वे गीत हैं जो भार्मिक संस्कारों, विचाहों, उत्सवों तथा वर्षों के साथ जुड़े हुए हैं। जिस तरह संस्कार के साथ परम्परागत व्यास्था जम जाती है वैसे ही इन गीतों के साथ भी परम्परागत विष्वास बैठ जाता है। जिस तरह किसी भार्मिक गुरु या मुरोहित के बिना कोई संस्कार पूरा नहीं होता, वैसे ही इन प्रभुठानिक गीतों के बिना भी वे संस्कार पूरे नहीं होते। ऐसे लोकगीत सैकड़ों वर्षों से स्थायित्व का बाना पहिनकर समाज में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इन गीतों में वहूपा उन्हीं गुनों की प्रधानता रहती है, जो सामूहिक रूप से जनसम्मान द्वारा बिना भाविक प्रयास के गाई जा सकती हैं। ये गीत इन समारोहों के मार्गदर्शक प्रतोक होते हैं।

दूसरी थेगी के लोकगीत वे हैं, जो जीवन के विशिष्ट मार्मिक प्रसंगों के साथ जुड़े हुए होते हैं। वे मार्मिक प्रसंग प्रेम, शृंगार, विरह, मिलन आदि के हैं, जिनकी मार्मिक अभिव्यक्ति लोकगीतों के माध्यम से ही होती है। ऐसे प्रसंग जीवन के सर्वाधिक प्रिय प्रसंग होते हैं, जिनके साथ मनुष्य का विशिष्ट लगाव होता है। इन्हीं प्रसंगों पर मनुष्य के जीवन का यानन्द और विषाद निहित रहता है। ऐसे प्रसंगों के लोकगीतों में गुगामुयुग से चली आई मनुष्य के मूल स्वभाव की मनोरंग प्रनुभूतियाँ छिपी रहती हैं, जिनसे उनका मन गुदगुदाता रहता है और उन्हीं से वह जीवन का व्यस्त प्राप्त करता है। इन गीतों में अभिव्यक्त व्यञ्जनाएँ अनुकूल मार्मिक गुनों के सम्मत रूप से मनुष्य के मन को गुदगुदाती हैं, उनमें संतोष और तुष्टि के भाव भरती हैं तथा उनका मनोविनोद करती है। इन गीतों में अभिव्यक्त व्यञ्जनाएँ जापवत होती हैं और समर्पित के सामान्य अनुमत की प्रतीक होने से सबके मन को भाती है। ये लोकगीत परि पल्ली, प्रेमी प्रेमिका, देवर भौजाई आदि के मधुर संबंधों से जुड़े रहते हैं और सैकड़ों वर्षों से लोकसाहित्य में ज्ञेयीय गीतों के कल में प्रतिष्ठित होते हैं। इन

गीतों में शब्दों का अद्भुत माधुर्य सौर चानुर्य तथा साहित्य की मनुष्म निधि है। उनके साथ धुनों का सौन्दर्य सोने में सुगम्ब का काम करता है।

तृतीय श्रेणी के गीत वे हैं, जो लेलाकृद, हासविलास, विनोद, वार्तसल्य तथा देनिक पारिवारिक संबंधों से संबंधित हैं। ये गीत भी पारिवारिक जन की तरह ही परिवार के साथ लगे हुए होते हैं और जिनका प्रयोग तथा समय संस्कारवत् ही होता रहता है। ये गीत आईबहिन, माता पिता, ननदभौजाई, सासबहू के संबंधों से जुड़े रहते हैं। ये सभी गीत प्रसंगवश ही गाये जाते हैं। इनके स्थायित्व में भी कोई विकास नहीं है, वयोग्वि वे भी जीवन के प्रमुख घंग बन गये हैं।

चतुर्थ श्रेणी के गीत वे हैं, जो मनुष्य के मन की भौज के साथ संबंधित हैं। उनका मनुष्य के साथ कोई संस्कारवत्, संबंध नहीं होता। वे गीत चाहे कितने ही मुन्दर और प्रोड वर्णों न हों, उनके स्थायित्व का कोई विश्वास नहीं। ऐसे गीत बुलबुले की तरह उठते हैं। समाज प्रपनाता है और त्यागता है, उनका कोई स्थायित्व नहीं बन पाता। अतः यह निश्चित है कि प्रत्येक लोकगीत को स्थायित्व प्राप्त करने के लिये समाज के साथ संस्कारवत् जुह जाना पड़ता है।





२

लोकनृत्य



## लोकनृत्य

लोकगीत अर्थात् विशेष के किसी मानवात्मक द्वारा में गुनगुलाहट के स्वर में उद्भासित होकर लब्दों के मेल से वैयक्तिक गीत बनता है, तथा बाद में अपनी लोकप्रियता के कारण वह सामाजिक स्वरूप प्राप्त करके लोकगीत में विकसित होता है। ठीक विपरीत इसके लोकनृत्य अर्थात् की देन नहीं होकर समर्पित ही की उपत्र है। धनादिकाल ने मनुष्य अपने आनन्द मंगल के समय धनगमियाओं का जो अनियोजित प्रदर्शन करता था रहा है, वही धीरे-धीरे समर्पित के रूप में यायोजन-नियोजन द्वारा लोकनृत्यों का स्वरूप घारणा करने लगा। जैसे-जैसे नृत्य अपनी यादिम अवस्था से निकलकर उभ्रत और समय समाज का भृंगार बनने लगा वैसे-वैसे उसके सामने गीत, नाट्य आदि भी जुड़ने लगे और व्यवस्थित नृत्यनाट्य तथा गीतनाट्य का भी प्रादुर्भाव होने लगा। साधारणतः सभी मानव को नाचने गाने का अधिकार होता है और वे आनन्द और उल्लास के समय माँति-माँति की गारोरिक कियाओं की सृष्टि करते हैं; परन्तु वे ही कियाएँ लोकनृत्यों का स्वरूप प्राप्त करती हैं, जिनमें सामाजिक तथा सामूहिक तत्वों की प्रधानता होती है, तथा जिनका व्यवहार और प्रचारक्षेत्र ध्यापक होता है। ऐसे ही नृत्य सामाजिक हृष्टि से अधिक से अधिक प्रयोग में आने लगते हैं। प्रत्येक प्रयोक्ता उनमें अपनी प्रतिभा का परिचय देता है तथा उनकी विविध सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण उनमें निरन्तर संशोधन परिवर्तन होने लगते हैं। ऐसे नृत्य उनके उद्भवकाल से ही सामूहिक होते हैं, तथा मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा और उसके सामूहिक उल्लास के समय ही उनकी सृष्टि होती है। व्यक्ति अकेले में जाहे कितना ही मावविछ्वल हो उसके सामने कितनी ही प्रेरणामूलक तथा उद्दीपककारी स्थितियाँ हों, स्वभावतः उसके प्रंग नृत्यमयो मुद्राओं में जलायमान नहीं होते। मदि कभी ही भी जाते हैं तो वह उसकी स्वभावात्मक स्थिति के ही खोलक होते हैं। प्रेरणामूलक रचनाकारी स्थितियों मामूहिक कृप में ही उद्भासित होती है तथा किसी एक को प्रेरित देखकर समूह के सभी प्रेरित हो जाते हैं, और मावोद्देश के कारण उनके प्रंग-प्रत्यंग किसी विकाष गीत पर सामान्य रूप से घनाघास हो जाते हैं।

मनुष्य की प्रकृति, स्वभाव से ही अनुकरणमूलक होती है, यस्तः ऐसे नृत्य जो प्रारंभ से ही सामूहिक आनन्द के लोक होते हैं, समाज की अमृत्य

धरोहर बन जाते हैं । धीरे-धीरे उनका प्रयोग विशद क्षम से उत्सव, समारोह तथा पर्वों के संबंध में होने लगता है, तथा निरन्तर प्रयोग और अभ्यास से वे सरल से कठिन बनते जाते हैं । ये नृत्य प्रारम्भ में समस्त शरीर की अनियोजित क्रियाओं में निहित रहते हैं, तथा काफी लम्बे समय तक उनमें व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग करता रहता है । समूह में नृत्य करते हुए भी उसको अपनी अंगभूगिमाओं में परिवर्तन करने की काफी छुट रहती है । धीरे-धीरे निरंतर प्रयोग और अभ्यास से वे क्रियाएँ मर्यादित होती रहती हैं, और उनका टक्काली स्वरूप मुखरित होता है । नृत्यों को नियोजित करने तथा उन्हें निश्चित स्वरूप देनेवाला संबंधित मनुष्य का हाथ होता है, जो पर्वों को सर्वाधिक योग प्रदान करता है । नृत्य करते समय सामूहिक अंगभूगिमाओं के साथ क्रियालील होनेवाले ये ही पांच प्रारम्भिक चापों के साथ लड़खड़ाते-लड़खड़ाते ठोस कदम भरने लगते हैं, तथा किसी निश्चित संघरण नियोजित क्षम से आगे बढ़ते हैं । उस समय तक कमर से झवर का नाम अपनी भौगोलिकों में पूरुषरूप से आज्ञाद रहता है । ये ही पद सामूहिक नृत्य के समय अन्य सभी पदों के साथ कदम से कदम भरते हैं, तथा सामान्य क्षम से संबंधित होते हैं । पर्वों के ठोस संचालन के बाद ही शरीर के अन्य अंग अपनी संभाल स्वरूप कर सकते हैं । उस समय हाथ ही सर्वाधिक क्रियालील रहता है और अन्य अंगों को समन्वित करने में योग प्रदान करता है । कमर, स्कंध, गोचर आदि का नियोजन सबसे बाद में होता है और समस्त नृत्य, जब विवास के उच्चतम स्तर पर पूर्ण जाते हैं तभी ये विविध सुन्दर स्वरूप प्राप्त करते हैं और हाथों और पर्वों के साथ अपना कलात्मक और सजीव संबंध स्थापित करते हैं । अंगभूगिमाओं का यही सुन्दर और समन्वित स्वरूप नृत्यमुद्राओं की सृष्टि करता है, जिन्हे शास्त्रकार बाद में अनेक भेद-उपभेदों तथा प्रकारों में बायकर शास्त्रीय नृत्य का स्वरूप प्रदान करते हैं ।

सोकनृत्यों की अंतिम विकास-सीढ़ी उनके साथ स्वरों तथा शब्दों का संबोधन है । इससे पूर्व की स्थिति उनकी प्रारम्भिक और प्राथमिक स्थिति ही मानी जाती है । उनको अपना सामाजिक स्वरूप भी स्वरों एवं शब्दों के योग से ही प्राप्त होता है, उससे पूर्व की स्थिति समूहविद्योग की प्रतिमा का ही परिणाम होता है । इन प्रारम्भिक समूह के नृत्यों में समरसता तथा समरूपता का नितान्त प्रभाव रहता है । उनके साथ जब गीत जुड़ने लगते हैं तथा स्वर-शब्दों का योग होता है, तो ये छोटे-छोटे समूह एक दूसरे में मिलने लग जाते हैं तथा सभी छिटपुट नृत्य-प्रयोग सामूहिक प्रयोग बनकर समस्त समाज की

चरोहर बन जाते हैं। कई ऐसे भी लिटपुट नूत्य-प्रयत्न होते हैं, जो अपनी सामंजस्यशक्ति के दरवाजे बनव रखते हैं। परन्तु वे जो सामंजस्य उत्समुदाय को अद्वा और अभियाचि को अपनी ओर लीजने में समर्थ होते हैं वे अमर ही जाते हैं। वे मनुष्य के सुख दुःख के साथ जुड़ जाते हैं तब उनके विष्वासों एवं धार्मिक धनुष्ठानों के द्वंग बनकर उनके जीवन के भी द्वंग बन जाते हैं।

जब वे नूत्य अस्तधिक सोकप्रिय हो जाते हैं, तो उनमें लोग नानाप्रकार की आत्मादी लेने लगते हैं और उन्हें विलक्षण बनाने की चेष्टा करते हैं, जिसका परिणाम वह होता है कि वे लोकनूत्यों की परिधि से हटने लगते हैं और उनका प्रचारशोष कम होने लगता है, घन: सामाजिक तकि इस सात की कोणिका करती है कि वे नूत्य अस्तधिक विलक्षण न बनें। कुछ नूत्यप्रबर उन्हें विलक्षण बनाने की चेष्टा भी करते हैं और उन्हें सामाजिक शोष से बंदफिल्क स्तर तक पहुँचाने की चेष्टा में वे उनके लोकतत्त्वों को भी लो बैठते हैं।

### नूत्यों के साथ गीतों का समन्वय

लोकनूत्य जैसे प्रारंभ से ही एक सामाजिक क्रिया है, उसी तरह उनके साथ जुड़नेवाले गीत भी सामाजिक क्रिया ही हैं। स्वतन्त्र लोकगीत की उत्पत्ति जिस प्रक्रिया से शासित होती है, उससे वे नूत्य के साथ जुड़नेवाले गीत शासित नहीं होते। लव और लवहीन दोनों के साथ वेदी हुई उल्लासनगी ध्यानभगिमाएं तरंगों में स्वभाव से ही गीतों की सृष्टि करती हैं और नूत्य को स्थायित्व प्रदान करती हैं। ये सब प्रक्रियाएं संस्कार तथा अद्वाचत् ही होती हैं, प्रयास से नहीं। गीतनूत्यों के ये सुखद संसार वीर-धीरे परिमाजित होते रहते हैं और नूत्य के अभिनन ध्यान बन जाते हैं। उन्हें अलग कर देने से गीत गीत नहीं रहता और नूत्य नूत्य नहीं रहता। दोनों ही एक दूसरे के बिना प्रभूरे तथा अपरिपक्व रह जाते हैं।

यही एक विजेत बात स्वानुदेने योग्य यह है कि जब गीत सामाजिक मानस के उत्त्वस्तरीय धरातल के कारण विलक्षण बनने लगता है तो उसके साथ जुड़ा हुआ नूत्य, स्वभाव से ही सरलता की ओर प्रवृत्त होता है। इसी तरह जब नूत्य विलक्षण बनने लगता है तो उसके साथ जुड़ा हुआ गीत सरलता की ओर नुकसान है। यह कम इन लोकनूत्यों में उनके जीवनकाल तक चलता रहता है। इन प्रक्रियाओं में जब संतुलन बढ़ा रहता है तबीं उक्त मूर्य की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा भी है। यह संतुलन विगड़ा और नूत्य भी रसातल तक पहुँचा समिल्ये। मूर्य जब विलक्षण होने लगता है तो उसके साथ

लगा हुआ गीत इमरगाने लगता है तथा उसका साथ छोड़ने मा भीन रहने की चेष्टा करता है, इसी तरह गीत जब किलट होने लगता है तो नृत्य इमरगाने लगता है और दोनों का पारस्परिक संबंध टूट जाता है। इसके साथ एक प्रक्रिया और विशेष उल्लेखनों का प्रचार और अववहार-धोष वड जाता है और उनके प्रयोक्ताओं की संबंध में बृद्धि होती है तो नृत्य की स्वामाजिक चेष्टा सरलीकरण की ओर ही रहती है और जब उसका अववहार और प्रचारके घटकर कुछ ही प्रयोक्ताओं तक सीमित रहता है तो वह निश्चित ही समझ लेना चाहिये कि नृत्य किलट से किलटतर बन गया है।

नृत्य की किलटसा और उसकी भंगिमा-वैविध्य में बहुत अन्तर है। नृत्य जब सामाजिक स्थिति से बाहर निकलकर वैयक्तिक दायरे में प्रवेश करता है, तथा किसी अक्तिविद्यों की प्रतिभा की अभिभाविक बनता है, तो वह भंगिमाओं के जंगाल में फौसकर किलट बनता जाता है और अपने सामाजिक मुद्रणों को लोने लगता है, परन्तु नृत्य जब सामाजिक आनन्द और उल्लास का माध्यम बनता है तो उसमें भंगिमाओं के वैविध्य का सालित्र निखरता है, प्रत्येक अक्ति आनन्द-विमोर होकर मौजून भंगिमाओं का संचार करता है और इस नृत्य-सहयोगी उनमें अपनी प्रतिभा से चार ओंद लगते हैं। परिणाम यह होता है कि सुरक्ष उद्घाटकूद तथा अमंभिमाओं से प्रारम्भ हुआ नृत्य अनेक मुद्राओं और भंगिमाओं से सम्पन्न बनता है और उसका सौन्दर्यपूर्ण अधिकाधिक आकर्षक होता है। ऐसे नृत्य जब आनन्द और उल्लास के दायरे से निकलकर केवल धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ संस्कारकृत जुड़ जाते हैं, तो वे अपना वैविध्य लो देते हैं और केवल उद्ययुक्त उद्घाटकूद मात्र रह जाते हैं। यह धार्मिक तत्त्व विशिष्ट समाज, अर्थि तथा संप्रदाय के हितचिन्तन से बाहर निकलकर समटिगत हितचिन्तन का स्वरूप धारणा कर लेता है। ये नृत्य पुनः धार्मिक और वैयक्तिक दायरे से बाहर निकलकर समटिगत दायरे में पहुँच जाते हैं और उनमें पुनः भिन्नात भाने लगता है। ऐसे नृत्य राष्ट्रीय पर्वों, मेलों, उत्सवों, त्यौहारों तथा सामाजिक अनुष्ठानों में प्रचुरता से देखे जा सकते हैं। सदियों के अववहार से उनमें एक प्रकार का ऐसा टकसालीपन आया है कि सबंध ऐसे अनुष्ठानों के समय नालेजानेवाले लगभग सभी नृत्य एकसे लगते हैं। उनमें मुद्राएँ तथा जावभिमारे, कहिवत ही उनके साथ जुड़ी हुई हैं। कोई भी अक्ति उनमें स्वतन्त्रता नहीं ले सकता। यही कारण है कि ऐसे अनुष्ठानिक सूत्र-सदियों से वहीं के बही रहते हैं। उनकी मुद्राओं, पदचाप, गीत, स्वर-रचनाओं धार्मिक में विशेष परिवर्तन नहीं होता, परन्तु विषयीत इसके

विशुद्ध आनन्दोल्लास के लिए नाचेजानेवाले नृत्य प्रतिपत्ति घण्टों सौन्दर्यनिधि को बढ़ाते जाते हैं, उनके बाह्य सौन्दर्य के साथ ही उनका आंतरिक सौन्दर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ाता है। ऐसे नृत्यों के साथ जुड़े हुए गीत भी अत्यधिक मधुर और मर्मस्पन्दी होते हैं। ये ही उल्लासकारी नृत्य आगे जाकर शास्त्रीय नृत्यों की परिवर्ति में प्रवेश करते हैं। इन नृत्यों का आवपक्ष प्रबल होता है तथा आनन्दोल्लास की स्थिति में प्रत्येक नर्तक आपनी मृजनारमक शक्ति का अनजाने ही परिचय देने लगता है तथा नवीनतम भंगिमाओं की सृष्टि करता है। ये नृत्य इस ढंग से परिवर्तन को स्वीकार करते हैं कि सैकड़ों धर्षों की उनकी आगु होते हुए भी प्रत्येक नर्तक उनमें नवीनता का अनुभव करता है। प्रतिक्षण उनमें परिवर्तन होता रहता है, परन्तु उनकी मूल पृथग्भूमि प्राचीन ही रहती है। इन नृत्यों में प्रवेश पाने के लिये किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र तथा देश की मर्यादा बाधक नहीं बनती और प्रत्येक अस्ति तथा समुदाय को अपना-अपना योगदान देने का समान अधिकार होता है।

### नृत्यनाट्य की पृष्ठभूमि

सहस्रों वर्ष पूर्वे नृत्य और गीत जब पूर्णरूप से समन्वित हो गये तब नाट्य की कल्पना साकार हुई। नाट्य कभी भी स्वतन्त्ररूप से विकसित नहीं हुआ। जब सनुष्य को अपने पूर्वजों तथा विवेत चमत्कारिक पुरुषों के मुकुल्यों के अनुकरण की आवश्यकता हुई तब उनकी चारित्रिक विशेषताओं पर सर्वप्रथम गोत रखे गये, तत्प्रथासात् उनके साथ उपर्युक्त सूत्यमुदाएँ जोड़ दी गईं। ऐसे ही नृत्यनाट्य सामुदायिक तथा सामाजिक कला से अनिवार्य होते थे, जिनमें गीतों का थंडा प्रधान तथा नृत्य-संचालन गौण था। इस समय तक जमीन से उठे हुए रंगमंच की प्रथा प्रारम्भ नहीं हुई थी, न इन नाट्यों में नाट्य के सभी तत्त्व विकसित हुए थे। संचाद केवल गीतों ही में गाये जाते थे, जिनकी समाप्ति पर पदचाप द्वारा नृत्य होता था, जो गोत-संवादों को प्रभाव लाली बनाने में सहायक होते थे। इस समय तक मात्रभंगिमायों तथा आंगिक मुद्राओं द्वारा भूक माध्या में संचाद कहने की प्रथाली भी प्रारम्भ नहीं हुई थी। ये नृत्यनाट्य बहुधा धार्मिक धमुक्तानों, सांस्कृतिक पवौं तथा पूर्वजों के स्मृतिदिवसों से संबंधित रहते थे। इन नाट्यों के नृत्य अत्यधिक शक्तिलाली तथा डू़त गति में होते थे तथा नाट्य-तत्त्वों को उद्दीप्त करते थे। इन नाट्यों के प्रदर्शन की दर्शक एक ही होते थे, उनकी पृष्ठक धर्मस्थिति नहीं थी, वे सभी स्वान्त्रसुग्राम थे। प्रदर्शन तथा दिलावे के लिए नृत्य तथा नाट्य करने की

प्रवृत्ति वहूत बाद की है। वैदिककाल में इन सभी स्वरूपों का व्यवस्थीकरण प्रारम्भ हुआ। ऐसा सामवेद तथा अग्नवेद की कृचारों से जात होता है। व्यवस्थित संकाद तथा गीतों की प्रथा इस युग में पूर्ण विकास की पहुँच चुकी थी। यही ऐसा समय था जब कि समाज में वर्णव्यवस्था के अंकुर सगाने प्रारंभ हो गये थे तथा सामाजिक भावना से प्रोत्प्रोत होकर मनुष्य अपने जीवन को सजाने-संवारने लगा था।

मनुष्य के जीवन में उस समय भाषा का अवस्थन महस्वपूर्ण रूप से प्रतिष्ठापन होगया था। नृत्यों में प्रयुक्त होनेवाले गीतों में भी भाषा की दृष्टि से निखार भाषा और नृत्य की भावभंगिमाएँ भी परिस्कृत होने लगीं। समाज के विकास के साथ ही मनुष्य की दुष्टि प्रवाह होने लगी तथा भावों का परिष्करण होने लगा। उसके जीवन से प्रत्येक पश्च, रहनसहन, सानानन, निवास, पारस्परिक संबंध तथा सामाजिक आदानप्रदान में प्रोत्प्रोत भाने लगी। मनुष्य अपने सजाव-शूँगार की तरफ भी धर्मिक ध्यान देने लगा। जीवन के द्वानन्द के लिए भी वैदिककालीन 'समज्ज्ञा' आदि सांस्कृतिक भेदों का आपोज्जन होने लगा, जिनमें ही पुरुष मिलते, नाचते, गाते और वैकाहिक सम्बन्धों में जुड़ जाते थे। उनके पारस्परिक आकर्षण के लिए इन नृत्यों में सामाप्रकार की सजाव-शूँगार की प्रवृत्ति जाग उठी। उनके हृदय में हृष्ट और उल्लास था, अपने आपको सजाने-संवारने में एक प्रकार से होड़ सी लगी हृदै थी। उसी उन्माद और उल्लास के बातावरण में शरदीत्सव, बसन्तोत्सव, शीघ्रोत्सव तथा पावसोत्सव महाने की बेट्टा जमौर हृदै। प्रहृति भी उनके उल्लास में साथ देती थी। मानव भी भूषण-समीर से आळ्हादित होता था, कीमत के मधुर कंठ के साथ अपना सुर मिलाता था, दाभिन-दमक और भेष-गर्जन पर किलों करने लगता था, तथा बसंत की बहार में स्वयं मुखरित होता था। ऐसे ही समय भेले, सौम्यतिक पर्व तथा समज्ज्ञादों के लिये उपयुक्त बातावरण होता था और मनुष्य प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ अपने सौन्दर्य की होड़ लगाता था। इसी मादक उन्माद में वह नाचता गाता था, स्वतः ही उसकी भावभंगिमाएँ मुलार उठती थीं और नानाप्रकार के भाव विभावों को जम्म लेती थीं। मृत्यु यद्य केवल धार्मिक सौन्दर्य का ही माझम नहीं रहा, वह मनुष्य की भावाभिलेपत्ति का भी ब्रह्म माध्यम बन गया। केवल उल्लंकृद और यदसंचालन भाव से उद्भासित हुआ मृत्यु धार्मिक उभार तभी मानाप्रकार की भयभंगिमाओं में विकसित हुआ, तदुपरान्त जहरे की

भाव-मुद्राओं में अद्वितीय उभार आया। इस तरह नृत्य के सर्वाङ्गीण स्वरूप के अंकुर परिस्फुटित होने लगे।

इन भाव-मुद्राओं में जो सर्वाधिक प्रकट होनेवाली मुद्रा परिस्फुटित है, वह स्त्री को पुरुष की ओर तथा पुरुष को स्त्री की ओर आकर्षित करनेवाली भाव-मुद्रा थी। स्त्रियों के नृत्य लास्प्रधान थे और पुरुषों के नृत्य शोर्य ओर बीरत्वप्रधान। इस प्रकार ये नृत्य साह, सज्जा, शूँगार, आंगिक तथा यास्तिक मुद्राओं की हट्टि से संपन्नता तथा वैविध्य को प्राप्त करने लगे। इनके साथ नाना प्रकार के मायमय गीतों तथा मधुर स्वर-लहरियों के सम्मिलण से ये गीत-नृत्य समाज की संस्कृतिक एवं रागात्मक चेष्टाओं के महान् प्रतीक बन गये।

नृत्यों के विकास के इसी स्तर पर ही गीतिनालों की परम्परा परिस्फुटित है, जिसमें स्त्री-पुरुष पारस्परिक गीत-संबंधों में प्रवृत्त होते थे। हितयों गीतों में प्रवृत्त करती थीं और पुरुष उनका गीतों ही में जवाब देते थे। ये गीतिनाट्य बहुता शूँगारिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित रहते थे। इन गीत-संबंधों में यथापि गीतों की ही प्रधानता रहती थी, परन्तु नृत्यमुद्राएँ भी विविध अनीष्टवारिक अंगभौगिमाओं में परिस्फुटित होती थीं। मानवीय विकास के सैकड़ों वर्ष तक इसी तरह नृत्य, गीत आदि विकसित होते रहे और उनके नाना रूप जैसे मांस्कारिकनृत्य, पूजानृत्य, भावनृत्य, उल्लासनृत्य, फसल-नृत्य, विवाहनृत्य, वसंतनृत्य, वर्षारंभनृत्य तथा अनेक मांगतिक प्रसंगों के रूपों के रूप में मानवजीवन को परिस्फुटित करते रहे। इनके साथ सहस्रों गीतों की सृष्टि हुई, नाना प्रकार की चुनों ने जन्म लिया तथा सार्वजनिक सोक-साहित्य के सूखन में एक लक्ष्मीवाली परम्परा प्रतिष्ठापित हुई।

### शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव

लोकसंगीत की तरह ही शास्त्रीय नृत्य का प्रादुर्भाव भी लोकनृत्य से ही हुआ। जिस तरह लोकसंगीत की मूल स्वर-रचनाओं से राग-रागिनियों की प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय संगीत की सृष्टि की, उसी तरह लोक-नृत्यों की मूल आंगिक मुद्राओं तथा भावमुद्राओं से प्रेरणा लेकर कुछ आचार्यों ने शास्त्रीय नृत्य को जन्म दिया। शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य के विकसित रूप की तरह सम्मुख तहीं आया और न लोकनृत्य ही उसका व्यविकसित रूप बना। दोनों ने ही अपनी पृथक्-पृथक् दिशाएँ पहले कीं। शास्त्रीय नृत्य ने अपनी प्रेरणाएँ लोकनृत्यों से प्राप्त करके अपना विकास-वोत्र घलग ही बनाया,

परन्तु लोकनृत्य का विकसित स्वरूप उनने का दैम उसने कभी नहीं प्ररा। इस विशिष्ट लोकगीती के नृत्य को स्थान, समय तथा स्थिति के अनुसार शास्त्रकारों ने अनेक नियमों-उपनियमों से बांध दिया। पद-संचालन की अनेक कठिन कल्पनाएँ इसमें साकार हुईं। अंवयंगिमार्थों तथा मुखाकृतियों में अनिवार्यक नाना प्रकार की भावमुद्राओं का एक व्यस्तन्त उल्लभा हुआ स्वरूप तामने प्राप्त। इन्हीं नाना प्रकार की विधाओं को लेकर शास्त्रकारों ने अनेक शास्त्र लिख डाले, जिनमें भरतमुनिकृत भरतनाथ्य शास्त्र शब्दोंपरि है। इसमें नृत्य तथा नाट्य के नाना स्वरूपों का विस्तृपण हुआ।

नृत्य के साथ जुड़े हुए इस विषय द शास्त्र के पीछे लोकनृत्य ही जी प्रेरणा स्पष्ट परिचित होती है। वह सामाजिक घरोंहर के रूप में विकसित हुआ है। लोकगीतों की तरह ही एक व्यस्तन्त परिपृष्ठ परंपरा के रूप में उसका एक अतिरिक्त शास्त्र है, जो समाज के बौद्धिक तथा भावात्मक स्तर के अनुशाप हो प्रविकसित, विकसित, अतिविकसित तथा अतिसंस्कृत लोकनृत्यों की परम्परा के रूप में आज भी जीवित है। जबतक मनुष्य का मायात्मक एवं लोकिक पक्ष अनुष्टुप्पा बना रहेगा तबतक लोकनृत्यों का यह विकासकम भी विविध पदमराघों में बैधता चला जावेगा। शास्त्रीय नृत्य विशिष्ट कला-आचारों की उपज है तथा समाज के विशिष्ट बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है। स्थान, समय तथा प्रयोक्ताओं की विशिष्ट कल्पनाओं के साथ उसका विकास जुड़ा रहता है। मार्त्रीय लोकनृत्य विश तरह सामाजिक भावना, सामुदायिक आनन्द तथा सांस्कृतिक प्रसंगों से जुड़े रहते हैं तथा जिये तरह उन पर समर्पित अनिवार्यकि की द्वारा अंकित रहती है, तो वह विषयते उसके शास्त्रीय नृत्य वैयक्तिक आधार पर सूचित तथा विकसित होते हैं। अर्थात् ही उसे चरम सीमा तक पहुँचाता है तथा उसकी प्रतिभा का ही उसमें अंकन होता है। शास्त्रीय नृत्य शास्त्रीय नियमों के अनुसार रचे जाते हैं, जबकि लोकनृत्य स्वनिर्मित होते हैं तथा सामूहिक भावनाओं के अनुसृप ही उनका रूप निर्धारित होता है।

### शास्त्रीय नृत्य को मुद्राओं का प्रेरक लोकनृत्य

विश तरह शास्त्रीय संगीत की रामों का उद्गमस्थल लोकसंगीत है, उसी तरह शास्त्रीय नृत्य की समस्त परम्पराएँ लोकनृत्यों से प्राप्त हुई हैं। लोकनृत्य जब सामाजिक पृष्ठपूर्णि में अवहूत होते हैं तो अनेक मुद्राएँ स्वभाव से ही नर्तक के धंग में समा जाती हैं। हर्ष, उल्लास, कारुण्य, उत्साह, बौद्धव तथा शोर्य के भाव जैहरे पर अप्त होते हैं, उनके साथ ही चीवा, स्कंध, कटि,

जंघा आदि की विशिष्ट मुद्राएँ नर्तकों के अंग-प्रत्यंग में प्रकट होती हैं, जो किसी विशिष्ट भावभूमि के प्रसंग ही में जन्म लेती है। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे परिष्कृत होती रहती हैं, जिनकी जानकारी नर्तकों को नहीं होती। इनमें से अधिकांश मुद्राएँ लग, ताल, स्वर के क्रम से भावोद्रेक के विशिष्ट छलों में बनती हैं और अंगभविमाद्यों के माध्यम से नृत्य को सौन्दर्य प्रदान करती है। लोकनृत्यों के संदर्भ में इन मुद्राओं का तात्पर्य केवल नृत्य को सुन्दर बनाना है और उनकी सामाजिक भूमिका में अपेक्षित के कलात्मक उत्तरण को दर्शाना है। ये मुद्राएँ मालते समय हाथ के विविध कलात्मक मोड़-तोड़ में, चीवा के सब-बद्ध संचालन में तथा नयनों के विविध भावात्मक कदाकों में अन्तर्हित रहती हैं। ये मुद्राएँ जब हस्ती-नुस्ख के सम्मिलित नृत्य में विविध भावात्मक स्थितियों के कारण प्रोत्साहित होती हैं तब इनके सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। नाचते समय हस्ती-नुस्ख के पारस्परिक स्पर्श से वह नृत्य उद्दीप्त होता है, तथा इनके विविध जोड़-तोड़ तथा भरोड़ों में निखार प्राप्त है। यही बात किया-समन्वित नृत्यों में परिलक्षित होती है।

नृत्यनाट्यों में ये मुद्राएँ अपने विकसित रूप में परिलक्षित होती हैं। शीत-संवादों को व्यक्त करते समय अभिनेता के अंग-प्रत्यंग अनायास ही संवादों के अर्थों के साथ चलने लगते हैं। एक ही प्रसंग की अभिव्यक्ति में नाना प्रकार के पात्र इन अनिवैजित तथा तात्कालिक भावोद्रेक की मुद्राओं का प्रयोग करते हैं। अतः एक ही मुद्रा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। ये मुद्राएँ धीरे-धीरे निरंतर प्रयोग से परिष्कृत होती जाती हैं। साधारण जीवन में भी किसी को बुलाने, बिठाने, लिलाने, रुलाने, हँसाने, सुलाने, नचाने, गवाने तथा स्वागत-सत्त्वार, पूजापाठ करने आदि में स्वभावत ही विविध मुद्राओं का प्रयोग होता है। वे भी निरंतर अभ्यास से धीरे-धीरे स्पष्ट होती जाती हैं। जो मुद्राएँ काफी लम्बे समय से इस तरह अव्याहार में रहती हैं, वे ही एक तरह से नृत्यकारों के लिए परम्परा बन जाती है और जब शास्त्रीय नृत्य लोकनृत्य से प्रेरणा प्राप्त करता है तो सर्वप्रथम ये ही मुद्राएँ उसे सर्वाधिक प्रभावित करती हैं। लास्त्रकारों ने लोकनृत्यों की इन्हीं स्वाभाविक हस्तमुद्राओं तथा अंग-संवादन के विविध प्रकारों को अपनी आधारशिला बनाकर अनेक नवीन मुद्राओं का सृजन किया है। ये ही मुद्राएँ बाद में शास्त्रीय नृत्यों की रीढ़ बन गई हैं। नृत्यों की ये लोकमुद्राएँ कुछ शास्त्रीय नृत्यों में तो लोकपद से बहुत ही दूर हो गई हैं और कुछ ने ये अपने लोकपद को काफ़ी धूम में बनाये हुए हैं। ऐसे नृत्यों में मणिपुर का मणिपुरी नृत्य विशेष उल्लेखनीय है। यह नृत्य

शास्त्रीय नृत्य में लोकारण होते हुए भी लोकनृत्यों के सभी सामाजिक गुणों से दूर है। विकास की घटम सीमा तक पहुँचे हुए भवततात्यम्, कलाकली और कल्पक जैसे शास्त्रीय नृत्य इसने अधिक शास्त्रीय बन गये और इनका तालतन्त्र इसना बिट्ठ बन गया कि इन्होंने अपना लोकपद्धति प्राप्त: जो ही दिया है। वे इसने जिलाट बन गये कि स्वयं इनके प्रशोस्ता भी इनके महसूस को नहीं समझते। ये नृत्य न केवल अपने सामुदायिक तथा सामाजिक लोकनृत्यमें को भूल गये बरन् इनका अवधारणों भी कुछ ही पंडितों, कलाविदों तथा विजेयों तक सीमित ही रहा। उन पर अनेक शास्त्र भी चल रहा है। लोकनृत्य के कुछ विशिष्ट घंटों को पूर्णतः शास्त्र की पकड़ में आने से पूर्व उन्हें एक मध्य की स्थिति के बीच और गुजरना पड़ता है और वह ही अवधारणिक लोकनृत्यकारों की पकड़। लोकनृत्यों से ही उपर्युक्त हुई यह अवधारणिक लोकनृत्य की विशिष्ट ऐसी उन नृत्यों के साथ विशेष रूप से लागू होती है, जो अपने चमत्कारिक एवं अतिशय कलात्मक गुणों के कारण कुछ वेशबद्र जातियों की घरोहर बन जाती है और कुछ घंटा में शास्त्रीय नृत्यों की तरह ही अवधारण करने लगती है। ये विशिष्ट जातियों इनका विशेष कष से परिष्कार करती हैं, तथा उन्हें अस्थापिक चमत्कारिक और प्रभावशाली बनाने की कोशिश करती है, उन्हें अपने सामुदायिक दायरे से निकालकर अपने परिवार की परिधि में छाप देती है। ये नृत्य उनकी धार्माविका उपार्जन के प्रमुख साधन बन जाते हैं। उनमें लोकनृत्यों के गुण विश्वामान होते हुए भी वे अतिशय चमत्कारिक बन गये हैं और उनका सामुदायिक पद्ध भी दुर्बल पह गया है। ये ही नृत्य शास्त्रकारों की निशान में आकर शास्त्रीय स्वरूप भारती करने लगते हैं।

### गीतों की अपेक्षा लोकनृत्यों की न्यूनतम रचना

गीत की बदलावना व्यक्ति से होती है, समष्टि से नहीं। उद्भवोपरान्त अपने सामाजिक तथा सर्वमात्र गुणों के कारण वह समष्टि का कष-धारणा करता है। परन्तु लोकनृत्य किसी अक्षिविशेष की उपज नहीं होता। उसका प्रारम्भ ही समष्टि से होता है। किसी अक्षि के धानन्द-उल्लास के समय जो अंगभिगमाणों की उच्चलकृद होती है, वह इतनी निती और वैयक्तिक होती है कि उसका समष्टिगत प्रदर्शन संकोच और साज के कारण असंबद्ध ही होता है। वह उच्चलकृद उसके लिए अस्थिक प्राप्तवद की ही अनुभूति होती है, जो किसी धारेग या धारावेश ही का परिसाम होती है। गीतों की प्रारंभिक

मुनगुनाहट की तरह वह उसके लिए स्थायी आनन्द का विषय नहीं बनती। वह आवेग के कारण नहीं प्रकट होती है वही खत्म भी हो जाती है। वह उसको स्थायी भावनाओं का अवलबन नहीं पकड़ती है, परन्तु उसके प्रथम उद्भासित मुनगुनाहट उसमें स्थिर आनन्द के अंकुर उगाती है, उसके अंतराल के काण-कण में समाकर आनन्द का संचार करती है और उपर्युक्त शब्दों के गठबन्धन से मूर्त्यगीत का स्वरूप प्रहरण करती है, परन्तु आनन्दोदेक को वैयक्तिक उद्घलकूद एकदम अणिक और तात्कालिक होती है। उसका सम्बन्ध अधिकि के स्थायी भावों से विलकूल नहीं होता और कभी भी वह गौरव और आनन्द का अनुभव नहीं करता। अतः उसका सामाजिक समर्पण बनने का प्रदन ही नहीं डृढ़ा। वास्तव में समष्टि की समति से तथा समष्टिगत आनन्द के क्षणों में ऐसी अमन्गिमाओं की उद्भावनाएँ होती हैं, जो अनुकूल बातावरण एवं प्रेरणामूलक शरणों में उद्दीप्त होकर नाना प्रकार के स्वरूप सोशवं की सृष्टि करती हैं। जब वही बादल गरज रहे हों, विजली चमक रही हों, कोयल, गोर आदि अपने मधुर स्वरों से सृष्टि को आङ्गादित कर रहे हों, ढोल, नक्काड़ तथा विशिष्ट साजों का निनाद ही रहा हो, तो कभी-तो से समस्त बातावरण आनन्दित ही रहा हो, तब कभी-कभी समष्टिगत आलाद उमड़ पड़ता है और गतिशील हो जाता है। अनायास ही पांचों में विरक्त होने लगती है और मनुष्य अनियोजित दंग से नाच पड़ते हैं। उनके पांचों में नई-नई कल्पनाएँ जागृत होती हैं, और अंम-प्रत्यग में नवोन भंगिमाएँ घिरक उठती हैं, जो धोरें-धोरे नुस्ख का रूप आरण कर लेती है। ऐसे अनुभव अनेक बार होते हैं, असंख्य कल्पनाएँ भी जागती हैं, परंतु ध्याकांक जग्म के साथ नुस्ख को प्राप्त करती है। उसमें से कुछ ही कल्पनाएँ सामाजिक परोहर बनकर परम्पराओं का रूप आरण करती हैं और किसी सांस्कृतिक पवं तथा धार्मिक अनुष्ठान के साथ संस्कारवत् बंधकर ध्यानरत्व प्राप्त करती हैं।

यही कारण है कि लोकनुस्खों की संस्था संस्कारवत् होने के कारण अस्त्यन्त अस्त्य होती है। वे कुछ विशिष्ट मर्यादाओं में बंध जाते हैं, तथा उसका स्वतन्त्र उपयोग एक प्रकार से असामयिक किया जन जाती है। यही कारण है कि ये लोकनुस्ख धार्मिक अनुष्ठानों तथा सांस्कृतिक पवं को पकड़ लेते हैं और उन्होंने के साथ ऐसे जुड़ जाते हैं कि उसका विलगाव अस्त्यन्त ध्याक्षित समझा जाता है। कुछ नुस्ख विशुद्ध आनन्द-उल्लास के छणों के साथ भी जुड़ जाते हैं, परन्तु वे भी मन को मोज के साथ जुड़कर वैनिक संस्कारों का दामन पकड़ लेते हैं। वे इतने टकसाली ही जाते हैं और उनके साथ परम्पराएँ इस

तरह जुड़ जाती है कि बरसों तक नवीन रचनाओं की शुंजाइश नहीं रहती। इनकी आगु भी अत्यधिक लम्बी होती है। कुछ नृत्य तो सैकड़ों वर्ष पुराने पड़ जाते हैं और पुस्तों से सामाजिक धरोहर बने रहते हैं। विपरीत इसके लोकगीत सैकड़ों की संख्या में बनते हैं, क्योंकि उनका रचना-बिन्दु व्यक्ति होता है और बाद में सामाजिक प्रतिभा का उन पर पुट चढ़ता है। इनमें से अमेक गीत असफल होकर गिर पड़ते हैं और कुछ सामाजिक प्रतिभा को पकड़कर समर्पित का दामन पकड़ लेते हैं। यही कारण है कि लोकगीतों की संख्या अनश्विनत होती है और लोकनृत्य उंगलियों पर चिने जा सकते हैं। लोकगीत भी लोकनृत्यों की तरह संस्कारवत् पर्वों और सामाजिक अनुष्ठानों के साथ जुड़ जाते हैं, परन्तु अनश्विनत गीत ऐसे भी हैं, जो सामाजिक मृण्णभूमि पर रहते हुए भी हजारों व्यक्तियों के कांठों के हार बने रहते हैं, जो किसी विधि-विधान के साथ न जुड़कर वैयक्तिक आनन्द, उल्लास तथा पारिवारिक जीवन के विविध प्रसंगों के साथ जुड़ जाते हैं तथा हजारों लोग उन्हें स्वतंत्र रूप से गाते हैं तथा अपने जीवन का एक गार बनाते हैं। लोकनृत्यों की तरह उनका प्रसार-घोषणा सीमित नहीं होता। उनका संचार सर्वज्ञताय तथा सर्वज्ञताय होता है। वे उन्मुक्त जल-प्राप्त की तरह बहते रहते हैं।

लोकनृत्यों के प्रसार तथा प्रयोगशील की सीमाओं के कुछ कारण और हैं। लोकगीत प्रधानतः भावनाप्रधान होते हैं। मनुष्य के अंतराल से उद्भासित भावनीने स्वर तुरन्त ही हृदय को स्पर्श करते हैं। उनके साथ उपशुल्क गीतों का अच्छ-संयोग सोने में मुहारे का काम करता है। भावनाप्रधान व्यक्ति इनको तुरन्त पकड़ लेते हैं और अपने में भास्त्वसात् कर लेते हैं। गीत प्रधानतः अध्य गुण सम्पन्न होता है। और नृत्यों में हृष्य गुणों की प्रधानता रहती है। नृत्य नवनाभिराम होते हुए भी स्वरों की मर्मस्पर्शिता को नहीं पहुँच सकते। ओता पर पहुँच किसी मर्मस्पर्शी गीत का प्रभाव तुरन्त उसके अववहार में आ जाता है। वह ओता के कठ पर विराजकर उसके हृदय का हार बन जाता है; परन्तु नृत्य प्रभावशाली होते हुए भी वर्यक के अववहार में इतनी भासानी से नहीं आता और गीत की तरह उसके जीवन-अववहार का अंग नहीं बनता। नृत्य-दशोक के बल सराहक बनते हैं, विरले ही उसे अववहार में लाने में समर्थ होते हैं। किसी भी वैयक्तिक दायरे में फिरनेवाला कोई भी सकृद गीत किसी भी भावनाप्रधान ओता को भास्त्वादित करके उसके अववहार में इसलिये भी उत्तर जाता है, क्योंकि गीत-रचयिता की हास्त से समर्पित होते हुए वह अर्तिगत अववहार के लिए भी पूर्णरूपेण योग्य होता है, परन्तु नृत्य प्रारम्भ

से ही उच्चना और व्यवहार की दृष्टि से समर्पित होने के कारण वैयक्तिक व्यवहार में इसलिये नहीं आता, जबकि अकेला कुछ भी नहीं कर सकता। सामूहिक मूल्य वैयक्तिक बन नहीं सकता तथा व्यक्ति का प्रेरणा-खोत नहीं हो सकता।

जिस तरह लोकगीत एक कठ से दूसरे कठ पर छड़कर सहस्रों कठों पर चढ़ जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्य एक पद से दूसरे पद पर ओर फिर अनेक पदों पर नहीं चढ़ते, जबकि नृत्य के व्यवहार में समर्पित तथा समूह की अवस्थिति आवश्यक है। अनेक कठों पर छड़कर लोकगीत ध्याना पुष्ट स्वरूप प्राप्त करते हैं, परन्तु व्यवहार में पुनः वैयक्तिक कठ पर आ जाते हैं। परन्तु लोकनृत्य प्रारम्भ से ही समूह से घिरे रहते हैं और समूह में ही संचरित होते हैं। लोकगीत व्यक्ति से संचरित होकर समूह की ओर प्रवृत्त होते हैं और पुनः व्यक्ति का सहारा पकड़ लेते हैं। लोकनृत्य समूह में ही संचरित समूह में ही व्यवहृत होते हैं और सामाजिक व्यवहार से ही परिपृष्ठ होते हैं। लोकगीतों को तरह वे निरंतर समाज के अन्तराल में परिस्फुटित होकर उल्लाप्र प्राप्त नहीं करते। वे तो व्यवहार के समय ही प्रयोक्ताओं तथा दर्शकों को प्रेरित करते हैं। उसके बाद उनकी कियाएं अशक्त होकर बैठ जाती हैं और प्रयोक्ताओं के अन्तराल में गीतों की तरह सोते, जागते, बैठते वे विकासकम को प्राप्त नहीं करते। उनका विकास पुनः सामूहिक व्यवहार में आने पर ही होता है। इस तरह जब सामूहिक व्यवहार के अनेक अवसर आते हैं तब मूल में प्रीड़िता आती है और अनेक वर्षों के व्यवहार के उपरांत वह टकसाली बनकर लोकनृत्य का दबाव प्राप्त करता है।

लोकनृत्य स्थिति, समय तथा सामूहिक गठन की मर्यादाओं में रहने के कारण सोकबीवन में गीत की तरह पर-पर आपी नहीं बनता। वह लोक-धर्मों होकर भी लोकधर्मों को गीत की तरह नहीं निभाता। वह लोकवर्मी इसलिये है जबकि उसका सामूहिक स्वरूप होता है तथा सामाजिक आनंद, उल्लास और संस्कारों की गहरी छाप उस पर रहती है। इन कठिन मर्यादाओं के कारण ही वह लोकगीत की सामाजिक गति तथा व्यापकता को प्राप्त नहीं कर सका। लोकनृत्य भौतिक अनुष्ठानिक एवं संस्कार संगत ही जाने से दीर्घजीवी है। वह यदि किसी गृहस्थ या व्यक्तिविशेष से जुड़ जाता तो उसका नाम निशान भी नहीं रहता।

### लोकनृत्य की प्रकृति तथा स्वभाव

लोकनृत्यों की प्रकृति तथा स्वभाव की विवेचना करते समय हम यह

मानकर चलते हैं कि वे केवल साम्य वातावरण में ही सृजित और विकसित नहीं होते, बरन् उनके लिए उभयुक्त वातावरण गौवों से बाहर भी हो सकता है। हम यह मान सकते हैं कि लोकनृत्यों के विकास और स्वस्थ संचार के सिंगे गौवों का वातावरण भौतिक अनुकूल होता है और उनके अनुरूप ही लोकनृत्यों के स्वरूप और प्रकृति में भी अंतर पड़ जाता है, परन्तु हम यह बात नहीं मानते कि गौवों के जो नृत्य है वे ही लोकनृत्य हैं, शहरों के नहीं। आज तो यह भेद और भी कम हो गया है, जबकि गांव और शहर एक दूसरे के निकट था रहे हैं।

### लोकनृत्यों की विशेषताएँ

( १ ) लोकनृत्य सरल, सर्वगम्य और सर्वसुलभ होते हैं। सरल इस पर्यंत में कि उन्हें सीखने समझने और प्रदर्शित करने में सरलता रहती है। वे तीनों ही मुण्ड न केवल लोकनृत्यों के सामाजिक और सामुदायिक रूप में विद्यमान हैं, बरन् उनके अध्यवस्थायी रूप में भी उनका समावेश होता है। उनकी सरलता, सर्वगम्यता और सर्वसुलभता की कसीटी यही है कि वे कहीं किसी के द्वारा सिखाये नहीं जाते। उन्हें समझने और सुधारने के लिए किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। अपने पूर्व संस्कारों तथा अनुकूल वातावरण के कारण ही बालक उन्हें बचपन से ही सीख जाते हैं। स्त्रियों विवाह-समारोह आदि पर जो नाचती, माती हैं, उसकी जिज्ञा कहीं किसी से नहीं लेनी पड़ती। यही बात उन नृत्यों के लिए भी प्रयुक्त होती है, जो अध्यवसायिक लोकनृत्य-कारों द्वारा ही नाचे जाते हैं। यद्यपि ये नृत्य घोपेकाङ्क्षत कठिन हैं उनकी तात, तय तथा धंगभणिमाओं में वर्णित मात्रा में तंत्र और कोशल है, फिर भी उनकी सरलता और सर्वसुलभता के मुण्ड कम नहीं हुए हैं। अध्यवसायिक लोकनृत्यकारों के घरानों में किसी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती। जन्म से ही बच्चे घरानी परम्परागत कला को संस्कारवत् सीख जाते हैं।

( २ ) लोकनृत्यों में अप्रवल्लोक सरलता होती है। बदलोगा नाचते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि तात, तय और धंगभणिमाएँ एकरस होकर अवक्तुरित हुई हैं। नृत्यकारों के धंग में वे सब स्वभावगत ही शुभार होती हैं। शास्त्रोग्न नृत्य भी तद्देश उनमें गिनतियाँ नहीं गिननी पड़ती, जाली भरी का खामोश नहीं रखना पड़ता तथा तात में सम पर आने के लिए नाचनेकाले का परीका नहीं उठता। लोकनृत्यों में ऐसा लम्बा है कि तात और तय स्वयं

नृत्यकार की बेरी बनकर पीछे-नीछे चलती है। नृत्यकार को ताल, लय के पीछे नहीं चलता पड़ता। नाचनेवाले को कदम से कदम नहीं मिलता पड़ता। हाथ, पांव, कंधा, ग्रीवा आदि की भंगिमाओं की एकस्त कलाकारों को एक दूसरे की कियाओं को देखकर अनुकरण नहीं करता पड़ता। ऐसा लगता है कि लोकनृत्यों में ताल, लय तथा भंगिमाओं का सुनन स्वयं में ही होता है।

(३) लोकनृत्य स्व-संजित होते हैं। जिस तरह लोकगीत बनाये नहीं जाते, अपने भाष पनते हैं, उसी तरह लोकनृत्य किसी के ढारा बनाये नहीं जाते, वे अपने भाष पनते हैं। लोकनृत्यों पर किसी व्यक्ति तथा विशिष्ट सूचनकरण की छाप नहीं होती, उन पर किसी व्यक्तिविशेष का व्यक्तित्व अंकित नहीं होता, सारे समाज ढारा ही वे बनाये जाते हैं, सारे समाज के व्यक्तित्व की छाप उन पर अंकित होती है; यही कारण है कि लोकनृत्य सर्वगम्य, सर्वसुलभ और सर्व-प्राप्त होते हैं। यदि एक ही व्यक्तित्व की उच्च पर छाप हो तो दूसरे व्यक्ति उसे प्रनिवार्य रूप से नहीं पसंद करें? उस पर कई व्यक्तित्वों की छाप है, इसलिये उसमें व्यक्तिगत दोष की मात्रा अत्यधिक न्यून सी रह जाती है। वह सर्वप्राप्त और सबकी संपत्ति भी इसीलिये है कि वह किसी एक व्यक्ति को धरोहर नहीं, उस पर सबका प्रधिकार है, समस्त समाज ही उसका सृजनहार है।

(४) लोकनृत्यों में जन-जीवन की परम्परा, उसके संस्कार, तथा जनता का आध्यात्मिक विश्वास निहित होता है। यही कारण है कि लोकनृत्यों की प्राणी सम्बन्धी तथा उद्घाटकाल अत्यन्त प्राचीन होता है। जिस तरह कोई व्यक्तिविशेष जन-जीवन में देवता का रूप तभी ले सकता है, वबकि उसको कायं सम्बन्धी समय तक, उसकी मृत्यु के सैकड़ों वर्षों बाद भी जन-जीवन को प्रभावित करते रहे। राजस्थान के गोगा चौहान तथा पाठूजों राठोड़ संकहों वर्षों के बाद देवता बने। उनके पीछे संस्कार, सद्भावना तथा सत्कर्मों के प्रति विश्वास को सम्बद्धी परम्परा है। लोकनृत्यों के जिए भी यही बात जागू है। वही लोकनृत्य जन-जीवन में लोकनृत्य के रूप में प्रतिष्ठित होता है, जिसने काल, स्थान और परिस्थितियों की अनेक गतिविधियों को देखा, प्रभावित किया और जन-जीवन को लम्बे समय तक उत्तमित किया है। वही लोकनृत्य आज जनता के जीवन में धार्मिक विश्वास की तरह प्रतिष्ठित हुआ है। इसीलिये लोकनृत्य जनता के जीवन को उन्नत, विकसित और स्वस्थ बनानेवाले सिद्ध हुए हैं। उनके पीछे कोई सामाजिक बन्धन (Social Taboos) नहीं होते, न उनके साथ नव-निर्मित नृत्यों की तरह कोई ही जीवन की भावना जुड़ी रहती है।

(५) लोकनृत्यों के विविध में भी साधारणता एकलृपता होती है। लोक-नृत्यों में अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं, जिनमें अंगभंगिमाओं तथा चालों की विविधता है। उनको खूबी इसी में होती है कि सभी कलाकार एक ही ताल और एक ही नृत्यविशेष की सीमा में रहते हुए भी विविध दिशाओं में फ़िरते हैं तथा विविध अंगभंगिमाएँ सृजित करते हैं। एक ही नृत्य रचना-विधि (Choreography) की मर्यादा में रहते हुए भी यह विविधता इन नृत्यों की विशेषता है। उनका पूरा और सम्पूर्ण प्रभाव एकरसमय और एकलृपत्य होता है।

(६) लगभग सभी लोकनृत्य सामूहिक होते हैं। उनमें वैयक्तिक-नृत्य की कलना आधुनिक है। ये व्यक्तिगत आनन्द, व्यक्तिगत लान, व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत भावना से रहित होते हैं। सामुदायिक, सामाजिक या नाचारिक भावना से वे ग्रोतप्रीत होते हैं। व्यवसायिक लोकनृत्यकार भले ही आधिक लाभ के कारण नृत्यों का आयोजन अपने यजमानों के गहरी करते हों, परन्तु उनके पीछे भी सामुदायिक भावना का ही प्राप्तान्य है। किसी जाति-विशेष या समुदाय विशेष को मनोरंजन प्रदान करना उनका जातिशत कर्तव्य है, जो मने ही आज की बदशी हुई सामाजिक व्यवस्था में दोपूरुण समझ जाता हो, परन्तु उनका प्रारंभ सामुदायिक भावना से ही हुआ। उन्हें पारिषद्मिक के रूप में जो भी अन उपलब्ध होता है, वह उनकी आजीविका की दृष्टि से ही समाज ने नियत किया है।

लगभग सभी लोकनृत्य वैयक्तिक भावनाओं से ऊपर होते हैं, तभी उनको बनावीन में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है तथा वे समाज के सामाजिक, सामुदायिक और धार्मिक कर्तव्यों में जुमार हो गये हैं। हमारे पवं, समारोह, स्पौहार तथा संस्कारों पर कोई लोकनृत्य नहीं होती तो वे अशुभ माने जाते हैं। इन नृत्यों में जहाँ सामुदायिक और सामाजिक भावना प्रमुख है, वहाँ आनन्द की भावना भी सर्वोपरि रहती है। आत्मानन्द और सामाजिक कर्तव्य का इसना सुन्दर, स्वस्थ और उपयोगी समन्वय लोकनृत्यों के प्रलाभा अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता।

(७) लोकनृत्य शास्त्रीय नृत्यों को तरह शास्त्रीय नियमों के बंधनों और सीमाओं से परे होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि लोकनृत्य शास्त्रीय नियमों और मर्यादाओं से हीन होने से अत्यन्त प्राथमिक या अपरिपक्व होते हैं। यह भी समझना चलता है कि लोकनृत्य, आदिवृत्त होने के कारण अत्यन्त प्रारंभिक होते हैं। लोकनृत्यों के साधार पर ही शास्त्रीय नृप विकसित हुए हैं, परन्तु

यह समझना भी बिलकुल गलत है कि नृत्यों को चरम विकसित सीढ़ी शास्त्रीय नृत्य है और उसको सबसे निम्न सीढ़ी लोकनृत्य है । जिस तरह गुच्छ विशिष्ट आचार्यों और विशेषज्ञों ने घपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए लोकनृत्यों पर शास्त्रोत्तम नृत्यों के भवन बनाये और शास्त्र की विविध कलमों में उन्हें बौधा, उसी तरह समाज ने और सामाजिक भावनाओं ने प्रारंभिक लोकनृत्यों को भी विकास की कंची सीढ़ी तक पहुँचाया । जिस तरह एक गुलाब के तने से कई प्रकार के गुलाबों के प्रकार विकसित किये जाते हैं, उसी तरह लोकनृत्यों को आधार मानकर कई प्रकार के सांस्कृतिक नृत्यों का प्रादुर्भाव होता है । शास्त्रीय नृत्य उसका एक प्रकार है तो लोकनृत्य उसका दूसरा प्रकार ।

किसी शास्त्रीय नृत्य में जितनी संस्कारिता, प्रभावोत्पादकता, कला, प्रानन्दप्रदायिनी शक्ति, रचना-कौण्डल तथा उच्चस्तरीय गुण हो सकते हैं, उनमें ही गुण लोकनृत्यों में भी हो सकते हैं । सीराषट् का रामगरबा, राजस्थानी धूमर, नवाई नृत्य, गरासियों की बालर, भीलों का धूमरा तथा मणिपुर का लौहारबा नृत्य में जो आनन्दप्रदायिनी शक्ति तथा रचनाविधि के गुण हैं वे किसी भी शास्त्रीय नृत्य से कम नहीं हैं । किसी नृत्य में नियमों की अधिकता, बाल्यांडवर तथा चमकदमक होने से ही उसकी सुन्दरता बढ़ती है, ऐसी बात नहीं है । लोकनृत्य अपनी सरलता, आदम्बरहीनता तथा अपनी स्वभावगत मुन्द्ररता के कारण प्रभावशाली होते हैं, जबकि कभी-कभी शास्त्रीय नृत्य अपने नियमों के बंधनों के कारण अपनी लोकप्रियता खो देते हैं ।

### लोकनृत्यों पर प्राकृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक बातावरण का प्रभाव

यह कहना बहुत कठिन है कि समस्त भारतवर्ष में उक्त तीनों परिस्थितियों का प्रभाव एकसा होता है । किसी स्थलविशेष के प्राकृतिक बातावरण का प्रभाव किसी नृत्यविशेष पर एक प्रकार का है तो यह आवश्यक नहीं कि उसी तरह ही प्रकृति का प्रभाव किसी दूसरी जगह के नृत्यों पर बैसा ही हो । इसका कारण यह है कि किसी जगह प्राकृतिक बातावरण का प्रभाव दूसरे प्रभावों से दब जाता है । किसी जगह प्राकृतिक बातावरण का प्रभाव कम है तो धार्मिक बातावरण का प्रभाव अधिक । किसी जगह सामाजिक बंधन (Social Taboos) इतने अधिक होते हैं कि नृत्य सामाजिकता से घिरा होता है । वहीं प्राकृतिक, सामाजिक और दूसरे कारण उन्हें इतना प्रभावित नहीं करते । इस बात को ध्यान में रखते हुए हम भारतवर्ष के

समस्त लोकनृत्यों की विशेषताओं का पता लगा सकते हैं। पंजाब और राजस्थान के सामाजिक वातावरण में मुगलशाही तथा सामंती प्रभाव होने के कारण कला को सामाजिक और धार्मिक रूप प्राप्त नहीं हो सका। पिछले चार सौ वर्षों में कला जीवनोपयोगी नहीं समझी जाकर विलास की ही सामग्री तमची गई। यह प्रभाव बहुरों में तो ध्रुविक था ही, परन्तु गवर्णों की परिधि में भी थुक गया। अतः लोकनृत्य धार्मिक समारोहों, मंदिरों, सामाजिक पर्वों में विशेष महत्व प्राप्त नहीं करके जीवन के कुछ ही प्रसंगों में उपयोगी मिल गुप्ता। वही लोगों को वर्षभर में कुछ ही अवसरों पर अपनी आनन्द की भावना तृत्त करने के लिए नृत्य जायज भवना गया। वे अवसर थे, होली तथा शादी विवाह के विशेष प्रसंग।

राजस्थानी धूमर तथा होली के अवसर के लगभग सभी लोकनृत्य इसी ऐण्टों के लोकनृत्य हैं। इनमें शू'गारिक भावना की प्रधानता रहती है। इसी बंधन के कारण राजस्थान और पंजाब में हियों को पुरुषों के साथ नाचने की छूट नहीं दी गई। पुरुषों के नृत्यों में यदि स्त्रियों की आवश्यकता होती है तो पुरुष ही स्त्री का कप बनाकर नाचते हैं।

राजस्थान में आदिवासियों के नृत्यों को ढोड़कर धार्मिक और सामाजिक लोकनृत्यों की बहुत ही कमी है। नृत्य के प्रति सामाजिक बंधन की भावना होने के कारण ही राजस्थान में अवसाधिक लोकनृत्यों का विकास ध्रुविक गुप्ता। जिस देश या भ्रात्त में अवसाधिक लोकनृत्य ध्रुविक होते हैं, वही यह समझ लेना स्वाभाविक है कि नृत्यों के प्रति वही आध्यात्मिक भावना नहीं है, या यों कहिये कि समाज ने नृत्य को हीन और हृदय समझकर ही अवसाधिक लोकनृत्यकारों की रक्खा की। सबाइयों का इतिहास भी यही बतलाता है कि उनके मूल समाज ने अपनी जाति से निर्वासित भी इसी कारण किया था। जिन दोओं में नृत्य को हीन भावना से नहीं देखा जाता है वही नृत्य जन-जीवन में घ्याप्त रहता है और नृत्यकारों की अवसाधिक जातियाँ नहीं के बदाबद होती हैं। बंगल, उड़ीसा तथा दक्षिण भारत के सभी ज्ञेन इसके जबलत उदाहरण हैं।

इन सामाजिक और धार्मिक भावनाओं के घलांवा प्राहृतिक वातावरण का भी प्रभाव नृत्यों पर पड़ता है। राजस्थान के रेतीले प्रदेशों में भनुप्य के सामने सबसे बड़ा प्रभन प्राजीविका का है। नृत्य के लिए उसे युक्त ही कहा ? इसलिए इन ज्ञेनों में भोज, कामड़, नट, कठपुतलीकार प्रादि अवसाधिक

नृत्यकारों का नितना बाहुल्य है, उतना राजस्थान के यन्त्र शोरों में नहीं। यहाँ पर दूर-दूर तक किसी भी प्रकार के सामाजिक लोकनृत्य के दर्शन नहीं होते।

राजस्थान में स्त्रियों मध्यकालीन ऐतिहासिक कारणों से बड़े-बड़े लहौर तथा लम्बी-लम्बी पूँछटदार साड़ियों पहिनती हैं। सामाजिक प्रथा के कारण उन्हें पूँछट भी निकालना पड़ता है, इसलिये वहाँ स्त्रियों में जो भी नृत्य प्रचलित है, उनमें पाढ़े और पूँछट की कला बहुत ऊंचे दर्जे तक पहुँच नुकी है। स्त्रियों के नृत्य का सुनन भी इसी प्रकार हुआ कि वे अधिक से अधिक प्रशंसित हैं, ताकि घाघरे का चेर मरीदा का भी अतिक्रमण कर जाय। राजस्थान में पूँछट की प्रथा है, इसीलिये वहाँ के लोकनृत्यों में पूँछट की कई कलाएँ व्यक्त की जाती हैं। यही कारण है कि राजस्थान के नृत्य बूताकार होते हैं तथा पूँछट की प्रथा वहाँ नितार प्राइं है। यही बात कुछ हद तक पंजाब के लिए भी जागू है। एक विशेष बात राजस्थान और हरियाणा के लोकनृत्यों में जो देखने मोगा है, वह यह है कि सामाजिक कारणों से क्योंकि स्त्रियों पुरुषों के साथ वहाँ नहीं नाजती इसलिये पुरुषों को ही स्त्रियों का नृत्य करना पड़ता है। पुरुषों में स्त्रीमुख छावभाव स्वभाव से नहीं होते, इसीलिए उनको स्त्रियों के हावभाव सीखने पड़ते हैं। परिसाम यह होता है कि पुरुष जाहे पुरुष का ही काम करता हो, स्त्रियों के से लटके-मटके उसकी प्रादृश्य में शुभार हो जाते हैं, इसलिए अधिकतर यह देखा गया है कि राजस्थान के अवसानिक लोकनृत्यों में जनानापन अधिक है। उन्हें किसी तरह स्त्रीत्व की कमी को अपने हावभाव द्वारा ही पूरी करनी पड़ती है।

यही विश्लेषण यदि इसिए भारतीय नृत्यों का करे तो उनमें भी कई विशेषताएँ मिलेंगी। इसिए भारत में उत्तर भारत की तरह विदेशी प्रभाव बहुत कम है। इसलिए वहाँ की कलाओं में हिन्दूत्व की उदार और उदात्त भावनाएँ प्राच भी अद्भुत रूप में विद्यमान हैं। नृत्यसंगीत के प्रति प्रायः कोई सामाजिक बंधन (Taboos) वहाँ नहीं है। कला के पीछे धार्मिक और सामाजिक भावनाएँ वहाँ पर्याप्त मात्रा में हैं इसलिए वहाँ प्रत्येक ऊंचे और नीचे दर्जे की जातियों में नृत्य के प्रति सदमावना है। राजस्थान की तरह नृत्य निम्न श्रेष्ठों की घरोहर नहीं बनकर नंबूदरी ब्राह्मणों के घरों में ऊंचा से ऊंचा स्थान प्राप्त किये हुए हैं। बल्कि वहाँ तो नृत्य कहीं अपवित्र नहीं हो जाय, इसलिए उसे शुद्धों से बचाकर रखा जाता है। इसके विवरीत राजस्थान में कहीं ऊंची जातियों नृत्य के कारण झट्ट नहीं हो जाय इसलिए उसे निम्न जातियों में घोक दिया गया है।

दक्षिण भारत में नृत्य का सामाजिक और धार्मिक रूप चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है, इसलिए वही नृत्य की अवसाधिक जातियाँ नहीं के बराबर हैं। यह पूर्विये तो दक्षिण भारत में कला के प्रति इतनी स्वस्थ भावना होने के कारण वह प्रत्येक पर को लोभा बना हुई है। लोकनृत्य स्वयं इतना अधिक अवस्थित और संस्कृत बना दिया गया है कि वह भी शास्त्रीय कला का रूप घारणा करने लगा है। यह कलाप्रियता चरमोत्कर्ष तक पहुँचती है और वह औबन और घर्म के बहुत निकट होती है तो उभी कलाएँ चाहे वह लोक हों आदि शास्त्रीय, चरमोत्कर्ष तक पहुँचने लगती हैं तथा लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे के समीप आने की कोशिश करती है। शास्त्रीय कला में लोककला के सामाजिक और लोकाधाराता के मुख्य समाविष्ट होने जाते हैं और लोककला में शास्त्रीय कला के संस्कार और परिष्कार की प्रवृत्ति प्रविष्ट होने लगती है। यही कारण है कि दक्षिण भारत में लोककला और शास्त्रीय कलाएँ काफ़ी समरूप होने लगती हैं। कथकनी और कुचपुड़ी नृत्य किसी समय नृत्य की लोकवैली में ही शुमार थे, परन्तु वे आज परम दर्जे के शास्त्रीय नृत्य बन गये हैं। जिस तरह दक्षिण भारत में लोककला और शास्त्रीय कला एक दूसरे का रूप घारणा कर रही है, उसी तरह वहीं लोकनृत्य और शास्त्रीय नृत्य भी समरूप होते जा रहे हैं।

धार्मिक, सामाजिक तथा कलाप्रियता की हृष्टि से दक्षिण भारत की कला का विश्लेषण लंगर किया गया है। यह कुछ और कारणों से भी उनका विश्लेषण होना यावद्यक है। उघर अत्यधिक गर्भी के कारण लोग कपड़े नहीं पहिनते। उन्हें घपने गरीर की सरिमा दशने के लिए कपड़ों से कही अधिक नम जारीर के शृंगार-अलाव पर ध्यान देना पड़ता है। कपड़ों की कमी-पूर्ति करने के लिए उन्हें गले में धच्छौ कठे पहिनने पड़ते हैं। मस्तक और शरीर पर केशर, गंधीर आदि के तिलक लगाने होते हैं और नृत्य में भी धंग संचालन के बैविष्य पर ही अधिक ध्यान देना पड़ता है। मरतनालयम में किन्धनों की ही नावने का अधिकार प्राप्त है, पुरुषों को नहीं। यतः स्त्रियों के नृत्य में गुरुर्गुलम कियाओं का बाहुल्य है।

इसी तरह बंगाल और मणिपुर के लोकनृत्यों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। वहीं पर धार्मिक भावनाओं का बाहुल्य होने के कारण वहाँ के लोकनृत्य बहुधा धार्मिक होते हैं। मंदिर, देवस्थल तथा धार्मिक अवसर ही उनके नृत्यों के विषय बन जाते हैं। सामाजिक हृष्टि से भी वहाँ कोई वंशन नहीं है। इसलिए पुरुष सभी मिलकर नाचते हैं। हशी पुरुष के अवहार में

स्वामाजिकता है अतः नृत्यों में कोई शृंगारिकता तथा घटनीकता का चिह्न नहीं है। बंगाल तथा मणिपुर में इन लोकनृत्यों को जनता वडे सम्मान और पार्श्विक इच्छा से देखती है। इसके विपरीत राजस्थान, हरियाणा और पंजाब के कुछ क्षेत्रों में यदि कोई लोकनृत्य का आयोजन किया जाए तो सामाजिक वर्णनों ( Social Restrictions ) के कारण लोग स्थिरों को नृत्य करने से देखकर शिष्टता की सीमा का प्रतिक्रमण कर जाते हैं। बंगाल, आसाम, और मणिपुर में अवसायिक लोकनृत्य जैसी कोई परम्परा नहीं है। इसका मूलकारण यही है कि वहाँ लोकनृत्यों के पीछे सामाजिकता की मावना है।

उत्तर प्रदेश की स्थिति राजस्थान, पंजाब और बंगाल के बीच की है। उत्तर प्रदेश के वे क्षेत्र जो बढ़ संस्कृति से प्रभावित हैं, तथा जो भगवान् राम-कृष्ण की कीड़ाओं से झोप्झोत हैं, वहाँ रामलीला और रासलीला जैसी दो लोकनृत्य-नाटकों की संविधान प्रचलित हैं, परन्तु वे भी अवसायिक लोककला के क्षण में हैं। उधर भी बाहरी प्रभावों के कारण सामाजिक वंशन पर्याप्त नाचा में है, इसलिए अवसायिक लोकमंडलियाँ ही इधर विशेष विकसित हुईं। इनमें भी सामाजिक वंशनों के कारण पूर्ण ही रिंगों की भूमिका अदा करते हैं।

पहाड़ी क्षेत्रों (हिमालय) के नृत्यों का विशेषण करने पर यह जात होगा कि वहाँ के पहाड़ी जीवन की ऊन पर खाप स्थान है। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण बाहरी विदेशी प्रभाव इन पर नहीं के बराबर है। सामाजिक और धार्मिक नाचनाड़ों पर भी कोई विशेष प्रतिक्रिया नहीं है। यहाँ पर भी इसी कारण अधिकतर लोकनृत्य अवसायिक लोकनृत्यों के क्षण में नहीं है। इन पहाड़ी क्षेत्रों में स्थीर पुरुष मिलकर नाचते हैं तथा इनके नृत्यों पर प्राकृतिक बातावरण का पर्याप्त प्रभाव है। पहाड़ों पर समचौरस या एक ही स्पल पर जम्बी-चोड़ी जमह का अभाव रहता है, इसलिए लोग योड़ी जगह में भी नृत्य कर सकते हैं। कतार बनाते समय कभी गोलाकार चूमने की बजाय सर्प की तरह टेवेमेडे चलकर पुनः समचौरस भूमि पर सीधे हो जाते हैं। हिमाच्छादित पर्वतों की असहनीय शीत के कारण इन्हें लारीर पर अत्यधिक कपड़े पहिनते रहते हैं, अतः इनके नृत्यों में आरीरिक गरिमा तथा अंगभंगिमाओं की कमी रहती है। केवल सीधे-सीधे जड़ रूप में चलना-फिरना ही इनके नृत्य की विशेषता है। नृत्य में संगठित संचालन के अलावा विशेष गरिमा नहीं। उसमें शृंगारिकता और कलावैकल्प्य की भी कमी है। ये दोनों ही बातें व्यापक

संपर्क तथा दुनियावाली परिचय और प्रभाव से भासती है। पर्वतों के एकाकी और शास्त्र वातावरण में उनका अभाव रहता है।

सौराष्ट्र के नृत्यों में इस इटिट से घनुपम विविधता और कारीगरी है। समुद्री वातावरण में समुद्री लहरों की चहलपहल और सौदर्य के बीच रहकर उधर के लोककलाकारों में कल्पना की अद्भुत सूझ और कला की अद्वितीय विविधता है। इनके नृत्यों में समुद्र की सी गम्भीरता, उरंगों की सी चपलता, समुद्री-बलवायु की सी मनोरमता और बाहरी प्रभावों से अछूते लोक-बीवन की पवित्रता है। यही के नृत्य सामाजिक नृत्यों के अद्वितीय उदाहरण हैं। उनमें कला, सौदर्य, सरलता और मनोभावनाओं का जैसा सामंजस्य हुआ है, जैसा अन्यत्र कहीं नहीं।

### भारतीय लोकनृत्यों के प्रकार

**भारतीय लोकनृत्यों के निम्नांकित प्रकार हैं—**

(१) स्वान्तःमुखाय लोकनृत्य — वे लोकनृत्य जो केवल हँस्य, उल्लास तथा आनन्दोद्धेक से संबंधित हैं, उनमें संगभिगमाधों की प्राजनता, वैविध्य तथा भावनाओं का अद्वितीय रंग बदा होता है। वे नदी के प्रवाह की तरह बहते हैं। लहरों की तरह उछलते हैं तथा अद्वितीय धानमद की सृष्टि करते हैं। इन नृत्यों में नृत्यकारों को एक निर्दिष्ट पोजना में रहते हुए भी, अंग-भंगिमाधों की पूर्ण स्वर्तनता रहती है। इन नृत्यों में नृत्यकार बाहर धानमदों का विशेष सहारा नहीं लेता। उसकी वेणुभूषा, अलंकरण तथा प्रस्तुतीकरण में किसी प्रकार का विश्वावा नहीं होता। वह सदौ पोजाक ही में आकर्षक लगता है। इन नृत्यों में व्यक्तिगत प्रतिभा तथा विलापे की अधिक प्रवृत्ति रहती है। इन नृत्यों के लिए कोई विशेष पर्व, उत्सव तथा अवसर निरिचित नहीं होते। ये स्वान्तःमुखाय नृत्य कभी भी मन की भौज वर प्रकट होते हैं। उनमें नियम-प्रति परिवर्तन होता रहता है, तथा वे जातीय तथा ज्ञेयीय विशेषताओं से भोतप्रोत रहते हैं। इन नृत्यों में नृत्यकारों का वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय बीवन विशेष रूप से जलकता है।

(२) अनुष्ठानिक लोकनृत्य — इन कोटि में वे लोकनृत्य आते हैं, जो वैयक्तिक नृत्यों के दावरे में ने निकलकर किसी उत्सव, पर्व, रीतिस्थिवाज तथा संस्कार के साथ जुड़ जाते हैं। स्वान्तःमुखाय तथा वैयक्तिक नृत्यों को जीवित रखने तथा उनको निश्चिप्त स्वरूप देने में इन पर्व, उत्सवों का बहुत बहा हाथ है। भावोद्देश के साथ अद्वा तथा कर्तव्य जुड़ जाने से इन नृत्यों में तनिक गम्भीरता आती है और सामाजिक तत्त्वों का समावेश होता है। विचारी

हुई नृत्य-भंगिमाएँ नियमित होती हैं, तथा उन्हें सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है। सामाजिक अद्वा और परमारा के साथ जुड़ जाने से उनमें स्थापित आता है, तथा उनके प्रति लोगों का प्रेमनाव बढ़ता है। उनमें वैयक्तिक प्रयोग की अपेक्षा सामाजिक प्रयोग की विशेष महत्व मिलता है। ये नृत्य प्रत्येक पर्व, उत्सव तथा समारोह के प्रतीक होते हैं। उनकी भावाभिव्यञ्जनाओं में उन पर्वों का पूरा विवेचन होता है। वैसे धार्मिक नृत्यों में पूर्ण गंभीरता, मौसम के नृत्यों में पूर्ण शृंगार और साहित्यिकता तथा ऐसों और सार्वजनिक पर्वों के नृत्यों में विस्तार, बयता तथा विभिन्नता के गुण परिलिपित होते हैं। ऐसे नृत्य भी बहुत हैं, जो केवल कहि मात्र रह गये हैं, जिनमें कोई अनुराग और रस नहीं है। वैसे वैवाहिक प्रसंगों के साथ चिपके हुए नृत्य, जिनमें कोई वैविध्य और रस नहीं होता। सरलता तथा श्रीमापन ही उनका लाभ गुण है। ऐसे नृत्य श्रीरे-धीरे विविध रीतियों तथा परम्पराओं से जुड़ जाने के कारण कहिंगत हो गये हैं और कहिं बनकर ही सचरित होते हैं। उनके साथ कभी-कभी अंधामुद्राओं और अंधविष्वास भी जुड़ जाते हैं, जो लकोर की तरह सदा ही चलते रहते हैं।

( ३ ) अमसाध्य लोकनृत्य — ऐसे नृत्य भी अनेक हैं जो धीरे-धीरे मनुष्य की क्रियाओं के साथ जुड़ गये हैं। अमजनित व्याम तथा उसकी नौरसता को काम करने के लिये जिन अनेक नृत्यों की सृष्टि हुई, वे मनुष्य के जीवन में पुलमिल गये। सइक कूटते हुए, छत दबाते हुए, पानी भरते हुए, बहन उठाते हुए तथा खेती की अनेक क्रियाएँ करते हुए, अनेक पंगमुद्राएँ लयबद्ध होकर धीरे-धीरे नृत्य का कृप घारण करने लगती हैं। ऐसी भंगिमाएँ गीतों से प्रेरणा लेती हैं और जारीरिक लय से ताल पहुण करती हैं। चौंकि इन नृत्यों में अम की प्रधानता रहती है, इसलिये उन की चालें, भंगिमाएँ तथा मुद्राएँ अस्थित गौण ही जाती हैं। ये नृत्य विशिष्ट स्वरूप घारण नहीं करते। बहुधा लेचीय, जातीय एवं भौगोलिक विशेषताओं के साथ उनके स्वरूप भी बदलते रहते हैं। ऐसे नृत्यों में काम करती हुई स्त्रियों की टोकरियाँ और हिलते हुए हाथ ही नृत्य की भंगिमाएँ बन जाते हैं। इसी तरह छत कूटती हुई स्त्रियों के हाथ के बैसे तथा सइक बनाती हुई स्त्रियों की पदचारें ही इन अमसाध्य नृत्यों की चालें बन जाती हैं। ये नृत्यमुद्राएँ अमसाध्य क्रियाओं के साथ दूध पानी की तरह इस तरह पुलमिल जाती हैं कि मंह पता नहीं लगता है कि अम कौनसा है और नृत्य कौनसा ? इन्हीं नृत्यों में वे नृत्य भी सम्मिलित हैं,

जो लम्बी यात्रा के द्वासले तो काटने के लिये गीतों की पदचारों के साथ मिलकर स्वतः ही मनुष्य के थंग में समा जाते हैं।

(४) सामाजिक लोकनृत्य – ये लोकनृत्य किसी वर्ग, घर्म, जाति तथा इतिहास से संबंध नहीं रखते। इनका संबंध समस्त समाज तथा राष्ट्र से होता है। वैयक्तिक, भ्रमुरंजनात्मक तथा सांस्कृतिक नृत्यों का विकसित रूप ही सामाजिक नृत्यों का रूप धारणा करता है। जैसे-जैसे वर्णगत भावनाओं से विशाल बनती है, छोटे-छोटे समाज तथा वर्ग संवेदीय भावनाओं से घोटप्रोत होकर विशाल रूप धारणा करते हैं, वैसे-वैसे इन नृत्यों का स्वरूप भी विशाल और प्राचीन बनता जाता है। घनेक वैयक्तिक नृत्य सामाजिक कसीटी पर कम जाते हैं और पारस्परिक प्रभाव से विराट् रूप धारणा कर जाते हैं। इन नृत्यों में समस्त समाज, धोव तथा देश की आत्मा भलकती है। इन नृत्यों के पीछे घनेक वर्षों की साथना निहित रहती है। उनमें समस्त सामाजिक प्रानन्द और समरसता के दर्शन होते हैं। इन नृत्यों की लोकप्रियता, उनके प्रसारक्षण तथा उपभोक्ताओं के विशाल बनसमुदाय को देखकर ही यह पता लगाया जा सकता है कि वह क्षेत्र किन सामाजिक और मानवीय गुणों से घोटप्रोत है। इन नृत्यों के पीछे समस्त समाज का विश्वास, गौरव तथा उसकी आत्मा निहित रहती है। ये नृत्य प्रभारी-प्रधारी, जिजित-धरिजित, जातिपाति, घर्म-संप्रदाय का भेद नहीं जानते। ऐसे नृत्यों में गुजरात का गरवा, राजस्थान का झूमर, पंजाब का भाँगड़ा, बिहार का झूमर, महाराष्ट्र का लावसुी, दिल्ली भारत का कोलठम आदि विशेष उल्लेखनीय है। ये नृत्य सामाजिक तथा राष्ट्रीय परियान, राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय समरसता और भारित्रिक सम्बन्ध के घोटक हैं।

ये नृत्य स्वभाव से सरल, पदचारों एवं भूमिभाषों की हस्ति से संबंधमय, सर्वमान्य तथा सर्वप्राप्त होते हैं। इन्हें सीलने के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। ये नृत्य प्राचीन होते हुए भी आधुनिक हैं, क्योंकि ये सर्वदा ही ताजा रहते हैं।

(५) मनोरञ्जनात्मक लोकनृत्य- लोकगीतों की तरह ही लोकनृत्य जब कुछ विशिष्ट गुणीजनों तथा कलाश्चिनिष्ठ व्यक्तियों की प्रभिमिचि के विषय बन जाते हैं तो उनमें झूँगार, सजाव होने लगता है और उनका सामाजिक तत्व तिरोहित हो जाता है। ये प्रयोक्ता की विशिष्ट प्रभिमिचि के अनुरूप रूपान्तरित होने लगते हैं तथा जे सजाव-झूँगार से चमकत होते हैं। कभी-कभी वे

धर्मने व्यतिशय मनोरंजनात्मक गुणों के कारण कुछ विशिष्ट कलाकारों की प्राचीनिका के लाभन भी बहु जाते हैं। इन निशिष्ट परिस्थितियों में प्रदर्शक कभी-कभी दर्शक बन जाता है। वह सबसे भूत्य करके धारणित होने की अपेक्षा, दूसरों के नृत्य ऐलाकर धारणित होता है। मे विशिष्ट नृत्य दूसरों को धारणित करने के लिये ही विशिष्ट रूपरूप धारणा कर लेते हैं। वे नृत्य व्यवसायिक ही जाने पर लोकनृत्यों के गुणों को इसलिये नहीं लोते कि उनमें लोकनृत्यों की सभी परम्पराएँ फिर भी विद्यमान रहती हैं। व्यवसायिक नृत्यकारों को उनका सजाव-शृंगार करने की छूट है, परन्तु उनकी मूल रूचिमाझों को बदलने का उनकी अधिकार नहीं रहता। उन नृत्यों के मान्य स्तरों में यदि कुछ भी अनन्तर रह जाता है तो दर्शक तुरन्त ही अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करने लगते हैं। राजस्थान के व्यवसायिक भवाई नृत्यकार के सभी नृत्य परम्परापौरित हैं। उनका तंत्र तथा रूपना-वैशिष्ट्य पूर्वनिश्चित होता है। कलाकारों को उनमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की छूट नहीं रहती है। यदि कभी वह वह स्वतंत्रता के भी लेता है तो उसे दर्शकों की भासीना का पात्र बनना पड़ता है।

व्यवसायिक नृत्यकार धर्मने यजमानों को केवल धनुरंजित ही नहीं करता, वह उनके गौरव की रक्षा भी करता है। दर्शकों में स्वानुषःस्वान्त्रय होने की अपेक्षा दूसरों से धनुरंजित होने से जो हीनता की भावना का संचार होता है, उसे मे व्यवसायिक कलाकार काफी मात्रा में दूर करते हैं और धर्मने यजमानों की कलात्मक अभिरुचि का गोरव बढ़ाते हैं। दर्शक-प्रदर्शक की यह परम्परा जो आज भी विद्यमान है, लोकनृत्य की मूल धारामा के धनुरूप ही है, जोकि प्रदर्शकों द्वारा प्रस्तुत किये हुए इन नृत्यों से दर्शक वही धारान्द प्रहृण करता है, जो उसे धारान्द द्वारा प्राप्त होता है। भतः जो दर्शक-प्रदर्शक का भेद है वह इस मरमत के कारण काफी हुद तक कम हो जाता है। इन नृत्यकारों के माध्यम सका पारिवारिक और जातीय सजाव रहता है। वह इन व्यवसायिक नृत्यकारों को नृत्य-धारायी में धर्मचिक इच्छा लेता है और उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन तथा लोपक बदौङ्गत नहीं करता। उन पर वह नदा ही धर्मना आपिष्ठत्य बनाये रखता है।

### लोकनृत्य और परिधान

परिधान तथा धर्मकारों का लोक मनुष्य की स्वामालिक प्रकृति है। मनुष्य धर्मने पर की चाहारदीवारी में बन्द रहता है, तब वह साधारणा कपड़े ही पहिने रहता है, परन्तु वह वह बाहर निकलता है तो उसके लिये परिधान

का महस्त्र बड़ जाता है। लोकनृत्यों में चूंकि वैयक्तिक आनंद की प्रधानता रहती है, अतः वैष्णविन्यास के मामले में नर्तक धर्मिक हवि नहीं लेता। दैनिक पोशाकें ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति करने में पर्याप्त होती है। परं उत्सवों पर जो विशेष पोशाकें पहिनने का रिवाज है, उसके खीले दृश्य का महस्त्र जितना नहीं है उतना उत्सवों के सामाजिक गुणों का है। उत्सवों में सम्मिलित होनेवाले लोग उत्सवों के निमित्त पोशाक परिधान पहिनते हैं, जूँपों के निमित्त नहीं।

कई भौगोलिक और सामाजिक कारण ऐसे भी हैं, जो दृश्यकारों को विशिष्ट पोशाकें पहिनने को बाध्य करते हैं। अत्यधिक शीतप्रदेशों में शीत के कारण लोगों को गम्भीर लबादों में रहना पड़ता है। वे कई बरसों में एक बार नहीं है तथा अधिकतर परों में ही बंद रहते हैं। उनके सामाजिक आनंद के लिए अत्यन्त सीमित होते हैं। अपनी साजीविका के लिये लोती आदि कागों में उन्हें इतना व्यस्त रहता पड़ता है कि जूँपों को साजीविका के साधन बनाने का उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं उठता। भौगोलिक एवं भौतिक अनिवार्यताओं के कारण उनका प्रयोग अच्छी मात्रामें ही होता है। यही कारण है कि जूँपों के ये दुर्लभ आयोजन उनके लिये उत्तम, पर्व के समान हैं। उस प्रवसर पर वे आकर्षक पोशाकें पहिनते हैं और कीमती खेड़वरों से अपने को सजाते हैं।

ऐसे क्षेत्रों में जहाँ नृथ निष्पत्ति का ही अम बन गया है, वहाँ परिधान विशेष महस्त्र नहीं रखता। झूंगार के लिये जंगली फूलों का झूंगार ही पर्याप्त होता है। मध्यप्रदेश के माडिया, मूढ़िया, राजस्थान, गुजरात के भील तथा बिहार के उरांव, संधाल आदि जातियों के नृथों में जंगली फूल, कोडी, पश्चिमों के पंख, पशुओं के सींग आदि का परिधान के रूप में बड़ा मुन्दर उपयोग होता है। इन जातियों के बे नृथ जो मेलों तथा मढ़इयों में नाचे जाते हैं, आदिवासियों की विशिष्ट तथा आकर्षक वैष्णवादों से लिल उठते हैं। इन अवसरों पर जाति के सभी लोग बड़े-बड़े, स्त्री-पुरुष, बाल-नुवक नाचते हैं और अपने इष्टदेवों के प्रति अपनी अङ्गोंवरि अप्रित करते हैं। ये ही अवसर पारस्परिक मेलजाल, वैष्णविक सम्बन्ध तथा पारलारिक प्रेम बढ़ाने के लिये होते हैं। कभी-कभी तो ऐसे प्रसंग नवनुवक और नवनुवतियों के लिये सौन्दर्य प्रतियोगिता के रूप में भी प्रकट होते हैं। आदिम पूरुष और स्त्री अद्वितीय पोशाकों और साज-सज्जाओं से सुसज्जित होकर आते हैं तथा इन नृथों को प्रभावशाली और दर्जनीय बना देते हैं।

इन जातियों के उन नूत्यों में, जो दिनभर के परिव्रम के बाद प्रत्येक गौव में यकान मिटाने के लिये किये जाते हैं, पोशाकों का कोई महस्व ही नहीं है। राजस्थान, मुजरात तथा मध्यप्रदेश के भील भिलालों का ऐसे नूत्य, जो प्रतिदिन यकान मिटाने के लिये किया जाता है, साधारण पोशाकों में ही होता है।

आसाम, नेपाल, हिमाचल प्रदेश, कर्नाटक, मणिपुर तथा नागालैण्ड आदि के नूत्यों की पोशाके बित्तनी आकर्षक होती है उन्हीं कदाचित् देश की किसी जाति की नहीं। ये पोशाके केवल नूत्य के लिये ही पहिनी जाती हैं। दैनिक जीवन में उनका कहीं भी प्रयोग नहीं होता। मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बिहार, बंगल, राजस्थान आदि समतल प्रदेश के विशिष्ट सांस्कारिक नूत्यों में अवश्य ही आकर्षक पोशाके पहिनी जाती हैं, परन्तु दैनिक जीवन की पोशाकों में और उनमें कोई विशेष अंतर नहीं होता। वे तो दैनिक जीवन ही में कूल कौड़ियों के झूँगार से सुसज्जित रहते हैं। परन्तु पहाड़ी प्रदेश की पोशाके नूत्य के समय अस्त्यन्त आकर्षक बन जाती है, क्योंकि ये देश बोतप्रधान देश है। अतः वस्त्र परिधान अंग का आवश्यक अंग बनता है। ये प्रदेश कूली तथा कौड़ियों को इटि से असावप्रस्त देश हैं, इसलिये इनकी शारीरिक सजावट में इनके लहीं दबाने नहीं होते, अतः शरीर के परिचान में वस्त्र तथा पौव और सिर के परिचान में वह तथा हृदिनी का पूर्ण झूँगार रहता है। बोतप्रधान होने के कारण गरम कपड़ों का महस्व भी विशेष है। इसलिये ये लोग कताई-बुनाई तथा कसीदाकारी में अस्त्यन्त प्रवोला होते हैं। यही कारण है कि इनकी वेशभूषा भी अस्त्यन्त आकर्षक होती है। इन पहाड़ी प्रदेशों के नूत्य मौगोलिक कठिनाइयों के कारण ध्यानिक चमत्कारिक नहीं है। ऊवड़-लालड़ रास्तों तथा पहाड़ों के कारण, उन्हें नूत्य के लिये समतल भूमि भी बड़ी मुश्किल से मिलती है, अतः इनके नूत्य अस्त्यन्त इतने चोमे तथा वैदिध्यहीन होते हैं। इसी कारण इस अमाव की पूर्ति के लिये तथा अपने नूत्यों को आकर्षक बनाने के लिमित इन्हें अस्त्यन्त कलात्मक पोशाके और जेवर पहिनने पड़ते हैं।

परिधान, अलंकरण आदि नूत्यों के शारीरिक संचार पर भी आधारित रहते हैं। महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, राजस्थान तथा बिहार के मैदानी शेत्रों के कुछ पुष्पार्धी नूत्यों में पोशाके ध्यानिक कसो हुई, सरले और हल्की होती है, कारण कि ये मूल समुद्री तूफान की तरह चलते हैं और अंग-अस्त्रण की मर्याद उच्चतमूद के कारण पोशाकों में कसावट तथा हल्कापन अस्त्यन्त आवश्यक

है। ऐसे दूकानों नृत्यों में धातु के बने हुए बोमिल भलंकरणों के लिये कही स्थान नहीं रहता है। भयंकर गरम धोत्रों में जहाँ गरमी के कारण कोई वस्त्र शरीर बदांश नहीं करता, वहाँ वस्त्र परिवान की भूतता रहती है और उसकी पूर्ण नृत्यों की रंगीनियों तथा ध्रगभगिमाओं के वैविध्य से की जाती है। ऐसे धोत्रों के नृत्यकार वस्त्र परिवान को जगह छुले बदन के प्राकृतिक शूंगार तथा शरीर के प्रत्यन्त कलात्मक गोदानों को महस्त देते हैं। मध्यवर्ती मध्यप्रदेश के भयंकर गरम और जंगली धोत्रों के आदिवासी कपड़े नहीं पहिनते, परन्तु उनकी जगह फूलों की बेखियों, कोइयों की मालाओं तथा पक्षियों के पंखों से वे धाने प्राप्तकों भलंकृत करते हैं।

हिमाचल प्रदेश की १५००० और १८००० फीट की ऊंचाई पर रहने वाले नर-नारियों को सर्दी से बचने के लिये उन तथा मूल के भारी-भरकम लबादे पहिनने पड़ते हैं। पूरष और स्त्रियों को एक ही तरह के ऊनी तग पापजामे पहिनने होते हैं। पूरष और स्त्रियों की पोशाकों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी मृत्यु की पोशाक भी प्रायः वही होती है। स्त्रियों का सजाव-शूंगार, जो भी होता है वह इन सबादों के ऊपर ही होता है। भरतः वह बहुधा ध्रग का शूंगार न होकर इन लबादों का ही शूंगार होता है, क्योंकि मुँह को छोड़कर शरीर के सब ध्रग-प्रत्यंग कपड़ों से ढके रहते हैं। केवल मुँह ही एक ऐसा प्रत्यंग है, जहाँ भलंकरण के लिए कुछ गुजाइश रहती है। यही कारण है कि इनकी स्त्रियों के कान, नाक को जगहों से छिद्रे रहते हैं और चांदी तथा धन्य धातुओं के भलंकरण से वे नदे रहते हैं।

लोकनृत्यों में मुलविन्यास की कल्पना प्रायः नहीं के बराबर है। अपने मुँह को सफेदी से पोतने तथा धात्वाओं में काजल तथा ओठों पर लाली लगाने की समस्त कल्पना आधुनिक है और उसका सम्बन्ध केवल प्रदर्शन से है। लोकनृत्य प्रायः स्वान्तःमुखाय होते हैं, अतः उनमें दिलाखी की भावना नहीं के बराबर है। अवसान्यिक लोकनृत्यों में भी मुल-शूंगार की प्रवृत्ति लगभग नहीं के बराबर है। साधारणतः काजल-टीकी से अपने को लगाने की जो आपत स्त्रियों में होती है, उसका सम्बन्ध नृत्य से न होकर उसकी नारीमुलभ प्राप्ति से है।

### लोकनृत्य और गीत

लोकनृत्य नृत्यों के प्राय हैं, जो उनके साथ लिपटे रहते हैं। कुछ ही नृत्य ऐसे हैं, जो बिना गीतों के चलते हैं। ऐसे नृत्य लघप्रदान, शारीरिक

कसरतों के नृत्य होते हैं, जो ताल में शारीर के करतब दिलाने माध्य के लिये होते हैं। स्वतंत्र गीत की रचना बिना नृत्य के होती है, परन्तु स्वतंत्र नृत्य की रचना बिना गीत के नहीं होती। मावनाधों के विशिष्ट घण्टों में, जब जनसमूह घिरक उठता है, तो उनके साथ ही कुछ लयप्रधान घुने घड़ात हो में शब्दों का परिधान पहिन लेती है। जब जनसमूह की मावोद्रेक की स्थितियाँ सीधतम होती हैं तो उनका ध्यग-संचालन भी अत्यन्त तीव्रतम होता है और उनके साथ जुहोहुई गुलगुलाहट भी अत्यन्त तीव्रतम घुनों का संचार करती है। ही कुछ अवसाधिक नृत्यों को छोड़कर कोई भी लोकनृत्य ऐसा नहीं, जिसको गीतों का परिधान बाद में पहिनाया जाता हो। गीत नृत्य के साथ ही प्रकट होते हैं, तथा आधुनिक नृत्यों की तरह वे बाद में नहीं जोड़े जाते हैं।

मावोद्रेक के कुछ लाए भी हो सकते हैं, जिनमें रचयिता की गुन-गुलाहट, जो स्वरों के तानेबाने के साथ घड़ात ही में रचयिता के कंठ पर बैठ जाती है, ध्यग-संचालन को भी प्रेरित करती है। भनायास ही ऐसे गुगुलाहट के साथ ध्यग-प्रत्यंग चलने लगते हैं, तथा स्वयं गुगुलाहट को शब्द मिलते हैं। ऐसी असाधारण परिस्थितियाँ असंख्य जनसमूदाय में असंख्य बार उत्पन्न होती हैं, परन्तु बिले ही योग ऐसे होते हैं जो नृत्य-गीतों का रूप बारण करते हैं। इन गीतों तथा गीतनृत्यों के गोषण के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं होने से वे अपनी उत्पत्ति के साथ ही नष्ट भी हो जाते हैं।

यही एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि नृत्य-धारणों के साथ गीतों का समान नहीं होता। ध्यग-संचालन को जिस विशिष्ट भावोद्रेक की आवश्यकता होती है, वह असाधारण उद्भव होता है। धारेग ही धारेग में शरीर का ध्यग-प्रत्यंग फड़क उठता है। उस समय शब्द-संचार की गुंजाइश इसस्थिते नहीं रहती कि वह धारेग तुकानी होता है। शब्दों के उनिक नियोजन-धार्योजन के सिये बोधगम्य धारेग की आवश्यकता रहती है। मह चैतन्य बहुपा विद्यमान नहीं रहता। यही कारण है कि लोकनृत्य की उद्गम-स्थितियाँ असंघत असाधारण और कठिन हैं। अतः यही लोकगीत हजारों में विद्यमान है वही लोक-नृत्य उगलियों पर गिने जा सकते हैं।

लोकनृत्यों के साथ प्रायः वे ही गीत जुड़ते हैं, जिनके नेत्र तथा शारिक गुण बहुधा नहीं के बराबर होते हैं। मावोद्रेक के समय 'बाणी' वा संचार स्वरों के रूप में सर्वप्रथम होता है, उसके बाद शब्दों का योग मिलता है। इनके साथ ध्यग-संचार एक असाधारण स्थिति में होता है, जो दोनों पूर्व की स्थितियों की

चरमसीमा है, जो बहुधा स्वर और शब्द को मारकर प्रागे बड़ जाती है और बाद में सबको संग लेकर समाप्तिस्थ भी हो जाती है। यदि कोई चीज जीवित रह भी जाती है तो वह है अंगों का असंयत संचालन और उसके साथ चलनेवाले सम्प्रधान स्वर सम्मिश्रित शब्द, जो अंग-संचालन को भरने से बचते हैं। यही अंग-संचालन बाद में संयत रूप प्रारूप करता है। उसके साथ जो भीत जूँ जाता है, वह केवल लय के क्षय में जीवित रहता है। उसके शब्दों में कोई ताक़त नहीं रहती। शब्द और स्वर दोनों ही नृत्य को पुष्ट करते हैं। ये नृत्य धीरें-धीरे व्यक्ति से समर्पित होते हैं और सामाजिक स्वर प्राप्त करते हैं।

नृत्यों के साथ प्रयुक्त होनेवाले गीत, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, नृत्यों के साथ ही जन्म लेते हैं, अतः उनमें गीतों की प्रवानता रहती है। गीतों के साथ अंगभंगिमाएं जुड़ी रहने के कारण गीतों की स्वर-संबन्धाएं अस्पन्न सरल तथा लय अस्पन्न पुष्ट रहती हैं। पुष्ट लय के प्राप्तार पर ही अंगभंगिमाओं का लालित्य निर्भर है। इन गीतों का आनन्दिक कलेक्टर बहुधा महत्वहीन होता है। उनके बाणेनाटक प्रयंग, जो बहुधा भावाभिव्यक्तिहीन होते हैं, नृत्यों की लय और भंगिमाओं को प्रवानता देते हैं। ये गीत इन नृत्यों के साथ आजीवन जुड़े रहते हैं। इनका पारस्परिक भावासमक सम्बन्ध होता है, अतः इनके जोड़तोड़ से भारी नुकसान की आशंका रहती है। इन गीतों के सब्द-कलेक्टर से नृत्यों की भंगिमाओं का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। गीत केवल नृत्यों की गरिमा एवं उनके सामाजिक तथा संगठनात्मक तरफों की मदद करते हैं। यदि गीत बन्द हो जायें तो स्वभावतः नृत्य भी बन्द हो जाते हैं।

कुछ नृत्य ऐसे होते हैं, जो गीतों के साथ जन्म नहीं लेते। वे किसी सम्बिलेश पर आधारित रहते हैं। इन नृत्यों के उद्गम में प्राकृतिक घटनियों तथा जलप्रपातों की सम्प्रधान चपेटों, बादलों के गर्जन तथा तृक़ानी घटनियों का बड़ा हाथ रहता है। निरंतर ही इन आवाजों को मूलते हुए मनुष्य के शंख फड़कने लगते हैं और बास-बार इन किया-प्रक्रियाओं से ये भंगिमाएं शरीर में रुक हो जाती हैं। मनुष्य आनन्दिकाल से इन घटनियों पर आनन्दोलित होता थाया है। ये ही भंगिमाएं उनके लोकन की अज्ञात प्रेरणा बन जाती हैं। उनका स्थापित्व नहीं होता, क्योंकि ये जाती हैं और नष्ट हो जाती हैं। ये प्रेरणाएं मूरुंक्षय तब प्रारूप करती हैं, जब उनके अनुकूल हो उन्हें किसी सम्प

माध्यम से लय प्राप्त होती है। ऐसे किसी ढील की लय पर अनायास ही पद-संचार होता तथा ग्रंथों का फ़ाइना। इस तरह ढील, ढीलक, झटक, नपकाएँ आदि की प्रेरणादायी चोटों पर मनुष्य की परम्परागत तथा अनुभवगत भगिमाएँ स्वरूप आरण्य करती जाती हैं। इन साथों जी लयप्रधान चोटें ही भगिमाओं की वैविध्य की ओर प्रवृत्त करती हैं। इन भगिमाओं के साथ गीतों की संगति इसलिये आवश्यक नहीं होती कि इन बातों द्वारा निकली हुई लय ही गीतों का काम करती है। ऐसे नृत्य अत्यंत प्रेरणादायी ओर घोषपूर्ण होते हैं।

### लोकनृत्य और भगिमाएँ

लोकनृत्यों की समस्त भगिमाएँ स्वान्तःसुखाय, सखारी, सहव तथा कल्पनासंगत और उल्लासकारी होती हैं। नावोद्रेक से उद्भूत भगिमाएँ धोर-धोरे प्रम्पास, प्रचार, प्रसाइ तथा सामाजिक संपर्क से प्राप्त होती जाती हैं और पूर्णरूप से विकसित होकर रुढ़ सी हो जाती है। ये भगिमाएँ लोकगीतों की स्वर-रचना की तरह ही सामाजिक घरोहर बनकर समस्त समाज की स्नेह-भाजन बनती हैं। रुढ़ भगिमाओं का कोई निर्धारित अर्थ नहीं होता। अर्थ यदि है तो उनके साथ जुही हुई युनों तथा लय के विविध प्रकारों के साथ बद्ध हुया होता है। इन भगिमाओं का गृह अर्थ नृत्य की आत्मा के साथ जुहा हुया होता है। लोकाधार प्राप्त करने के बाद तथा समाज की रीतिनीतियों तथा संस्कारों को आत्मसात् करने के उपरान्त इन नृत्यों में किसी प्रकार का सांत्रिक परिवर्तन असंगत होता है। यही कारण है कि मुजरात के गरबे एवं राजस्थान के पूर्मरनृत्यों में ज्ञेशीय अंतर के उपरान्त उनका मूल स्वरूप प्राप्त एक सा ही होता है।

गाहवीय नृत्यों की तरह लोकनृत्यों की मुद्राएँ पूर्वनिश्चित नहीं होती, न उनकी मुद्राओं का कोई जाट ही होता है। प्रेरणामूलक जो भी भगिमाएँ उनके साथ रुढ़ हो गई है उनका कोई अर्थ नहीं है। लोकनृत्यों में गीतों के अर्थों को मुद्राओं के माध्यम से उन्नयने की भी कोई परम्परा नहीं है। उनमें नृत्यनाट्यों के अठिरिक्त अभिनय या अभिनयात्मक तात्पर्य प्रकट करने का कोई प्रचलन नहीं है, न उनका गीतों के अर्थों से ही कोई तात्त्वाचिक या अंतरात्मक सम्बन्ध होता है। लोकगीतों के नृत्यनाट्यों में जहाँ भी संवादी शीतनृत्य है, वहाँ भी अंग-संचालन गीतों के आधार पर प्रेरणामूलक मुद्राओं तथा अंगभगिमाओं के माध्यम से होता है, परन्तु लोकनृत्यों के गीतों के साथ अंग की

मुद्राएं तथा पदचारों लय के साथ अपने वधे हुए कम में पुनरावृत्ति रहती है। गीत भी यथाव गति से उनके साथ चलता ही रहता है। प्रयोक्ताओं को यह भी भास नहीं रहता कि वे नाच के साथ गा भी रहे हैं। वे दोनों चीजें जुड़ी हुई होते हुए भी एक दूसरे से अलग ही हैं।

लोकनृत्यों की भंगभिमाओं में हाथ, कंधे, कठि, धोवा तथा पद-संचालन की प्रधानता रहती है। हेतुली की कारीगरी तथा उंगलियों की बारीकियों उनमें नहीं होती। नयन, मृकुटि, धोवा, ठुड़ी, कलई-आदि के संचालन से लोकनृत्य अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता। सहजगति से ताल-स्वर पर चलते वाले गे अंग-प्रत्यंग मूर्ख की शोभा में हाथ बैठाते हैं। लोकनृत्यों को पदचारों भी सरल और सहज होती है। उनमें चाल तथा लय का वैविध्य अवश्य होता है, परन्तु जो नृत्यकारों को विलष्टताओं में नहीं उतारती। गीत गाते हुए सहज गति से जो पद-संचालन होता है उसका ही निभाव लोकनृत्यों में ही सकता है। कभी-कभी तो लोकनृत्यों की बण्डुक सहज गति से ही इतनी प्यारी बन पड़ती है कि उल्लास ही उल्लास में नृत्यकार अनेक कठिन पदचारों की सृष्टि करता है।

लोकनृत्यों में भंगभिमाओं की विविधता उनकी उल्लासकारी प्रकृति पर आधारित रहती है। यदि गीतों की लय में और उनकी रचना में प्रेरणा-मूलक गुण हैं तो निष्कर्ष ही अंगों का संचालन भी उनके साथ प्रेरणामूलक होता है। यदि लय ही मृतप्राप्य और प्रेरणाहीन है तो पद-संचालन के प्रतिरिक्ष मुद्राओं का बही कोई विशेष सालित्य दृष्टिगत नहीं होता है। गीतों की स्वर-रचना में यदि प्रेरक तथा मनोभूमिकारी गुण हैं तो नृत्यकारों का भी उन्हें सहज संपोग मिल जाता है। ये स्वर-रचनाएं जो मूल में किसी विशेष भावोद्भेद की स्थिति में ही होती हैं, रचयिता की उल्लासकारी मनःस्थिति की ही ओतक होती है। ये ही मनःस्थितियाँ उनके साथ जुड़ी हुई अंगभिमाओं में भी स्वर-रचना की तरह ही व्यक्त होती है। उनका समस्त वैविध्य स्वर-रचना और उनमें निहित लय के वैविध्य पर निर्भर करता है, जो समाजीकरण की प्रक्रिया से असंक्षय करनामों और उल्लासकारी रचनाओं को अपने में निहित बरके स्वरूप ही परिपुष्ट होता रहता है।

### आदिवासियों के लोकनृत्य

आदिवासियों के नृत्य यथागि लोकनृत्यों की ऐसी में ही आते हैं, परन्तु कई कारणों से उनका पृथक् वर्गीकरण आवश्यक है। इन कुछ वर्गों में लोक-नृत्यों से सम्बन्धित गैंडानिटक भास की कमों के कारण आदिवासियों के नृत्य

ही लोकनृत्य समझे जाते हैं। आदिम लोकनृत्यों के पीछे एक विशिष्ट भावना है। उसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

आदिवासी के ही है, जो अपने रहनसहन, जैवनृथा, आचारविचार, रस्मरिवाज तथा धार्मिक और सामाजिक भावनाओं में आदिम है, अबवा जिन्होंने आदिम भावना की कई विशेषताओं को भाज की सम्बता से बचाकर सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि आदिवासी, जो किसी समय भारतवर्ष के आदिवासी में, धीरे-धीरे अपने को बाहरी प्राक्कर्मणकारियों के प्रभाव से बचाने के लिये आठियों और जगलों में जाते थे। इसलिये भाज के भील, गोड, कोरकू, बेगा, मूँडिया, उरांव, संधाल, नागा आदि जातियां पहाड़ों और घाटियों में ही निवास करती हैं। इनमें से कुछ पर सम्बता का कम और कुछ पर अधिक प्रभाव धरकर पड़ा है, परन्तु फिर भी वे आदिमजातियों के मूल तत्त्वों को भाज भी बचाये हुए हैं। इन सभी आदिम जातियों में, जाहे दे भरवलों और विश्वाचत की पहाड़ियों में रहनेवाली होती है, जाहे भासाम की पहाड़ियों में, जाहे नीलगिरि के निवासी होते हैं, मूल मानवीय तत्त्वों (आकृति के भलावा) में समानता है। उनकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—(१) खुलों हवा के ब्रेमी तथा प्रकृति से अधिक निकट रहने के अन्यतर। (२) दैनिक मानवीय आवश्यकताओं से दूर और आजीविका के सम्बन्ध में प्रकृति पर अधिक निर्भर। (३) बस्त्राभूषण के मामले में भी प्रकृति के निकट और प्राकृतिक अलंकरण के रूप में ही अपने स्वरूप के अलंकरण की रचना। (४) अत्यन्त सरल और मौलिक सामाजिक संगठन, जिसमें प्राप्तुनिक सम्बता की जटिलताओं की कमी। (५) वैयक्तिक कोटुम्बिक जीवन और स्वतंत्र एवं दीला वैवाहिक सम्बन्ध, मूल आदिवासियों की तरह ही। (६) नृत्यगीत के शोकोन। (७) मौलिक प्रसाधनों की पूजा, धार्मिक विश्वासों में प्राप्तमिकता और जटिलता की कमी। (८) मौलिक प्राकृतिक शक्ति पर संघरण। (९) दुर्ज, सुख तथा अन्य मानवीय भावनाओं के संबंध में अत्यन्त अवहारिक और निरासकत।

आदिमजातियों के ये गुण न केवल भारत ही की आदिमजातियों में पाये जाते हैं, बरन् संसार की सभी आदिमजातियों के भी प्रायः ये ही प्राप्तमिक मुण्ठ हैं।

यह भी स्वयंसिद्ध बात है कि किसी भी जातिविशेष के लोकनृत्यों में उस जाति की सामाजिक और धार्मिक विशेषता के पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

आदिवासियों के लोकनृत्यों में भी उन विशेषताओं की पूर्ण भलक है। यही कारण है कि समस्त संसार के आदिवासियों के नृत्यों की ये विशेषताएँ हैं—

- (१) अत्यंत औजपूर्ण, शक्तिशाली अंगभंगिमाओं और लय-ताल की हाथिये से अत्यंत सरल और सुगम।
- (२) कठारवद्ध, गोलाकार तथा छौकीर और अर्ध-गोलाकार कठारों में संगठन और अंगभंगिमाओं के गठन में अत्यन्त चपल और चुस्त।
- (३) अधिकतर मिथित नृत्य, स्त्री पुरुषों की भावात्मक प्रतिक्रियाएँ, नृत्य के संग नाचते हुए भी अत्यन्त स्वस्व और स्वाभाविक।
- (४) नृत्यों के साथ चलनेवाले गीतों तथा इवनियों में सरलता, एक-रूपता तथा एकरसता। कमी-कमी साड़ों का भूक प्रदोश, उनका दिलावा अत्यधिक प्राकर्षक, परम्परा बादन अत्यन्त सरल और प्राथमिक।
- (५) नृत्यों के साथ चलनेवाले गीतों में शब्दों से अधिक इवनि का प्राधान्य तथा अधिकतर गूँज पैदा करनेवाले स्वर।
- (६) सामाजिक नृत्य, कथानृत्यों का नितान्त अभाव।
- (७) प्राकर्षक अलंकरण तथा प्राकृतिक पोशाक।

ये गुण लगभग सभी आदिम जातियों के नृत्यों में कुछ कम-ज्यादा अनु-पात्र में पाये जाते हैं। उन पर अन्य स्थानीय विशेषताएँ तो ही हों, किरंभी इन नृत्यों में पुरातन परिषिठी और परम्परा का बड़ा प्रभाव है। उनमें आधुनिक जीवनों, बनाव, सजाव, शून्यार उनके गुणों को कम कर देते हैं। इनके नृत्यों में सहज संचालन का ही प्राधान्य रहता है। यही कारण है कि समस्त भारतवर्ष के आदिमनृत्यों की अपनी अवग अद्भुती है। उन्हें अन्य लोकनृत्यों की अणी में ढालना उचित नहीं।

### नृत्यों एवं नृत्यनाट्यों को लोकशैली का व्यवसायोकरण

पिछले परिच्छेद में यह दर्शाया गया है कि किसी भी विजिष्ट परिस्थिति में अननन्द का प्रतिरेक हीता है तो हृषय में इकुरण तथा अंगों का संचालन हीना अत्यन्त स्वाभाविक है और जब यह प्रक्रिया कोई सामूहिक रूप धारण कर लेती है तो वह अधिक समय तक टिक कर जलसूचि का विषय बन जाती

है। इस परिस्थिति के साथ कोई विशेष मंतव्य, समारोह या विश्वास उड़ जाता है तो इस लगबद्द क्रियाओं की पुनरावृत्ति होने लगती है और अनेक वैयक्तिक प्रतिमाओं के सम्मिश्रण से वे एक बहुद आमन्ददायी नृत्य का रूप आरण कर जाती हैं।

इस प्रक्रिया के अनेक रूप प्रकट होते हैं। कभी वह प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारणों से सामूहिक धानन्द का प्रतीक बन जाती है। कभी विसी सामिक तथा परमारागत पर्व के साथ जु़ुकर वह सामाजिक घटनाओं में बदल जाती है और कभी दैनिक एवं पारिवारिक जीवन के विसी विशिष्ट प्रमुखानिक घटवस्तु पर समस्त परिवार के धानन्द और विश्वास की अभिव्यक्ति बन जाती है। ये प्रक्रियाएँ बहुत्रा आदिमजातियों के जीवन में अधिक उभार जाती हैं, परन्तु अन्यत्र लोकजीवन में भी उनके नामा स्वरूप उपित्त होते हैं।

### लोकगौली के व्यवसायीकरण की पृष्ठभूमि

इस सामूहिक धानन्द का स्फुरण लोकजीवन में आगिक अभिव्यक्ति से कहीं अधिक तथा की अभिव्यक्ति में प्रकट होता है और वह धानन्द नानाप्रकार के गीतों को जन्म देता है। ये गीतनृत्य प्रारम्भ में केवल धानन्द ही की अभिव्यक्ति के क्षण में प्रकट होते हैं, बाद में आधोजन, नियोजन तथा सामाजिक प्रतिमा के जोड़तोहर से उनमें कलात्मक निलार जाता है और वे विशिष्ट त्योहार, एवं तथा समारोहों की जीभा बन जाते हैं। यीत नृत्यों की यह अनूठी गंगा तरवे समय तक बहते, घिसते तथा अवहृत होते होते अपनी विशुद्ध धानंदोंदेक की सीभा छोड़कर प्रदर्शनात्मक गुण पकड़ जाती है और आगे जाकर धीरे-धीरे व्यवसायिक कला में परिवर्तित हो जाती है। व्यवसायिक लोकगौल-नृत्यों का यह विशिष्ट प्रकार आदिमकला और सामुदायिक लोककला की सीधरों सीधी है, जो अपनी समस्त प्रेरणाएँ अपने पूर्व के दो स्वरूपों से प्राप्त करती है। आदिमकला विशुद्ध स्वान्तःसुलाय माधोंदेकमयी कला है और उसी दायरे में बढ़ती, पनपती तथा संचरित होती है, परन्तु सामुदायिक लोककला, जिसका उपयोग अन्य दामोदर जातियों करती है तथा जिसकी व्यंजनाएँ अधिक आपक और वैविष्यपूर्ण होती हैं, सीभाओं को नहीं मानती और नित-प्रति अपनी कला-सामग्री की अभिवृद्धि में नवीन रस-लोक की ओर उन्मुख रहती है। यही सामुदायिक लोककला अपने सामुदायिक रूप से बाहर निकल कर कुछ विशिष्ट कलाकार एवं कलाश्ल की प्रतिमा के साथ उड़ जाती है और सभाज के प्रबल भगोरजन की साधन बन जाती है।

आदिम जीवन में नृत्य के अवसायीकरण तथा प्रदर्शनीकरण की कल्पना ही अत्यंत हेय कल्पना है, क्योंकि कोई भी आदिवासी अपने आनन्द के लिये दूसरों पर निर्भर रहता पसंद नहीं करता। वह आनन्द स्वयं प्रकट करता है और उसके साथ संस्कारण चुड़ जाता है, परन्तु अन्य आमदासी अनेक सामाजिक परिस्थितियों के कारण बहुधा इस सहज और अत्यंत स्वाभाविक प्रक्रिया से कठरता है, जिसके फलस्वरूप वह आनन्दप्रदायन का काम कुछ अवसायिक जातियों स्वयं उठा लेती है। ये विशिष्टजन अपनी विशिष्ट कलात्मक प्रतिभा से कुछ प्रचलित नृत्यगीतों को अत्यंत रंगीन एवं चमत्कारिक बनाकर पेश करते हैं।

आनन्दाभिव्यक्ति में गायत्र ही ऐसी प्रक्रिया है, जो आदिम जीवन, लोक-जीवन तथा शहरी जीवन में कोई फक़ नहीं देखती और कहीं न कहीं उसका प्रकाटीकरण किसी न किसी रूप में होता ही है। इस प्रक्रिया को सामाजिक हीनता का गिकार तब तक नहीं होना पड़ता, जब तक वह केवल आत्मानन्द तक ही सीमित रहे। जब वह अवसाय या विशिष्ट प्रदर्शनात्मक तत्त्वों से घिर जाती है तो विश्वम् ही उसका दायरा छोटा हो जाता है। आदिमजीवन में तो इसका कोई भी भय नहीं है, क्योंकि वही सामाजिक बंधन है ही नहीं। वहीं तो गीत ही क्या स्वयं नृत्य भी सामाजिक गीरव का प्रतीक होता है। दोनों गेय प्रक्रियाओं में इनना फक़ अवश्य है कि आदिम-गेय प्रभिव्यक्ति में गीतों की रंगीनियाँ कम होती हैं तथा विषय, शब्द तथा स्वर का वैविध्य ग्राह्यः नहीं होता। जबकि अन्य लौकिक गेय प्रभिव्यक्ति में इनका बहुत ही मुख्दर विस्तार होता है। यही बात नूत्नों के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

नृत्य एवं गीतों को इन विविध प्रक्रियाओं को नाना स्वरूप तथा स्तर पकड़ते हुए सहस्रों वर्ष बीत गये हैं और जैसे-जैसे समाज का विकास होता है तथा अपनी विशुद्ध भावात्मक पक्ष से बाहर निकलकर वे बौद्धिक तत्त्वों का सहारा पकड़ती हैं, जैसे-जैसे इनका स्वरूप भी बदलता रहता है। साज तो नृत्यगीतों की अनेक व्येरियाँ बन गई हैं। कहीं वे केवल आनन्द की अभिव्यक्ति के माध्यम बन गये हैं। कहीं वे जीवन के अनुष्ठान के रूप में नज़र आते हैं। कहीं वे केवल कलात्मक रह गये हैं। कहीं वे जास्तीय कला के समक्ष आगये हैं तो कहीं वे स्वयं शास्त्रीय बन गये हैं। अतः जाज नृत्यगीत निश्चित केवल आनन्दोद्देशीक तक ही नहीं रही है। स्वयं आदिमजातियों भी सभ्यता की नवीन

राशनी देखकर वही तेजी से अपनी नृत्यमीत-परस्परा को छो रही है। लोकबीवन में तो नृत्य केवल कुछ अनुष्ठानों तथा त्योहारों तक ही सीमित रह गया है और वह भी अपने सामूहिक तथा सामुदायिक रूप में नहीं।

इसी सामाजिक हीमता के कारण नृत्यमीतों का वही तेजी से अवसायीकरण होने लगा है। जास्तीय कला तो अवसाय पर आधारित है ही और वही उसके विकास का माध्यम भी है, परन्तु सोकनृत्य में भी यह प्रक्रिया संधिक से अधिक बलवती बनती जा रही है। आज यदि विशुद्ध सामुदायिक एवं आनन्दप्रद नृत्य देखना है तो वह केवल आदिमक्षेत्रों में ही देखा जा सकता है। लौकिक जीवन में केवल उसकी कहीं-कहीं भौकियाँ ही प्राप्त होती हैं। यहाँ जीवन में प्राप्त उसका लोप ही हो गया है। ये विशिष्ट कलाजातियों अपने अवसायिक नृत्य एवं नृत्यनाट्यों से समाज के विशिष्ट तत्त्वों को पारिष्ठायिक लेकर भनोर्जित करती हैं।

इस विशिष्ट प्रक्रिया के कारण हमें प्राप्त सोकनृत्यों को इस पृथक्खूमि में देखने की आवश्यकता नहीं है। इसी विशिष्ट परिस्थिति के कारण आज सामुदायिक सोकनृत्य आदिम सोकनृत्यों के रूप में ही देखने को मिलते हैं। अन्य जातियों के सामुदायिक सोकनृत्य कुछ ही अवसरों पर देखे जा सकते हैं। मेराजीय नृत्य राजस्वान में होती तथा मणिमोर के अवसर पर, घूमर, घूमरा, गीढ़ के रूप में, अमम में शादी-विवाह के अवसर पर हिं-बजनाई, बैसाहू, बोह यादि के रूप में, पंजाब में कातिक एवं बैसाली के अवसर पर भांगड़ा तथा गिरा के रूप में, झजभूमि में होती या जैती के भीड़ के पर नामाप्रकार के रास तथा फाग के रूप में, महाराष्ट्र में जन्मावद्यमी के अवसर पर वही कला तथा गणपति उत्सव पर लेडिम नृत्य के रूप में, घांभ-प्रदेश में दशहरा के अवसर पर दंडारिया नृत्य के रूप में, मणिपुर में बंसत के अवसर पर राजत एवं घंबल चुंबी के रूप में तथा मणिप्रदेश के आदिम-क्षेत्रों में विविष पवं, उत्तरांशी पर हीनेवाले कमाँ एवं डमकव नृत्यों के रूप में भली प्रकार देखे जा सकते हैं। इनके प्रत्यावाजीवन के दैनिक प्रसंगों में तो इनका प्राप्त लोप ही हो गया है।

आदिमनृत्यों को शोषकर अन्य जातियों के सामुदायिक लौकनृत्यों में भी तद्धा निम्नवर्गों या अमवर्गीय जातियों की भाग लेती है। उच्च-वर्गीय जातियों में तो नृत्य आज केवल अनुष्ठानिक रूप में चित्रका रह गया है। ऐसे राजस्वान की घूमर जो विशिष्ट पवं पर उच्चवर्गीय स्त्रियों द्वारा

मी नाची जाती है और बिसमें केवल धोपचारिकता के अनावा विशेष कला नहीं है। यही धूमर जब राजस्थान की अवसाधिक जातियों की स्थियों जैसे डोलन, पातुरन, सरगड़िन, दरोगन आदि नाचती हैं तो उसमें नानाप्रकार की रंगीनियों एवं नृत्यरचनात्मक (Choreographical) सामग्री के दर्शन होते हैं। इसी तरह दशहरा, दिवाली के प्रवसर पर मुजरात की ग्रायः सभी वर्ग की स्थियाँ गरबा या डोलिया रास करती हैं, परन्तु अवसाधिक या निम्नवर्गीय जातियों द्वारा किये हुए गरबे प्रत्येक उच्चवर्गीय या केवल धोपचारिक रूप से किये हुए नृत्यों से कहीं अधिक रंगीन एवं वैविध्यपूर्ण होते हैं। राजस्थान में भी होली के प्रवसर पर गेर नामक नृत्य सामुदायिक रूप से अनेक जातियोंद्वारा किया जाता है। स्वातःमुखाय एवं विशाल समुदाय द्वारा एक ही साथ होने के कारण यह नृत्य प्रत्यन्त भरल होता है। डोल या नवकाड़े की तय पर जन-समुदाय गोलाकार चलते हुए घपने वालों को आपस में टकराता है। उसमें कहीं विशेष रंगीली या दर्शनीय सामग्री नहीं होती। यही नृत्य राजस्थान के गोलावाटी द्वेष में गोड़ के रूप में बदल जाता है। वहीं के प्रत्येक गाँव और गहर में स्वस्य प्रतिस्पर्धा के रूप में इस नृत्य ने बड़ी महिमा प्राप्त करली है। इसमें सगमग सभी वर्ग के लोग भाग लेते हैं, तथा वह एक सावंतविक अनुष्ठान के रूप में विकसित हुआ है। गोलावाटी का एक अन्य अनुष्ठानिक नृत्य धोकचारिनी भी है जो गोलाचतुर्भुज के दिन एक विशाल सामुदायिक जलूस के रूप में प्रकट होता है। कुछ अनुष्ठानिक नृत्य ऐसे भी हैं, जो न केवल निम्नवर्गीय जातियों के साथ ही बल्कि उच्चवर्गीय जातियों के साथ भी जुड़े हुए हैं, जिनके बिना कोई भी विशिष्ट प्रसंग सम्बन्ध हुआ नहीं समझा जा सकता। राजस्थान की उच्चवर्गीय जातियों में जब विवाह-उत्सव के प्रवसर पर बिनायक पूजा का प्रसंग आता है तो कुम्हार के घर से समारोह के साथ कलश लाने होते हैं। उससे पूर्व कुम्हार के चाक की पूजा करते समय किसी भी प्रतिष्ठित नहिला को नाचना प्रावश्यक होता है। उस नृत्य में यद्यपि कला के कहीं दर्शन नहीं होते, परन्तु वह नृत्य एक तरह से उस प्रसंग का बहुत ही महत्वपूर्ण अनुष्ठान बन गया है। राजस्थान की कुछ जातियों में जब दूल्हा, दुलहिन को लेकर समारोहपूर्वक घर आता है, तो दूल्हे की काढ़ी को राले घर नाचते हुए जाना वहता है। इस प्रकार के अनेक अनुष्ठानिक प्रसंग हैं जिनके साथ मृत्यु आज भी विपक्षा हुआ रह गया है।

नृत्यों के ऐसे अनुष्ठानिक प्रसंग एक नहीं अनेक हैं। भेवाड़भूमि के प्रसिद्ध नारमुजा के मंदिर में जब भादों की देवमूलनी एकादशी का वृहद् मेला

लगता है तो मुक्त भविर में भावेष्वरी जाति के उच्चवर्गीय पुरुषों को सामूहिक क्षम से बढ़ो नाचना होता है । इसी प्रकार राजस्थान के जैन भविरों में संवर्सरी पर्व पर देश युद्ध के बड़े-बड़े व्योपद्ध एवं प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्तियों को नाचना धनिकायं होता है । इस प्रकार के अनुष्ठानिक प्रसंग-तो लगभग सभी राज्यों में सभी उच्चवर्गीय जनसमुदाय में आज भी इष्टियत हो सकते हैं, परन्तु उनका धन्य स्वान्तःमुख्य सामुदायिक स्वरूप जो जीवन का धर्म बन गया है, बहुत ही कम देखने की मिलता है ।

### लोकनृत्यों का व्यवसायीकरण

पिछले १०० वर्षों में लोकनृत्यों को व्यवसायिक बनाने की प्रवृत्ति लगभग शारे ही देश में चल पड़ी है । यद्य प्रथिकार्ण सामुदायिक लोकनृत्य सामुदायिक न रक्कार व्यवसायिक स्वरूप पकड़ रहे हैं । इस प्रक्रिया के पीछे तत्त्वों में देश का वर्तमान स्थिरोत्तीकरण, समाज को आकान्त करनेवाली प्राचिक एवं सामाजिक समस्याएं तथा जीवन को नीरस एवं कुशित करनेवाले बोट्टिक तत्व विशेष उल्लेखनीय हैं । जीवन में परम्परागत निष्ठा, विश्वास तथा किसी विशिष्ट व्यक्ति, विचार एवं जनित के प्रति प्रतार्किक आनंद के धर्मात्र में भी मनुष्य ने अपने मावात्प्रक तत्त्वों को लो दिया है, तथा ऐसी सब परम्पराओं को लाया दिया है, जिनके साथ तृतीय, चार्न, नाट्य आदि प्राचुर विश्वास के क्षम में जुड़े हुए थे । इसलिये भी ये यद्य प्रतिक्रिया योग नहीं रहे । परं इस युग में केवल बाह्य मायथम से मनोरंजित होने की प्रक्रिया दिन व दिन जोर पकड़ती जारही है और स्वान्तःमुख्य एवं स्वरचित मनोरंजन की प्रक्रिया लुप्तप्राय भी हो रही है । दिन भर के अवसर एवं चिन्ताप्रस्त जीवन के लिये केवल कुछ सबं करके मनोरंजनशुद्ध में जाकर अपना मन बहुताव करना ही पर्याप्त समझा जारहा है और मनोरंजनात्मक क्रियाओं में स्वयं निरत होना फैशन से बाहर हो गया है ।

यही कारण है कि शहरों में विस तरह मिलेभा तथा नाटकघरों की संख्या बढ़ रही है, उसी तरह गाँवों में भी व्यवसायिक मनोरंजन की प्रक्रिया दिन व दिन जोर पकड़ती जारही है । पहले गाँवों में स्वयं नाटक रचकर उसे एक सामुदायिक क्षम में लेजाने की आदत थी, जह प्रायः लुप्तप्राय भी हो रही है और व्यवसायिक नाटक भवसियों ने उनका स्थान प्रहरण कर लिया है । इसी तरह संवेद नाम गा कर मनोरंजित होने की आदत कम पड़

रही है और व्यवसायिक नाज करनेवाली जातियों की अभिवृद्धि हो रही है। किन्हीं-किन्हीं गांवों में भगोरजन के आधुनिक हंग भी ग़स्ती चलचित्रों के रूप में प्रवेश पाने लगे हैं। आदिवासी स्वयं भी आधुनीकरण की बकाबौध में अपने स्वान्तःसुलाय सामुदायिक मनोरंजन को खो रहे हैं।

अब प्रश्न यह है कि क्या मनोरंजन की लोक परम्पराएँ व्यवसायीकरण के मुग में जीवित रह सकती हैं? इसका उत्तर केवल इस तथ्य से ही निल सकता है कि यह व्यवसायीकरण की परम्परा केवल इसी मुग को देन नहीं है, बल्कि प्रमादिकाल से ही सामुदायिक कलाओं का व्यवसायीकरण होता आ रहा है। जास्त्रीय कलाएँ भी एक प्रकार से लोककला के व्यवसायीकरण को ही स्वरूप हैं। यद्यपि दोनों में तात्त्विक हास्टि से काफ़ी अन्तर है। व्यवसायिक लोककलाओं में लोककला के प्रायः सभी तत्त्व विचारान हैं। परन्तु जास्त्रीय कला में लोककला के कोई तत्त्व विचारान नहीं है। सामुदायिक लोककलाएँ किस तरह व्यवसायिक रूप घारणा करती हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मधुरा शैली की व्यवसायिक रामलीला है। यही स्थिति उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं की है। मन्दिरों में होनेवाले नाना प्रकार के कीर्तनों के साथ प्रस्तुत की जानेवाली नगवान् की नाना प्रकार की झाँकियाँ धीरे-धीरे व्यवसायिक रासलीलाओं में परिणत हुईं जिन्हें रामधारिये गीव-गीव, नगर-नगर जिये किरते हैं। यही हाल बंगाल और बिहार की जाताओं का है। भक्त यात्रियों के बड़े-बड़े दस नाचते, गाते तथा नाना प्रकार की लोलाएँ करते हुए एक स्थल से दूसरे स्थल को यात्रा के रूप में जाते थे। यही प्रक्रिया धीरे-धीरे विशिष्ट नाट्य-शैली का रूप घारणा करती गई और कालान्तर में व्यवसायिक जाता में बदल गई।

यही रूपान्तर मणिपुर के लोकधर्मों सामुदायिक नृत्य में भी हुआ और कहीं-कहीं तो उसने विशिष्ट जास्त्रीय रूप पकड़ लिया है। विशिष्ट भारत की कलाकली, यज्ञवान, कुचमुड़ी तथा दृश्य-परम्पराओं के संबंध में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है। राजस्थान के तो प्रायः सभी लोकनाट्य तथा धर्मिकांश लोकनृत्य आज अपने सामुदायिक रूप को छोड़कर अपने व्यवसायिक स्वरूप में आगये हैं। राजस्थान और गुजरात की भवाई कला अपने लोकधर्मों सामुदायिक स्वरूप को छोड़कर विशिष्ट व्यवसायिक कला का रूप घारणा कर जास्त्रीय कला का भान करती है।

### लोकशैली के व्यवसायीकरण में दिशानिर्देश

लोककला के सामुदायिक तथा स्वामतःसुखाय स्वरूप ही को लोककला मानने का उक्त यद्य प्रधिक समय तक हमारे देश में मात्र नहीं हो सकता, क्योंकि कुछ प्रनुष्ठानिक प्रवर्तनों तथा आदिम जीवन के कुछ प्रसंगों को होड़कर लोककला का सामुदायिक स्वरूप हमारे देश में जोश नहीं रह गया है। जो भी आज जोश है, उसमें व्यवसायिक लोककला की ही प्रधानता है। अतः यह अत्यंत विचारणीय प्राप्ति है कि क्या इस व्यवसायीकरण को किसी दिशा-निर्देश तथा नियोजन-यायोजन की आवश्यकता है, जिससे लोककला का यही स्वरूप अल्पाएँ रह सके और उसको जीवन की इन परिवर्तित स्थितियों में बदलाव मिल सके। यह भी लोकना अनुचित नहीं होगा कि व्यवसायिक लोककला के इस बदले हुए व्यवसायिक तथा प्रदर्शनीय पक्ष को आज सर्वाधिक प्रधाय मिल रहा है। किसी भी सार्वजनिक समारोह में, जहाँ वह सामाजिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर हो या किसी स्कूल, कालेज, जाति, संप्रदाय या धर्मित-विशेष से संबंधित हो, लोकनृत्य का कार्यक्रम प्रायः अनिवार्य सा होगया है। परम्परागत या प्रनुष्ठानिक समारोहों में तो व्यवसायिक लोकनृत्यों के कार्यक्रम परम्परा से ही जूँड़े होते हैं, परन्तु आज के प्रधिकार्य समारोहों में, जिनका सम्बन्ध परम्परा या किसी प्रनुष्ठान-विशेष से नहीं होता, जो जूत्य देश किये जाते हैं, वे बहुधा मौलिक न होकर केवल नकल मात्र होते हैं। कहीं-कहीं तो यह नकल केवल पोशाक तक ही सीमित रहती है। आज की फिल्मों में तो इन बेमेल पोशाकों और नृत्यों का भेला ही दीख पड़ता है। इन प्राचुनिक मनोरंजन के लिये उनमें प्रयुक्त होनेवाले लोकनृत्य और लोकगीत तो आधुनक रचनिताओं के दिमाग ही की उपज होते हैं। उनमें जनता की रचना भी मौलिक लोकनृत्यों से कहीं धर्मिक निहित रहती है, क्योंकि प्राचुनिक किसी रचना-विधि की सम्पूर्ण कलाकारी का उनमें समर्वेश होता है और दर्शकों में चकाचोर पैदा करने की उनमें मरपूर क्षमता होती है।

अन्य प्राचुनिक समारोहों में जो नकली लोकनृत्य और गीत येदा होते हैं, उनमें तो फिल्मी कला जितनी भी सामर्थ्य नहीं होती। लोकनृत्यों के इस बेमेल आधुनीकरण के कारण स्वर्ण मौलिक लोकनृत्यकार भी अपनी कला को मौलिक से येदा करने में अपनी हीमता समझते हैं और वे स्वयं भी इस नकल में अपने आपको समर्वित कर देते हैं।

यह प्रवृत्ति न बेवज याम्य या झहरे खेड़ों में ही परिस्थित होती है, बल्कि आदिम ज्ञेयों में भी इसके नाना रूप दिखलाई देने लगे हैं। विशेष

करके उन आदिम सूत्यकारों में, जिनके नूत्यों को प्रदर्शन का माध्यम बनाकर शहरों समारोहों में पेश किया जाता है, जिससे इन भौतिक नूत्यों का स्वानन्दः-सुखाय पद दुर्बल होकर उनका प्रदर्शनात्मक पद प्रबल हुआ है, इस प्रवृत्ति का सर्वोधिक कुप्रभाव तो आदिम जातियों के लिये विभेद रूप से स्थापित हुए रूक्षजॉ, सार्वजनिक संस्थानों तथा आदिम कलायाएं जैसीं में परिलक्षित होता है, जिससे इनकी स्वानन्द-सुखाय एवं भौतिक कला-चुदिं पर परदा पड़ गया है। इन संस्थानों में प्रशिक्षित होनेवाले स्वयं भी अपनी भौतिक कला की अत्यन्त हीन हास्ति से देखने लगे हैं।

भौतिक लोकनूत्यों को परिवर्द्धित एवं संशोधित करके प्रस्तुत करनेवालों में पेशेवर सूत्यदानों का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने लोकनूत्य एवं लोकनूत्य शैलियों का प्रचुरता से प्रयोग किया है। इनमें से अधिकांश प्रयोग तो इसलिये भी असफल होते हैं, क्योंकि वे अध्ययन एवं स्वयं के अवधारिक प्रस्तुत व पर प्राप्तारित नहीं होते। उनमें से कुछ कला-निर्देशक तो ऐसे भी होते हैं जो स्वयं की उपज एवं कलाचुदिं से लोकनूत्यों की रचना करने की चेष्टा करते हैं, जिससे उनका आकार-प्रकार लोकनूत्यों जैसा अवश्य लगता है, परन्तु उनमें लोकनूत्यों की आत्मा का स्पष्ट भी नहीं होता। ये नकली लोकनूत्य फिल्मों नृत्यों की तरह कानों को भले अवश्य लगते हैं, परन्तु वे हृदय को स्पष्ट नहीं करते।

कुछ नूत्यदात हमारे देश में ऐसे भी हैं जो लोकनूत्यों का आधार अवश्य बहाए करते हैं, परन्तु उनकी समस्त रचना में शास्त्रीय, लोक-तथा आधुनिक नूत्यशैलियों की प्रत्यन्त वेमेल लियही पकती है। इन रचनाओं में सबसे अधिक निहृष्ट प्रवृत्ति यही है कि कहीं लोकनूत्य शास्त्रीय रचने की कोशिश करती है और कहीं शास्त्रीय नूत्य लोकनूत्य का आधारण करके वज्रों में भयंकर धराचि पंडा कर देते हैं। ऐसे प्रपोग बहुधा आधुनिक जैली की नृत्यनाटिकाओं में सर्वोधिक होते हैं, विषेष करके ऐसी रचनाओं में जो मारतीय बेले के नाम से नामांकित होती है। ये मारतीय बेले (Ballet) न ही पुरोधीय बेले पद्धति पर आधारित रहते हैं न उनकी जड़े कहीं मारतवर्ष में डूँड़ने से भी प्राप्त हो सकती है। हमारे इन आधुनिक रचनाकारों को यह भली प्रकार मालूम होते हुए भी कि बेले (Ballet) जैसी कोई परम्परा हमारे देश में नहीं है और म उनका आधार पुरोधीय बेले का है, मिर भी वे इस भयंकर कुबेल्या में अपना नमम नष्ट करके सबकी मजाक के पाव बनते हैं। कुछ आधुनिक रचनाकार ऐसे भी हैं, जो अपनी रचनाओं को बेले तो

नहीं कहते, परन्तु करते वही है जो नेते के रचनाकार करते हैं। नवीन कलास्वरूपों की सौज में इन शति उत्तमाही रचनाकारों को भी भी विशेष प्रयास के बिना मिल जाता है, उसे ये गहड़ लेते हैं। इन रचनाकारों को इतना समय और खेयं तो है नहीं कि वे अपनी अभिलेखों लोकसंस्थियों के प्रध्ययन में लगावें और आगमी नवीन रचनाद्वारों के सिवे कुछ जान और प्रमुख अर्जित करें।

आज के इस घोटोगिक एवं समस्यामूलक युग में लोकसूत्रों के सामुदायिक एवं व्यवसायिक दोनों ही स्वरूप जनजीवन से दूर होते जा रहे हैं। जहरों के निकट के गोवों में तो उनका हास ही हो जाता है। जिन कलामर्यङ्गों और स्थानेताओं को भौतिक लोकजीवी की कला देखने या उसके प्रध्ययन का पासलपन होता है, उन्हें कई दिनों भूखे-न्यासे पैदल चलकर ऐसे बाह्य क्षेत्रों में पहुँचना पड़ता है, जहाँ भोजन तो दूर रहा, निवास तक की भी व्यवस्था होना मुश्किल होता है। जिसको इसका पासलपन होता है, वे यह सब कष्ट भेलकर भी वहीं पहुँच जाते हैं, परन्तु फिर भी उनका मनोरथ पूरा नहीं होता, वर्योगि गोव के कलाकार स्वयं यह जान गये हैं कि हमारी कला-सामग्री चुराकर उसको अपने स्वार्थ के लिये प्रयुक्त करनेवाले शहरी लुटेरे हमारे मांव में आ गये हैं। प्रथः प्रथिकांश तो अपनी कला-सामग्री छिपाते हैं और यदि उनका प्रदर्शन भी होता है तो उसके लिये इन अद्येताओं को भारी लाच करना पड़ता है। आज के प्राधुनिक रचयिताओं के पास इतना समय और कष्ट सहन करने की ज़मता कहीं कि वे पह कठिनाय करके घाने कला-ज्ञान की अभिवृद्धि करें। परिणाम यह होता है कि उन्हें जो भी भाँकियाँ इच्छ-उपर से प्राप्त हो जाती हैं, उन्हीं का आधार मानकर वे अपने ज्ञान को अभिवृद्ध हुए नमूने लेते हैं और अपनी नवीन रचनाओं को लोकाधारित करने का असफल प्रयत्न करने लगते हैं।

अब प्रश्न यह है कि इस दिशा में सही कदम क्या हो सकता है? क्या लोकजीवी की कलाओं का यह लगान्तर वांछनीय है? जैसा कि पहले विवेचन हो चुका है कि सामुदायिक लोककलाओं का व्यवसायीकरण एक स्वामानिक प्रक्रिया है, जिसमें लोककलाओं के विशिष्ट तत्व अपने द्वाये अपना परिवर्तित कर बदला कर लेते हैं और अपने मूल स्वरूप को कायम रखते हुए विशिष्ट शब्द के कलाकारों के हाथ में पहकर किसी विशिष्ट ग्रदर्शनीय कला का स्वरूप बारण करते हैं। इस प्रक्रिया में भी किसी विशिष्ट प्रयत्न

या निर्धारित अवधि का कहीं भी आभास नहीं मिलता । जिस तरह लोककलाओं का प्रादुर्भाव भी एक अव्याप्त प्रक्रिया है और अव्याप्त ही में किसी अव्याप्त व्यक्ति की प्रतिभा से परिस्थिति होकर समष्टि की प्रतिभा पकड़ लेती है । ठीक उसी प्रकार सामुदायिक लोककला भी अव्याप्त ही अव्याप्त में समष्टि की प्रतिभा से बाहर निकलकर अव्याप्त ही में कलात्मक अभिव्यक्ति के किसी विशिष्ट कलात्मक जाति या समुदाय की प्रतिभा को पकड़ लेती है । इस प्रक्रिया में भी कहीं किसी का निश्चित प्रयत्न, निर्धारित अवधि एवं योजनाबद्ध प्रयास का आभास नहीं मिलता । सामुदायिक धैर्यों की कला समुदाय से बाहर निकलकर विशिष्ट कलाश्चित् के कलाकार की प्रतिभा पकड़ लेती है और इस तरह अपनेको विशिष्ट प्रतिभाओं को पकड़ते-नकहते किसी विशिष्ट कला, विशिष्ट समुदाय एवं समाज के साथ जुड़ जाती है परन्तु अपना समष्टिगत स्वरूप नहीं लोती । जिस तरह अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर यास्तीय कला विशिष्ट समुदाय एवं व्यक्ति से संबद्ध होकर अपने लोकिक तत्वों को शायद देती है, ठीक उसके विपरीत अवसायिक कला अपने लोकस्वरूप से विकसित होकर विशिष्ट समुदाय के साथ संबद्ध होते हुए अपने लोकतत्वों को अत्युप्ति रखती है ।

लोकधैर्यों की सामुदायिक तथा अवसायिक कलाएँ यदि किसी विशिष्ट प्रयोजन से या किसी योजना के अंतर्गत किसी व्यक्ति या दल-विशेष हारा परिवर्तित या कलान्तरित की जाय तो उससे पूर्व उसके अपेक्ष पहलुओं पर विचार आवश्यक है । यदि लोककलाओं के कुछ विशिष्ट तत्वों को नवीन रचनाओं में प्रयुक्त किया जाय तो उसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? आपत्ति केवल उसी स्थिति में ही सकती है जबकि लोकतत्वों के उपरोग मात्र में ही किसी नवीन रचना को लोककला ही मान लिया जाय । यदि रचनाकार पूर्ण ईमानदारी एवं योजनाबद्ध तरीके से इन लोकतत्वों को अपनी रचना में समाविष्ट करे तो निश्चय ही उस रचना में चार चाँद लग ही सकते हैं और लोकधैर्यों को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है ।

इस महत्वपूर्ण तथा प्रत्यक्ष कलात्मक कार्यों के लिये रचनाकार को लोकतत्वों से पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी तथा उसके विविध स्वरूपों से केवल परिचय ही नहीं उसका अवधारिक प्रमाण भी करना पड़ेगा । उसके लिये उसे लोकतत्वों के उद्दगम एवं अवधारणाओं में स्वयं जानकार अनुभव प्राप्त करना होगा । इस तरह इन विविध कला स्वरूपों से पूर्ण जास्तीय होने के उपरांत ही वह उनके विशिष्ट तत्वों को अपनी

नवीन रचना के नवीन कालात्मकों के साथ तात्पर्य बिठाने में समर्थ हो सकेगा। अनेक ऐसी आधुनिक रचनाएँ देखने में आदृत हैं जिनमें वेशभूषा और मुद्राएँ तो कथकति की हैं और पद-संचालन लोकशैली का। इसी तरह मणिपुरी वेशभूषा में कथ्यक नृत्य की चालें और लोकशैली की घंगभंगिमाओं की बेसल छिपड़ी भी कई आधुनिक रचनाओं में हाइटर होती है, आदिम नृत्यों में भवाई नृत्य की कित्तप्ता एवं सूति डाल देने से भी समस्त नृत्य-रचना का नाम हो सकता है। इस तरह की शैलीयत विषमताएँ भी प्रायः उभी रचनाओं में परिलक्षित होती हैं, जैसे नृत्य रचना का एक प्रसंग राजस्थान की कृपाल शैली में प्रस्तुत किया गया है और तुरमृत उसके बाद ही मध्यनाट्य की पढ़ति में अभिनयात्मक शैली का उत्पोग होता हो। इस तरह वेशभूषा, मालबुदाएँ, घंगभंगिमाएँ, प्रस्तुतीकरण, बालन, संबाद, पद-संचालन आदि में भवकर विषमताओं के दर्जन भाज की अधिकांश नवीन नृत्य-रचनाओं में देखने को मिलते हैं। इसे हम शास्त्रीय भाषा में नवीन रचनाओं का रसायास कह सकते हैं।

ऐसे अनेक छिटपुट नृत्य भी देखने को मिलते हैं, जिनमें पौक्षके नाग-नृत्य की हैं और मुद्राएँ एवं प्रस्तुतीकरण कथकनृत्य के। इसी तरह मणिप्रदेश के माडिया मूडिया जाति के नृत्यों की मुजरात की मरवा शैली में प्रस्तुत किया जाता है तथा मुजराती गरबों ने राजस्थान के डांडियानृत्य की बहल पकड़ली है। राजस्थान के भूमरनृत्य को सूलों में संगीतात्मक व्यायाम की तरह प्रस्तुत किया जाता है तथा तेरहतात की मणिपुर के मंबीरा नृत्य में बदल दिया जाता है और मणिपुर का बोम्बल चैम्पी नृत्य राजस्थान की भूमर बन गया है।

देविषमताएँ जितनी भारत की आधुनिक नृत्यनाटिकाओं में परिलक्षित हो रही हैं उतनी अनाव रही नहीं। लोकशैली के प्रतीकात्मक नाट्य प्रस्तुतीकरण में भी यथात्मक एवं वास्तविक प्रस्तुतीकरण ने स्थान ले लिया है तथा स्वावाचन एवं स्वगाथन की परम्परा का स्थान पृष्ठगायकी को प्राप्त हो गया है। आधुनिक मूकामिनय की शैली में लोकतूर्जी का परिपाक उत्तम ही महान तमता है, जैसे किसी बाकृपुदि के मुंह पर ताला लगा दिया गया है। कहीं-कहीं सामूदायिक रामलीलाओं की बहुस्वालीय रंगभूमि की शैली का स्वलीय रंगभंगीय शैली में परिवर्तन भी बहुत दीमत्स हो गया है। परम्परागत कृष्णलोका की मधुरिमाओं और प्रस्तुतीकरण की विविधताओं

को छोड़कर आधुनिक शैली के रासलीलाकार जितनी भयंकर मूले कर रहे हैं, उनका योड़ा सा उल्लेख यहाँ अत्यन्त आवश्यक है। परम्परागत रासलीला का ग्रनीष्मचारिक प्रस्तुतीकरण ग्रीष्मचारिक दृश्यावलियों में बदलकर अत्यन्त योग्यता का भाररण कर गया है। परम्परागत रासलीला की सबाह एवं संगीतमय मधुर वार्षी को मूकाभिनय में बदलकर तृत्य, संगीत, नाट्य, वाचन, अभिनय एवं रस-मिश्रण के मुन्द्र परिषाक का क्वामर निकाल डाला है। आधुनिक रासलीलाओं में कुण्ठ नवीन शैली की रचनाओं की प्राह में मूक अभिन्नापण अवश्य करता है, परन्तु शास्त्रीय मुद्राओं का उसे ज्ञान नहीं होने से केवल भौती तक्ते बनाकर ही रह जाता है। परम्परागत शैली की राजस्वानी पोशाक पहिने हुई राधा जब लहंगा लाडी पहिने भरतनाट्य शैली से उठक-बैठक लगाती है तो वह भैंडिपन के भलाचा और भी नाटकीय प्रभाव पैदा नहीं करती। इसी तरह कस और कुण्ठ के मुद्र में जब कस मुकुट तथा भौती पहिने हुए नगे बदल में कथकलि मुद्राओं में पुढ़ करता है और कुण्ठ अपनी आधुनिक शैली की निरर्थक मुद्राओं का प्रदर्शन करता है तो उस बेमेल स्वाद में हितना कड़वापन होता है, उसका अनुभव इस तरह के प्रदर्शन देखने पर ही हो सकता है। कुण्ठ राधा के विलाप के प्रसंग में जहाँ राधा का विलाप दिखानाया जाता है, वहाँ हुण्ठ मन कवियों की मानिक काम्पथारा का परिस्थापन कर राधा नाय-संगीत की झंकारों पर जो उछाल-पहाड़ बताती है, उससे किसी भी दर्शक का हृदय द्रवीभूत नहीं होता।

बेमेल शैलियों के सम्मिश्रण से जो कृष्णसाम निकल सकते हैं, उसकी एक भूलक यहाँ देख किये जिनमें नहीं रहा जा सकता। भीजों के गवरीनृत्य में एक प्रसंग बहुत ही अद्भुत रूप से प्रस्तुत किना जाता है। गोरी के नायक भगवान् बूढ़िया की प्रेरणा से प्रेरित दो सुटेरे जब बणजारों की बालद लूटने के लिये बूझ के ऊपर से बेद की तरह जमीन पर कूद पड़ते हैं तो दर्शकों के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रहती है। वे धपने शरीर पर धमिक भट्टका नहीं लगता। अपने नायक बूढ़िया में उनका अटूट विश्वास होता है और उस विश्वास ही विश्वास में के इतना कठिन कार्य कर बैठते हैं। एक आधुनिक रचयिता ने इस कला की नकल धरपते एक रंगमंचीय प्रशर्शन में की। रस्ती का लूप भी अत्यन्त सफलतापूर्वक बना लिया गया परन्तु जब कलाकार रंगमंच के ऊपर की ओर देख से जमीन पर कूदा तो परम्परागत विश्वास और उससे प्रेरित

शक्ति के अमावस्या में वह अपनी हड्डियाँ तोड़े बिना नहीं रह सका । समस्त शेष में भयंकर बाधा उत्पन्न हुई और पात्र को तीन माह तक अस्पताल की हड्डि खानी पड़ी । यही बात यह है कि सीलिक गवरी में चोर पात्र बूढ़िया देव की अत्यधिक भावना से अभिभूत होते हैं । वे समझ सारे ही प्रसंग में अचेतन से रहते हैं । योंली भाषा में उसे भाव की स्थिति कहते हैं । इस भाव की स्थिति में न केवल अभिनेता ही रहते हैं, बल्कि कभी-कभी दर्शकगण भी उससे अभिभूत हो जाते हैं । अतः जब चोर उस भावदेव की निष्ठामुत्तक स्थिति में झड़ से कूदते हैं तो उनको तांत्रिक भी चोट नहीं लगती । परन्तु जब आधुनिक रंगमंच पर इसकी नकल की गई तो वह उनके लिये बहुत महंगी पड़ी ।

इसी तरह यदि किसी आधुनिक रंगमंच पर, जिसके हृत्केषुलके देवदार के पटिये लगे हों, अनेक नायुक बल्दी की रोलनियाँ सजाई गई हीं, अनेक बेलबूटेवाले परदों का उपयोग किया गया हो, वही यदि मध्यप्रदेश के 'भाँच' जैसी तक्कालीन तृत्य-पद्धति को अपनाया जाय तो भंच के टुकड़े-टुकड़े होने में कोई समय नहीं लगेगा । मध्यप्रदेश के मौख जमीन से लगभग द फुट की ऊँचाई तक बनाये जाते हैं और नक्की भी इतनी मड़बूत नगाई जाती है कि हाथी भी उस पर चूदे तो नहीं ढूट । यदि इस तक्कालीन जैसी को आधुनिक रंगमंच पर अपनाया जाय तो वह संक्षय यत्तत कदम होगा । यही बात पोशाक, प्रसंग, विषय, पात्र आदि के संबंध में भी कही जा सकती है । बहुधा परम्परागत लोकनृत्य एवं नाट्यशैली के सभी नाटकों में एक ही प्रकार की पोशाकों का प्रयोग होता है । उनके प्रत्येक पात्र पुरातन होते हुए भी आधुनिकतम् अवहार के होते हैं, इसीलिए राजस्थानी राजस्थानियों के राम की पोशाक में और भंच-कालीन प्रभरासिह राठोड़ की पोशाक में अधिक अन्तर नहीं होता । इसी तरह सीता राजस्थानी साड़ी आपरे में ही प्रयुक्त होती है । वह अवहार भी आधुनिक पात्रों की तरह करती है । यदि यह जैसी आधुनिक रचना जैसी में अपनाई जाय तो उसका बहुत ही विवित प्रभाव जनता पर पड़ सकता है ।

जोकनृत्य एवं नाट्यों में इतिहास का आधार बहुत कम रहता है । जोक-प्रचलित परम्परा ही उनका इतिहास बन जाती है । ऐतिहासिक हृषि से निराधार होते हुए भी जनता की वयों की आस्था उन्हें स्वीकार कर लेती है । यदि यही परम्परा आधुनिक रचनाओं में अपनाई जाय अथवा प्रस्तुतीकरण एवं रंगमंचीय शिल्प से आधुनिक हो और विषय का प्रतिपादन जोकरीजी में किया जाय तो दर्शकगण एक अगु के लिए भी उसे सहन नहीं करेंगे ।

## लोकपद्धतियों को अपनाने की वैज्ञानिक विधि

अब प्रश्न यह है कि लोकपद्धतियों को अपनाने की वैज्ञानिक विधि क्या है और किस तरह उसे आत्मसात् किया जाय। जिस बात का सर्वोपरि व्याप्त प्रावश्यक है वह है यौनी-साम्य। किसी भी रचना में अनेक शैलियों का प्रतिपादन घातक होता है। जिस लोकनृत्य को भी किसी आधुनिक रचना में प्रयुक्त किया जाय, उसकी आत्मा को अस्तुष्टु रखने की अत्यन्त प्रावश्यकता है, उसमें शास्त्रीय एवं प्रन्य क्लिष्ट मूर्खों की चारीकियों का समावेश उसकी आत्मा का हत्ता होगा। लोकनृत्यों में किसी भी प्रकार की आंगिक एवं भावात्मक मुद्राओं का कोई नियोजित गान्व नहीं होता। उनमें ध्यगसंबंधन एवं मावाभिव्यजन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है तथा नृत्यकार की कल्पना को पूरा निखार प्राप्त होता है। यदि नवोन रचनाकार उनको नियोजित करके उन्हें सजापे संबोरे तो निश्चय ही वह नृत्य अपने सहज स्वभाव को खोकर बेप्रेर हो जावेगा। आधुनिक सुवक को प्रयुक्त किये जाने वाले लोकनृत्य के प्राणों से संबोधित होना प्रावश्यक है। उसका मुख्य कार्य प्रवलित लोकनृत्य की विलिङ्ग भविभासों तथा उसके सम्पूर्ण स्वभाव (Characteristics) को आत्मसात् करके उससे पह सामग्री प्रहण करना है, जो मूल नृत्य के पुनरावृत्त होने वाले भविग को पराभूत करके भी नृत्य को मूल आत्मा को अनुष्टुप्त रख सके। अनेक लोकनृत्य ऐसे हैं जिनका रचना-शिल्प (Coreography) इतना सशक्त होता है कि आधुनिक रचनाकार की नुदि भी हीरान रहती है। गुजरात तथा राजस्थान के डॉडिये, विविध गरवे, टिप्पणी, धूमर आदि नृत्य इस हाइट से जितें उत्तेजनीय हैं। नृत्य करने वाले स्त्री मुराखों का धुमाव, एक द्रुसरे का चक्काकार कटाव, उठक बैठक, पारस्परिक उलटफेर तथा आमने-सामने की उछलकूद एवं विविध नृत्यमयी मौर्ति (designs) बेलते ही बनती हैं। आधुनिक रचनिता इन भौतिक से बड़ी प्रेरणा ले सकते हैं। इसी तरह राजस्थान की नेर, गीदड़, धूमर, दक्षिण भारत के कोलटम आदि नृत्य भी इस हाइट से बहुत ही मुम्बर छढ़ा प्रस्तुत करते हैं।

आदिम जातियों के स्वामनःसुखाय नृत्यों में यत्क्षि भौतिकों का वैविध्य नहीं है, किंतु भी उनकी ध्यगभिगमासीं तथा पदचारों की एकलपता के सामने अनेक आधुनिक रचनाएँ भी भाव जाती हैं। यदि किसी आदिम नर्तक की गद्दन नाचते समय वायें चूमती है तो अन्य सभी नर्तक-नर्तकियों की गद्दनें मरीन की तरह दाढ़े चूम जाती हैं। यदि नृत्य का अनुमा अपना आहिना वीव आगे बढ़ा

कर छुटने के बल बैठ जाता है और मुरम्भ उठ जाता है तो उसके समस्त अनुयायी नर्तक उसी किया को विजली की तरह अपने शरीर में उतार लेते हैं। इसी तरह इन नृत्यकारों के अंग के प्रत्येक किया-कलाप में जो एककलाता और गतिसाम्य रहता है, वह विश्व के किसी भी आधुनिक नृत्य में वरिलक्षित नहीं होता। आदिम नृत्यों से जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण आमधी आधुनिक नृत्य-रचयिताओं को मिल सकती है, वह है उनकी तस्वीरता, तबलीनता और एककलाता। नाचते समय वे इस बात की परवाह नहीं करते कि कोन उन्हें देख रहा है और कोन नहीं देख रहा है। नृत्य और नृत्यकार किस तरह एक जीव हो जाते हैं, यह केवल इस आदिकालियों ही की विशेषता है।

नृत्यों के माध्यम से युद्ध का दृश्य प्रस्तुत करने की जो कला जोकल्पयों में है, वह अनन्दव कही नहीं भिज सकती। आधुनिक नृत्य रचनाओं में युद्ध प्रवर्णित करने के लिये जिसका आधार सर्वाधिक प्रहल दिया जा रहा है वह है कथकति नृत्य। यदि मूरुम हट्टि से देखा जाय तो कथकति नृत्य की विशिष्ट मारी भरकम देवाभूषा ही उसे प्रभावलाली बनाती है और उसी मुद्राओं का अति नृत्य शास्त्र उसकी मदद करता है। बास्तव में यदि देखा जाय तो समस्त कथकति नृत्य स्वयं में बहुत ही लिखित और मंदगति का नृत्य है। युद्ध करते समय नृत्यकार जो जारीरिक तनाव दर्शाते हैं वह केवल दिलाका मात्र है। मारपीट, घण्ड, घूसा, पंकजमध्यका, मल्लयुद्ध आदि में केवल आणिक मुद्राओं का आधार विशेष है। शरीर का शीर्ष तथा घोड़ा इन मुद्राओं में तिरोहित हो जाता है। युद्ध का प्रभाव पैदा करने में विहार का छाँक नृत्य इस समय सर्वोपरि नृत्य समझा जाता है। जिस समय आँख नृत्यकार जाल तलवार लेकर एक दूसरे का स्थानान्तर करते हुए तलवारों का जो करतब दिखलाते हैं वह देखते ही बनता है। नृत्य करते समय जो एक दूसरे पर आकमणकारी कियाओं का वैविष्य दर्शाया जाता है वह कल्पतातीत है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं के युद्ध-प्रसंगों में जो तलवार तथा लीर-कमान की भुमालदार उद्धलकूद दर्शाई जाती है वह दर्शनीय हो नहीं, अनुकरणीय नहीं है।

नृत्य-रचनाओं में जो सर्वाधिक महत्व की बात है, वह है विशिष्ट प्रकरणों को प्रस्तुत करने की जीली। जीवन का कोई भी प्रसंग यथात्मय जीली में प्रस्तुत करने की परम्परा अचकचरे रचयिताओं में ही विद्यमान रहती है। अधिकांश वरिष्ठक रचनाओं में जाहे जै लोकीनी की हाँ या आधुनिक जीवन की, प्रत्येक किया-कलाप को अंतर्वात्मक एक प्रतीकात्मक अंग से प्रस्तुत करते

में ही साथेकता समझी जाती है। इस दृष्टि से भी विहार की यह बहुचर्चित छाँड़ नृत्यदीली कभी-कभी कमाल कर सकती है। इसी तरह नदियों का बहाव तथा समुद्री नहरों का तूकान दशनि के लिये विहार उड़ीसा की उंराव जाति के नृत्यों से आपार पहरण करना चाहिये। इनके सामूहिक नृत्य स्वयं समृद्ध की सहरों सथा नदियों के बहाव के स्वर में प्रस्तुत होते हैं। नृत्यारंभ की पहली उच्चल में ही समस्त नृत्यकार तीन फोट की छलांगें मारकर घड़ाम से छमीन पर या गिरते हैं और अपने हाथ धांवों की ढाएं बाएं हवा के झोंकों के साथ इस तरह भूलाते हैं, जैसे समृद्ध की तरंगें किनारों से थोड़े ले रही हों। राजस्थान के भीलों के गवरी नृत्य की चकरियाँ भी समुद्री तूकान की भवरी का सा आभास देती हैं। ये नृत्यभौवरियाँ देश की अनेक कलात्मक चकरियों से निराली होती हैं। प्रत्येक कलाकार इन चकरियों के अंतर्गत अपनी भाव-भंगिमाओं का वैविष्य दिखाने में स्वतंत्र होते हुए भी समर्पित चकरी की अंगभंगिमाओं के साथ छड़ी की सुई की तरह चिपका रहता है। प्रथेक कलाकार की वैयक्तिक चकरियों के वैविष्य में समस्त कलाकारों को समन्वित करनेवाली बृहदाकार चकरी एक निराली ही छढ़ा उपस्थित करती है। गवरी नृत्य की महः चकरी किसी भी चलते हुए युग-चक्र, बदलता हुआ समयकम, सूर्यित-जी निरंतर चलती हुई छड़ी के रूप में प्रवृत्त हो सकती है। मध्यप्रदेश के भिलालों का इदल नृत्य भी, जिसमें मध्य पाठ पर गड़ी हुई लकड़ी के सिरे पर रखे हुए नारियल की लेने की पुरुष-नृत्यकार छड़ी पर चढ़ते हैं और लकड़ी के इर्दगिर्द नृत्यमुद्राओं में धूमती हुई लियाँ उन्हें रोकती हैं, वह आधुनिक नृत्य-रचयिताओं के लिये एक अनमोल सामग्री सिद्ध हो सकती है।

राजस्थान के भीलों के पूमरा नृत्य के गोले में भील महिलाएँ अपनी अंगभंगिमाओं का जो निलार दर्शाती है तथा वाहरी गोले में भील नर्तक अपनी लकड़ियों को टकराते हुए जो गोलाकार नृत्य करते हैं और तुरन्त धंदर के गोले में प्रविष्ट होकर भील नर्तकियों को बाहर के गोले में फेंक कर नृत्य-निरत कर देते हैं, वह देखने को बस्तु है, बरांग करने की नहीं। धूमरा नृत्य की इन कठाकदार तथा विविधताओं से मुक्त भंगिमाओं का पार पाना भी कोई आसान काम नहीं है। समस्त नृत्य को देखने से ऐसा लगता है जैसे पुरुषों ने लियों को पेसने के लिये बूह-रचना की हो और उसके तुरन्त बाद ही लियाँ जैसे पुरुषों को बूह में आबद्ध कर रही हों। युद को बूह-

रचनाधोरों के प्रस्तुतीकरण के लिये आधुनिक रचनाकारों को भूमरा से बढ़कर कौनसों गृह्य-रचना उपलब्ध हो सकती है।

### नवीन रचनाकारों के कर्तव्य

ऐसे अनेक प्रसंग हमारे देश के लोकनृत्यों में विचारान हैं, जिनका उचित उपयोग हमारे आधुनिक रचनाकार कर सकते हैं। यद्यपि प्रश्न केवल यह है कि नवीन रचनाकारों को यद्य क्षय करना चाहिये। प्रचलित लोकनृत्यों में केवल संशोधन के लिये संशोधन करने का कार्य लाते से खाली नहीं है। यह संशोधन जिसी नवीन रचना में समाविष्ट करने के लिये किया जाय तो किर भी क्षम्य हो सकता है, परन्तु केवल संशोधन के लक्ष्य से संशोधन करना सर्वथा अनुचित है। लोकनृत्यों की रचनाओं में समाविष्ट की यात्रा निहित रहती है। उसमें तनिक सा परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन और अवहेलना का कारण बन सकता है। चाहे वह परिवर्तन स्वयं लोकनृत्य के हित में ही क्यों न हो।

जब भी लोकनृत्य प्रदर्शन के स्तर पर आता है तो उसकी आवृत्तियाँ कम करनी होती हैं, अंगभूमिमादों में अधिक लोच जाता पड़ता है तथा जेहरे की मुद्राओं को अधिक बारीक बनाना पड़ता है। शहरी जनता के लिये ये सब परिवर्तन आवश्यक हो सकते हैं परन्तु उस द्याम्य जनता के लिये, जिसके साथ मेरुद्य एवं मरणार्थ से संस्कारवत् जुड़े हुए हैं, अत्यन्त प्रशाप्त हो सकते हैं। इतः लोकनृत्यों में परिवर्तन करने से पूर्व इन सब बातों पर पूर्व विचार अत्यन्त आवश्यक है। कई रचनाकार पुरातन लोकनृत्यों की दैती पर नवीन गृह्यों को रचना करते हैं। इस प्रक्रिया में प्रायः मृत्यु के साथ जलनेवाले दीतों के लाल्ड बदल जाते हैं, परन्तु ऐसे प्रायः वे ही रहती हैं। लोकनृत्यों की अंगभूमिमादों को भी केवल सार रूप में लिया जाता है और पुरे मृत्यु का केवल आभास मात्र रह जाता है। ऐसे लोकनृत्य ऊर से लोकनृत्य जैसे ही दीखते हैं, वे शहरी भंड पर ध्वन्य करते हैं, परन्तु उनके मूल अंदों में वे अत्यान्त हेय समझे जाते हैं।

कुछ रचनाकार ऐसे भी हैं जो लोकनृत्यों को किसी प्रयोजन-विकास से बोहटे हैं। उसके दीतों में उस विशेष प्रयोजन ही को उपकरते हैं। लाल्ड भी उसी का बलान करते हैं तथा उसकी प्रत्येक मुद्रा भी उसी प्रयोजन को प्रकट करती है। ये समस्त मुद्राएँ रचनाकार भी अपनी देन होती हैं। मूल लोकनृत्यों से उनका कोई संरोकार नहीं होता, बर्याकि शैलिक लोकनृत्यों में

मुद्राएँ प्राप्त होती ही नहीं हैं। इस तरह के प्रयोग भी प्राप्त लोकनृपों के लिये चातक सिद्ध होते हैं।

लोकनृत्यशैलियों का सर्वाधिक उपयोग आधुनिक नाट्य-रचनाओं में होने जाया है। इन प्रयोगों में बहुधा शैलोसाम्प्र के अभाव में कई दोष रह जाते हैं जो अंततोमत्वा दण्डों में प्रसंचि का सञ्चयन करते हैं। परन्तु अनेक दूरवर्द्धी एवं विवेकी रचनाकार ऐसे भी हैं जो पुरातन लोकनाट्य-प्रस्तुति को विना किसी शैली विषयमता के नवीन रचना शैली में बदलने का प्रयत्न करते हैं। ये उसमें नवीन प्रारंभों का स्कुररण करते हैं और सारी रात अभिनीत होनेवाली कृति को कुछ ही घटों में प्रदर्शित होने दोम्य बना लेते हैं। यह कार्य केवल अवसाधिक नाट्य मंडलियों के बलबूते पर ही सकता है। सामुदायिक थेट्रों में यह संशोधन-कार्य संभव तो नहीं है परन्तु बौद्धनीय भी नहीं है क्योंकि सामुदायिक दृष्टि से ऐसे प्रयोग भलोरंजन के माध्यम होते हैं। उनमें समय की कोई समस्या नहीं होती। इस धारानन्द प्राप्त करने और देने की प्रक्रिया में यदि समय की कठीती की जाती है तो वह साम्य जनता को गाड़ नहीं होती।

कुछ नवीन नाट्य-प्रयोग ऐसे भी हैं, जो लोकशैली के केवल शीर्तों और नृत्यों को ही अपनी रचना में समाविष्ट करते हैं। उनका संरचन नाट्य के मूल प्रसंग से कुछ भी नहीं होता। केवल दण्डों की संभिश्चि को कार्यम रखने के लिये नाट्य के बीच में उनका उपयोग होता है। कुछ उससाही प्रयोगों ऐसे भी हैं, जो पुरातन लोकनाट्य शैली में नवीनतम प्रसंग पर नवीन नृत्यनाटिकाएँ ठिकार करते हैं। ऐसे अनेक प्रयोग इमारे देश में हुए हैं, जिनमें कुछ लो धर्यन्ति सफल प्रयोग समझे गये हैं और कुछ विस्तृत ही निरर्थक। कुछ उससाही रचनाकार ऐसे भी हैं, जो लोकनाट्यों की अनेक शैलियों की एक ही नाट्य-प्रयोग में लिच्छी यकाना चाहते हैं। द्वाज हमारे देश में अधिकांश नवीन नाट्य-प्रयोग इसी किस्म के होते हैं। शैलियों की यह वेमेल लिच्छी वास्तव में बहुत ही दर्दनाक है। ऐसी कृतियों बहुधा काला-तत्त्वों से विहीन होती है। ऐसी कृतियों में कहीं उत्तर भारतीय पढ़ति का अनुशीलन किया जाता है, कहीं दक्षिण भारत की पढ़ति का उपयोग होता है। कहीं शास्त्रीय शैली लोक पढ़ति पर आकर बैठ जाती है। ऐसी कृतियों में कहीं पात्र स्वर्वं गाते हैं। कहीं उनके लिये पृष्ठगायक गाते हैं। कहीं समस्त प्रसंग में पृष्ठ-वाचन का प्राधार लिया जाता है। कहीं शीतालापक संवादों की संगा बहती है और कहीं गद्य का लोकवाला है। कई नवीन प्रयोग ऐसे भी देखे गये हैं जिनका आकार-

प्रकार, वेश-विन्यास आदि लोकजीवी का होता है, परन्तु उनका समस्त धाराहार विदेशों से प्रहरण किया हुआ होता है। इन कृतियों में न तो वाचन पात्रों द्वारा कराया जाता है, न पृष्ठवाचन या गायन का धाराहार किया जाता है। समस्त वाचन केवल मुख एवं भावमुद्राओं के माध्यम से होता है। इनका प्रस्तुतीकरण गत प्रतिशत विदेशी धाराहार लिये हुए होता है। ऐसे प्रयोग हमारे देश के लिये विस्कुल ही अनुपयुक्त सिद्ध हुए हैं।

कुछ बहुत ही सुन्दर प्रयोग भी हमारे देश में हुए हैं, जिनमें समस्त रचना नवीन होते हुए भी लोकप्रदति की बहुत सुन्दर रक्षा की गई है। समस्त गीत, वाचन, प्रस्तुतीकरण, रंगमंचीय साजसज्जा, साजबाज, भाषा, नृत्य आदि सभी लोकप्रदति पर ही है। कर्क नेवल इतना ही है कि उनमें प्रधीरु कलाकारों के हाथ लगे हुए होते हैं। उन्हें लोकप्रदतियों का सम्मुखी ज्ञान होता है तथा वे इस दिशा में एही से बोटी तक जु़ने रहते हैं। ऐसी कृतियों में, जिनमें विशुद्ध लोकजीवियों का प्रयोग होता है, गीत, नृत्य, वेश-विन्यास, रंगमंचीय प्रशाली, लोककूद आदि में भरपूर मौलिकता होती है। कभी कभी तो कलाकार, दाज, सज्जा आदि भी लोकजीवी के होते हैं। इन कृतियों में प्रसंग, प्रस्तुतीकरण, संवाद-विचित्र प्रादि में भी लोकापरम्परा का पूरा निशाच होता है। ऐसी कृतियों जब कला-विजेताओं के निर्देशन में विशुद्ध लोककलाकारों द्वारा येश होती है तो वहाँ लोकजीवन में भी वे अत्यन्त लोकप्रिय बन जाती हैं तथा अवसाधिक लोककलाकार इस्ये भी उनसे प्रेरणा प्रहरण करके अपनी कृतियों को परिपुष्ट करते हैं।

---



३

लोकनाट्य

6

1960-1970

## लोकनाट्य

नाट्य की उत्पत्ति नट भवद से हुई है। अंगसंचालन से किसी विशेष परिस्थिति या व्यक्ति के किया-कलाओं को अभिव्यक्त करना ही नट का प्रमुख कार्य था। मही नटकला प्रारम्भिक किया-कलाओं से विकसित होकर गीतबद्ध हुई और विशिष्ट पद्म, समारोह तथा देवी-देवताओं के पूजन के समय उसका प्रदर्शन होने लगा। धीरे-धीरे इसी नटकला ने कृषक का स्वरूप धारण किया, जिसमें ये नट लोग किसी अतिक, घटना तथा स्थिति-विशेष का अनुकूलितमूलक रूप प्रस्तुत करते थे। परन्तु इस स्तर तक भी नाट्य के विविध अंग पूर्णतः परिस्फुटित नहीं हुए थे जिनमें एक सम्पूर्ण घटनाचक्र की समस्त परिस्थितियाँ अभिनय, संभाषण, कथानक आदि के साथ मानवीय पात्रों द्वारा कर्मबद्ध प्रस्तुत की गई हों। जेघविम्बास, हावनाव, वाचन, संभाषण तथा अंगसंचालन द्वारा मुग्धुशर्यों की मुग-प्रवर्तक घटनाओं को प्रस्तुत करनेवाला नाट्य का मानवीय सून हमारी संस्कृति का बहुत ही बाद का स्वरूप है। देवी शक्तियों, प्राकृतिक प्रकोपों तथा मृतवन की भात्याओं से विरा कुद्या मानव उन्हीं की अनुकूलि बनकर उसके भान्चार, अवहार तथा आकार-प्रकार की नकल करे, यह कल्पनातीत बात थी।

### नाट्य के प्रारम्भिक रूप

भरतमुनि द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र तथा अनेक द्वारा लिखित वस्त्रक में जो नाट्यसिद्धांत विस्तृप्त किये गये हैं उनका आधार इन शास्त्रों के प्रणालय के सैकड़ों वर्ष पूर्व लिखे थीर लेते गये थे असंख्य नाटक हैं जो विकास की वरम सीमा तक पहुँच चुके थे। ये नाटक इसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व प्रपने चतुर्मुखी स्वरूप के साथ भारत की शौरक-गरिमा बढ़ा रहे थे, उन्हीं लोकप्रकट नाटकों का विवेचन यहीं प्रस्तुत किया जा रहा है।

कोई भी विगत घटना या व्यक्तित्व हमारी कल्पना में उभर सके, उसके लिये अभिनवकला, अंगसंचालन, मादाभिव्यजन, धोगिकी, वाचन, संभाषण, कथोपकथन, कथाप्रसंग आदि के मुग्धित वर्पन की आवश्यकता होती है। नाटक के ये सभी तत्त्व एक साथ विकसित नहीं हुए, बल्कि इनमें से कुछ ने समय और स्थिति के अनुसार विशेष विकास पाया और वे सहस्रों

वर्षों तक परम्परा के रूप में मानव-मनोरंजन के लिये कायम रहे। नाट्य के इन विविध अण्डों का पृथक् तथा समन्वित विकास ही पूरणाङ्गी मानवीय नाट्य के लिये जटिशाली पृष्ठभूमि के रूप में सिद्ध हुआ। ऋग्वेद तथा सामवेद की संवाप्तप्रधान तथा भावोद्रेकमयी अचार्यों में नाट्यवाचन के पूर्ण विकसित थंकुर विद्यमान थे। सामवेद के पूरुत्वा और उर्वशी तथा ऋग्वेद के यम-यमी के भावप्रधान संवादों में नाट्य के स्पष्ट थंकुर परिलिखित होते हैं। अनेक ऐसे और बोड़ सूतों में भी इसी प्रकार के प्रेरणादायी तथा भावपूर्ण कथोपकथन में नाट्य के प्रारम्भिक थंकुर उगते हुए दृष्टिगत होते हैं।

### नाट्य की चित्रपट प्रणाली

उपर्युक्त वैदिक अचार्यों के ये संबाद अनुकूलिमूलक एवं स्पष्टप्रधान नहीं थे और न कोई दर्शनीय दृश्य ही उपस्थित करते थे। वे केवल अवश्योग्य थे, दृष्टियोग्य नहीं। किसी भी नाट्यप्रसंग का दृष्टियोग्य होना बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मनुष्य इस समय इस स्थिति में नहीं या कि वह अपने परमपूर्ण युगपूरुषों की युगप्रवर्तक घटनाओं को नाट्यकृप दे सकने की धृष्टिता करे। इसीलिये इन घटनाओं को सर्वप्रथम वृक्ष की साक्षात् छातों, पशुओं के चमड़ों, दीवारों तथा कपड़ों पर विविध रंगों से चिह्नित करने की परम्परा हुमारे देश में शाज से सैकड़ों वर्षों पूर्व कायम हुई। अपने पूर्वजों तथा युगपूरुषों की स्मृति में उनके भीवन सम्बन्धी चित्र टाँगने की प्रथा शाज भी विद्यमान है। ये ही चित्र संगठित और सामृहिक रूप से एक ही विशद चित्र में समन्वित होकर जनता के समझ कियी विशिष्ट अवसायिकों द्वारा प्रस्तुत किये जाने लगे। इनसे प्रदर्शित महापूरुषों की भीवन घटनाएँ जनमानस को आङ्गादित करने के साथ-साथ उनकी स्मृतियों को भी ताङ्गा रखने लगी। किसी बास या लकड़ी पर लिपटे हुए ये पट परिचालकों के कंठों पर लड्कर थोरे-थोरे एक गाँव से दूसरे गाँव तक पहुँचने लगे। जहाँ भी गाँव या नगर का चौराहा मिलता, ये पट फैलाकर लोंग दिये जाते और नृत्यमुदाह्रों के साथ उनमें चित्रित गाथाओं के विविध पक्षों को दर्शकों के समक्ष सुसरष्ट किया जाता था। चित्रों को समझाने की यह नृत्यगीतमय प्रणाली उन चित्रों को सभीव स्वरूप प्रदान करती थी और दर्शकों को सम्पूर्ण नाटक देखने का आनन्द मिलता था। शाज भी भारत के विविध प्रदेशों में पूर्वजों की भीवनगाथाओं को प्रस्तुत करने के लिये ऐसे चित्रपट परम्परा के रूप में विद्यमान हैं। राजस्थान की गाथाजी तथा देवनारायण की पड़े शाज भी असंस्य जन के हृदय

में इन महान् पुलियों की जीवनगाथाओं को अत्यन्त सुखियूण दंग से अंकित करती हैं। और राठोड़ पावूजी, जिन्हें गोरक्षा के लिये अपना जीवन दान दे दिया था, आज भी असंक्षय जन के अद्वा और भाराघना के पात्र बने हुए हैं। उनके नाम पर राजस्थान में धनेक मेले लगते हैं। उनके विशिष्ट पुबारी पावूजी के भोपे इन चित्रपटों के समक्ष पावूजी के पवाहे गाते हैं और उनकी स्थिरी चित्रों को दीपक दिखाती हुई उनका गुणगान करती है। ये पहुँ भीतबाड़ा और जाहुपुरा के विशिष्ट जोशी स्थिरों द्वारा बनाई जाती हैं, जो आज विशिष्ट चित्रीयी के स्पष्ट में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। देवनारायण भी नेवाड़ के एक विशिष्ट देवता-तुल्य व्यक्ति हो गये हैं, जिनकी जीवनगाथाएँ भी चित्रित की जाती हैं और देवनारायण के गूबर भोगे उनकी पटों का प्रदर्शन करते हैं।

चित्रपटों द्वारा मुग्धपुरुषों के जीवन का अक्कन करते की प्रथा बंगाल, बिहार आदि प्रदेशों में यमपट्टा के कप में आज भी विद्यमान है। इस यमपट्टे में यापकमं करनेवालों को यम द्वारा दी गई सजाओं का अक्कन किया जाता है। चित्राकन द्वारा नाट्य प्रस्तुत करनेवालों के दल इन यमपट्टों को एक माँक से दूसरे गाँव में ले जाते हैं और यायन द्वारा उनका अर्थ स्पष्ट करते हैं। धनेक जैन तथा बौद्ध धर्मों में भी इन चित्रपटों का उल्लेख मिलता है, जो धर्मप्रचार के लिये प्रयुक्त होते थे। पतेबति के महानाट्य में भी जोभनिका नाम से चित्राकन करनेवाले नाट्यकारों का उल्लेख मिलता है, जो चित्रों को इस प्रभावशाली दंग से प्रस्तुत करते थे कि चित्र के पात्र सजीव होकर दर्शकों को धौंधों में उत्तर दाते थे। जैन तथा बौद्ध धर्मों में इन चित्रपटों का भनवा नाम से उल्लेख मिलता है। ये पहुँ चित्रित प्रसंगों में विभाजित होते थे और प्रत्येक प्रसंग के पट्टे का काम समाप्त होने पर परिचालक उसको उपेटाकर जाता था और आगे के प्रसंग संबंधी गीत-बाजन करता हुआ उन चित्रों को सबके सामने प्रत्यक्ष करता था। इस प्रकार के पट्टे भाज भी बिहार, बंगाल में पुर्वजों की गावाओं को नाट्यरूप में प्रस्तुत करने के लिये प्रयुक्त होते हैं। जैन साधुओं के पास आज भी ऐसे चित्र विद्यमान हैं, जिन पर नरक सम्बन्धी धनेक-हृष्ण अंकित हैं। इनमें कुक्कमियों के कठोर दंड का बहुत ही बास्तविक अक्कन किया गया है। ये साधु स्वयं इन चित्रों को अपने भक्तजनों को दिलाकर पार्थों से उनका यन्म भोड़ने की कोशिश करते हैं।

### जमड़े की आकृतियों द्वारा नाट्यप्रदर्शन

चित्रपटों के कप में यह नाट्यस्वरूप यथापि काफी सोक्रिय हो चुका था और हवारों वर्षों तक जनता का मनोरंजन करता रहा, परन्तु उनमें

अंकित चित्र स्वयं गतिमान होकर पात्रस्वरूप में अभिनव करने में असमर्थ थे । परिचालक इस अभाव को पूर्ति स्वयं नाच गा कर करता था । दर्शकगण उन चित्रपात्रों के अवक्तुल्य का आरोपण उसमें नहीं कर सकते थे । चित्रप्रदर्शन के समय परिचालक अपनी परम प्रभावशाली वाचनकला के माध्यम से दर्शकों को भावद्रेक की स्थिति में ले आते थे । वे अपने आदराध्य देव को उन चित्रों में भूतिमान अवश्य देख सकते थे, परन्तु गतिमान नहीं । चित्रों पर दीपक ढारा साधने से दिलाई हुई रोशनी उन रोगीन आकृतियों को प्रकाशमान और देवीप्रभान मी करती थी । आज भी पाकूजी और देवनारायण की पड़ों के समक्ष भोजनियाँ दीपक दिलाकर गाती हैं तथा भोपा रावणहृष्णे पर उनकी जीवनगाथाओं का अत्यन्त प्रभावशाली विवेचन करता है । वे सभी पट रात्रि को ही दिलाये जाते हैं ।

इन चित्रांकित महापुरुषों को गतिमान करने के लिये सर्वप्रथम हमारे देश में अमड़े पर रंगीन चित्र बनाकर उन्हें काटने की परम्परा कायम हुई । इन रंगबिरंगे चित्रों के वित्तिय अंगप्रत्यंगों पर ब्रांस की भूषितयाँ बौधकर उन्हें गतिमान किया जाने लगा । इस तरह महापुरुषों के विविध जीवनप्रसंगों के अनेक चित्र अमड़े में काटे जाने लगे और इन्हें किसी नाट्यरूप में बौधने की कोशिश प्रारम्भ हुई । सर्वप्रथम उन पर चित्रपट की तरह ही सामने से रोशनी के की जाती थी और ऐसे चर्मपाद बारी-बारी से जनहार के समक्ष आकर नाना प्रकार से गतिमान होते थे । परिचालकगण छाड़ी पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करते थे और माध्यन, वाचन, धार्दि से उनका प्रबोजन स्पष्ट करते थे । चित्रांकन की यह प्रणाली निश्चय ही चित्रपट प्रणाली से अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई । परिचालकों के प्रत्येक दल में कम से कम दोनों व्यक्ति रहते थे । एक चित्रों की चलानेवाला, दूसरा उन पर दीपक को रोशनी दिलानेवाला तथा तीसरा बायं बजानेवाला । चित्रांकन के इस प्रदर्शन में नाट्यगुण अवश्य थे, परन्तु परिचालक स्वयं दर्शकों को दिलाई पड़ते थे और उनका अवगत बैठते थे । यथापि चित्रपट प्रणाली में भी परिचालकगण गाते, नाचते तथा दीपक दिलाते हुए, नबर आते थे, परन्तु चूंकि उनके चित्र गतिमान नहीं थे और वे स्थिररूप से दर्शकों की ओरतों में गुजरते थे, इसलिये परिचालक से किसी भी प्रकार उनका अस्वभाव नहीं चुकता था । चित्रों की कटी हुई आकृतियों में स्वयं चित्र भी गतिमान होते थे और उनके साथ-साथ उनके परिचालक भी । अतः कुनूर-सिद्धि में निश्चय ही अवधान आता था ।

प्रारम्भ में इन चिकित्सों का आकार-प्रकार परिचालक से खोटा होता था, अतः जब परिचालक उसकी छाड़ियों पकड़कर उन्हें नीचे से संचालित करता था तो पूरे साढ़े पाँच फीट का परिचालक ट्रेड फीट के कटे चित्र के सामने परिमाण में बहुत बड़ा नज़र आता था और चित्र की गतिशीलता से कहीं अधिक वह गतिशील बनकर दर्शकों की आँखों में मुजरता था, अतः छिपकर इन्हें परिचालित करने की परम्परा हमारे देश में कायम हुई और उसी के परिणाम-स्वरूप छायापुतलियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

### छायापुतलीनाट्य का प्रादुर्भाव

कठी हुई पुतलियों की नाट्यप्रस्तावी को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये कहीं मर्मज्ञों ने अनेक प्रयोग किये । उनमें छायापुतलियों का प्रयोग सर्वाधिक कारगर सिद्ध हुआ । चमड़े को पारदर्शी बनाकर उसकी आदमकद आहुतियों काटी गई और उसके आरपार प्रकाण किरणें डालकर उसे अमत्कारिक बनाया गया । इस प्रयोग में हमारे कलाकारों को अभूतपूर्व सफलता मिली । लगभग १० फुट ऊंचा और १५ फुट चौड़ा एक सफेद परवा बीचों या लकड़ी के लोहट में तानकर सामने रख दिया जाता था । उसके पीछे इस आदमकद रंगीन चमड़पुतलियों को छाड़ियों को परवे के सामने साथें रूप से हिलाया जाता था और पीछे से डाली हुई रोलनी से ये छायापुतलियों प्रकाशित होकर सफेद परवे पर नाना प्रकार से गतिमान होती थीं । पुतलियों के प्रत्येक रूप से कहीं अधिक उनका छायाकृप दर्शकों के मन को मोहित करता था । प्रत्येक रूपक का यही नियम है कि चरित्र के प्रत्येक प्रकट होकर गतिमान होने की अपेक्षा उसका अनुकूलितमूलक रूप अधिक प्रभावशाली और मनोरंगनकारी होता है । ये छायापुतलियों भी प्रत्येक सामने न आकर उनकी छाया सामने आती थी, इसोलिये ये छायाएँ जाना रंगों में परवे पर अकित होती थीं और उनके अंग-प्रत्यंगों को नाना प्रकार से गतिमान होते देखकर दर्शकगण आमन्दविमोर हो जाते थे । इन पुतलियों में परिचालकों द्वारा आवा या प्रसंग-वर्णन न होकर स्वयं पात्रों पर ही उनके संभावणा प्रारोपित किये जाते थे, जिससे ये छायापात्र स्वयं उस छायाकृपक के साथें पात्र बन गये और दिना छिसी माध्यम के ही दर्शकों के मन पर आरोपित होने लगे । इस छायानाट्य को अधिकाधिक प्रभावशाली और सकल बनाने के लिये जो शीत-संचादों की प्रत्यन्त मनमोहक योजना हई उसमें योग्य कथोपकथन,

योग्य कथाप्रसंग, रसविवेचन, आणिकी, चरितचित्रण, नाट्य के आरम्भ, मध्य और चरम विकास की सीढ़ियाँ अपना प्रारम्भिक स्वरूप पकड़ती गईं।

### छायापुतलियों की अतिरंजनात्मक शैली

इन नाट्यस्वरूपों की उत्पत्ति हमारे मुगपूरुयों तथा देवी-देवताओं की स्मृतियों को ताजा रखने तथा उनके जीवनादर्शों को जनता के समझ मनोरंजनकारी ढंग से प्रसूत करने के लक्ष्य से हुई। ये मुगपूरुष निश्चय ही सांसारिक मनुष्य से गुण, चरित, कृत्य तथा गतियों की इटि से कहीं बड़े थे। वे अब मनुष्य का चोला बदलकर दिक्ष्य पुरुष बन जुके थे, अतः उनके आकार-प्रकार, आकृति आदि निश्चय ही मनुष्य से मिल थे। ऐसी मान्यता लेकर ये छायापुतलीकार अपने चित्रों को अतिरंजित और ग्राहीकार्यक बनाते थे। चूंकि यह समस्त नाट्यलाय ही देवी-देवताओं तथा मुगपूरुयों के जीवन के प्रतीक और छायाकृप ही में था, अतः उसका चित्रांकन भी प्रतीक थीर छायाकृप ही में हुआ। इन चित्रों और छायापुतलियों को अतिरंजित और प्रतीकात्मक बनाने के पीछे एक कारण थीर था। परिचालकगण और नाट्यपात्रों की समानता को दूर करने के लिये भी नाट्यपात्रों को मिल रूप दिया जाता था ताकि प्रदर्शन के समय परिचालक और पात्र एक दूसरे में मिलकर दर्शकों में झोंक उत्पन्न न करें।

इस अतिरंजना के पीछे कुछ प्रयोजन थीर है। पुतलियाँ नावनिधिमादों और अंगभंगिमादों के प्रदर्शन में मानवीय पात्रों की तरह अपने आपको समर्थ नहीं थीं, अतः इन सीमाधारों को दूर करने के लिये उनके बेहरों की बनावट तथा अंग-प्रत्यंगों के आकार-प्रकार ही को इस प्रकार अतिरंजित किया गया कि उन भंगिमादों की कभी उन अतिरंजनाधारों से दूर हो गई। पुतलीकला में भ्रम उत्पन्न करने वाला सबसे अधिक महसूपूर्ण मानी गई है। यह भ्रम वास्तविक मानवीय आळतिमूलक लेहरों द्वारा उत्पन्न नहीं होता। यह बात हमारे पूर्वों को भली प्रकार जात थी। युरोप की भासुनिक पुतलियों में जो प्रतीकात्मक संकेतवाद आज महसू आप्त कर रहा है, वह हमारी परपरागत पुतलियों में विद्यमान था। पुतलियों नी आकृतियों का यह अतिरंजनात्मक संकेतवाद पुतलियों में प्राणों का संचार करता था तथा उसके कारण वे दर्शकों से बोलती, गाती तथा नाना प्रकार के नाव घनिष्ठ्यजित करती हुई महर थाती थीं। पुतलीकारों को इसका पूर्ण जान था कि किस अभिभवनना के लिये किस प्रकार के वाचन, गायन तथा अंगसंचालन की

आवश्यकता है तथा उससे दर्शकों के मन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है। सहजों वर्षों तक परम्परागत रूप से इस कला का अभ्यास करते हुए ये पुतलीकार मानवीय मनोविज्ञान से पूर्णरूप से अवगत हो गये थे और उसी के प्रनुसार वे अपने पूर्वजों, तुगपुरुषों और देवो-देवताओं की जीवनगाथाओं को परम नाटकीय ढंग से जलता के समझ प्रस्तुत करने में सक्त हुए।

आज भी आमधं और कोचिन-प्रदेश में छायापुतलीवालों के अनेक इल चिह्नमान हैं जो अपनी परम्परा को पकड़े हुए हैं और रामायण तथा महाभारत की कथाओं को अत्यंत रोमांच और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हैं। परम्परापोर्ति होने के कारण ये कलाकार अपने में किसी प्रकार का परिवर्तन वसाइ नहीं करते और अबने पूर्वजों द्वारा दी हुई प्रणाली में कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते। यही कारण है कि इन पुतलीवालों के पास कई पीड़ियों की पुतलियाँ हैं, जिन्हें वे प्रदर्शन से पूर्व पूछते हैं और उन्हें देखता मानकर उनका प्रदर्शन करते हैं। उनकी यह मान्यता है कि अपनी पुतलियों के भाषण से वे विन देवताओं और तुगपुरुषों का अभिनय करते हैं, उनकी आत्माएँ प्रदर्शन के समय भौतुद रहती हैं, और वे ही उनकी पुतलियों में प्राणी का संचार कराती हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि जो पुतलियाँ वे चलावें, उनको बनाना भी उन्हीं को चाहिये, नहीं तो तुगपुरुषों का आरोपण उनके पारीर में नहीं होता। इसलिये वे पुतली-निर्माण के प्रत्येक कार्य में प्रबीण होते हैं तथा अपनी कला को अपने वंशजों के भवावा दूसरों को नहीं सिलताते हैं। मानवीय नाट्य में कथानक, चरित्र-चित्रण, माताविवरण, रसनिष्ठपण, आहार, आमिकी आदि का जो विशद विवेचन नाट्यगानों में इस नाट्यशैली के प्रचलन के संकाझों वर्ष बाद हुआ, उसके मंकुर छायापुतलियों की इस परम्परा में स्पाठ रूप से नहर आते हैं। किसी भी छायापुतलीवालों की समस्त नाट्यरचना, संभाषण, कथा-प्रसंग, प्रतिपादन, गायन तथा संचालन का विस्तैयण करें तो प्राचीन मार्त्तीय गायन के अनेक तर्फों का उनमें दर्शन ही जायेगा। इन पुतलीकारों को यह भली प्रकार जात था कि गुण दोष के प्रनुसार इन पुतलियों के जैहरों पर कौनसा रंग लगाना चाहिये। आज भी वे रंगोंगुणों, तमोगुणों तथा सतोगुणों पात्रों के जैहरों पर परम्परा से निश्चित रंगों का ही प्रयोग करते हैं जो भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यगान में निरूपित मिदातों से जुत प्रतिकात मेल लाते हैं। इन यात्रों के संचालन, परिचालन, आवहार, आचन, संभाषण आदि में भी पूर्व-निर्धारित सिद्धांतों का ही पालन

होता है । नाट्याचरण में भी प्रथाननायक, उपनायक तथा अन्य सहायक पात्रों के चरित्र-विकास की ओर पूर्ण आग्रहकता बरती जाती है ।

### काष्ठपुतलियों का प्रादुर्भाव

चूंकि छायापुतलियों की आकृतियाँ चपटी होती हैं इसलिये उनसे किसी भी पात्र के संपूर्ण स्थूल शरीर का भान नहीं हो सकता । चपटी आकृतियों को वेशभूषा भी नहीं पहिनाई जा सकती और न उन पर अलंकार या शृंगार ही हो सकता है । उनके पृष्ठभाग दर्शकों को दृष्टिगत नहीं हो सकते इसलिये उनको पुमाने-फिराने में बड़ी साधारणी बरतनी पड़ती है । इन चपटी पुतलियों के संचालन तथा उनके द्वारा सम्मुखी नाट्यानिव्यञ्जन समव नहीं समझकर ही भूतिनुमा काष्ठ पुतलियों की परम्परा हमारे देश में प्रारम्भ हुई । पुतली निर्माण में काष्ठ को सबसे हल्का माध्यम समझकर ही संबंधित काष्ठ का ही प्रयोग हुआ और उसके माध्यम से जो पुतलियों निर्मित हुई वे कठपुतलियों कहलाई हैं । इन काष्ठपुतलियों द्वारा जो नाट्यरचनाएँ हुईं, वे ही वास्तव में मानवीय नाट्य का पूर्णांकी स्वरूप यहां कर सकी । चपटी आकृतियों की चर्मपुतलियों द्वारा संपूर्ण पात्र का भ्रन्तमात्र करना केवल दर्शकों की कल्पना पर निर्भर रहता था । इसके अलावा उनकी प्रत्यक्ष प्रदर्शित करना भी इसलिये प्रभावशाली नहीं होता था, बल्कि परिचालक को दर्शकों से छिपाना और पुतलियों को बिना छाया के वास्तविक पात्र का भान कराना असंभव था । छाया द्वारा उन्हें प्रदर्शित करने से उनकी प्रभावशालता की बुद्धि अवश्य हुई और उनकी सीमाओं की ओर भी अधिक छायान नहीं था, परन्तु कला के प्रयोगियों ने काष्ठपुतलियों को छायापुतलियों से भी अधिक प्रभावशाली पाया । उनसे नाट्यशोधना भी अधिक प्रभावशाली बन सकी और दर्शकों को मानवीय पात्रों का अनुवाद नहीं बढ़ाका । ये काष्ठपुतलियों बस्ताभूषण पहिनने लगी तथा चर्मपुतलियों की तरह ही पात्रों के गुण-दोषों के अनुसार उनके बेहरों की रंगाई शुद्धाई हुई । मानवीय बेहरों की नाट्यानिव्यञ्जना इन निर्जीव पात्रों में संभव नहीं समझकर ही चर्मपुतली के समान ही उनके बेहरों की आकृतियों प्रतिरूपित बनाई गई । छायापुतलियों की तरह ही काष्ठ-पुतलियों को मानवीय आकार में बनाना संभव नहीं था । उन्हें सूखी द्वारा संचालित करने के उद्देश्य से उनको बदनी भी नहीं बनाया जा सकता था, तथा मानवीय पात्रों की तरह उन्हें भी किसी मुग्धपुरुष के आरोपण से वंचित रहना था, अतः वे आकार-प्रकार में छायापुतलियों से काफी छोटी बनाई गई तथा उनकी आकृतियों को अतिरेकित किया थया ।

## मानवीय नाट्य की मुख्योटा-प्रणाली

काष्ठपुतलियों के सम्पूर्ण विकास के बाद ही मानवीय नाट्य की ओर कलाविदों का ध्यान धारकित हुआ और उस ओर विभिन्न प्रयोग होने लगे, तब तक मानवीय नाट्य के माध्यम से अभिनय प्रस्तुत करने के प्रति जो सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिवर्ष थे, वे भी कमज़ोर पड़ने लगे तथा मानवमूलक नाट्य पर नियंत्रण हटने लगा और मानवीय पात्र नाना प्रकार की पात्रानुकूल वेशभूषाओं से सुसज्जित होकर रंगमंच पर आने लगे। रंगमंच के इस अभिनव मानवीय प्रयोग में अभिनेता के लिये अंगसंचालन तथा पात्रानुकूल चाचन की अनुकूलता तो कठिन नहीं हुई, परन्तु विविध भावमूलक धारकृतियाँ बनाना तथा नयन, भोक्ता, कपोत, घोषण आदि के पुमाच द्वारा भावाभिव्यञ्जन करना उसके लिये बहुत कठिनालय हो गया, अतः तदनुकूल मानवीय चेहरों पर रंग-रीगन लड़ाने तथा उन्हें पुनः छुड़ाने की दिक्कतों से बचने के लिये लकड़ी सुधा कागड़ के मुख्योटों (Masks) का विकास हुआ। इन मुख्योटों पर हर्ष, झोप, उल्लास, उत्साह, हास्य, रोड़, बीमर्स, करण, शुंगार, येम आदि के विविध भाव रंगों द्वारा बड़ी प्रवीणता से चित्रित कर दिये जाते थे। एक बार यम लेने पर ये मुख्योटे काफ़ी सम्भव तक सुरक्षित रह सकते थे और अभिनव के समय उनको मुहे पर लगाकर भ्रासानी से अभिनव किया जा सकता था। इस प्रणाली से अब उन्हें अपनी धारकृति द्वारा भावाभिनव दर्शनी की भावशयकता नहीं होती थी और वे अपनी सम्पूर्ण व्यक्तियाँ बाचन तथा भागिक अभिनव में ही लगाते थे।

मानवीय नाट्य की मुख्योटा-प्रणाली अनेक बर्तों तक काप्रम रही। इन चेहरों के साथ अभिनव करने की प्रथा आज भी विहार के छाक तृप्ती में अपनी सम्पूर्ण साजसज्जा के साथ विचारात्मक है। मुख पर चेहरे लगाना इसलिये भी भावशयक होगया कि प्रत्येक मानवीय पात्र की दिनी राजस, वानर या दीदा का अभिनव करना हृषा तो उसके मौलिक वैज्ञ, नाक, कान तथा गाल में अतिरेकनारमक विकृतियाँ लाना संभव नहीं होता था, अतः उसी के अनुसार वे चमत्कार चेहरे लगाने से उन धारकृतियों को पूर्ति हो जाती थी। ऐसे भी देवी-देवताओं को बड़ी-बड़ी भावों द्वारा देवीप्रायमान तेजस्वी चेहरे द्वीपत मानव की भ्रोहर नहीं होते, इसलिये इस भावशय में भी मुख्योटों का प्रयोग भावशयक ही गया तथा नक्की चेहरे लगाकर अभिनव करने से मानवीय पात्रों को

चिपाना भी संभव हुआ । कठपुतली पात्रों में एक अद्वितीय गुण यह था कि अभिनव के समय वे किसी मानव-विशेष का आमास अपने में नहीं देते और न उसके मानवीय गुण-दोषों का आरोपण दर्शकों पर होता । मानवीय पात्र में यह पूरा विद्यमान नहीं रहने से ही उसका प्रभाव कठपुतली पात्र की तरह अधिक तीव्र नहीं होता । नकली चेहरे अथवा मुखोंटे लगाकर अभिनव करने के पीछे भी यही प्रवृत्ति स्पष्ट थी कि अभिनेता का मानवीय चरित्र दर्शकों पर आरोपित न हो । यह मुखीटोंवाली नाट्य-परम्परा एक तरह से कठपुतली-नाट्य और मानवीय-नाट्य के बीच की कड़ी भाव थी ।

### मानवीय-नाट्य का सम्पूर्ण रूप

नाट्य के विकास की पैचवीं सीढ़ी सम्पूर्ण मानवीय-नाट्य है, जिसमें अभिनेता अपने में किसी चरित्र-विशेष का आरोप करने में वेण-विम्बास तथा मुख-विम्बास के द्वारा किसी विशेष वास्तुसाधनों का सहारा नहीं लेता । जूँकि मानवीय-नाट्य का विकास कठपुतली एवं चम्पुतली से हुआ, अतः उसकी स्मृतियों को कायम रखने के लिये उसने प्राप्ती नाट्य-योजना में भी सूचकार को कायम रखा, जो कठपुतली की तरह सूत्रों से संचालित तो नहीं होता, परंतु वह अन्य पात्रों का निर्देशन अवश्य करता था । यह सूचकार माना प्रकार से इन नाट्यों में प्रयुक्त होता था । नाट्यशास्त्र की हृष्टि से संस्कृत नाटक सबसे पुराने माने जाते हैं ; परन्तु सोकनाट्यों की अवस्थिति तो उनसे भी बहुत पुरानी है । ऐसी कई पुमककड़ नाट्य-मठसियाँ थीं, जिनके प्रदर्शन न केवल मंदि के चौराहों, नांगलिक पक्की तथा मठ-मन्दिरों में होते थे, बल्कि राजाधों और लग्जाटों के दरबार में भी उनके द्वारा मनोरंजन प्राप्त किया जाता था । जैन धर्मों में ऐसी मंडलियों के घरेक उल्लेख मिलते हैं जिनके नाट्य लिखित रूप में कहीं परिलक्षित नहीं होते । इन नाट्यों का सम्पूर्ण स्वरूप, इनकी रंगमंचीय योजना तथा इनकी बनावट के सम्बन्ध में उनसे विशेष प्रकाश नहीं मिलता । इन उल्लेखों से केवल यही जात होता है कि कुछ पुमककड़ कलाकार विभिन्न वेशभूषाओं में विशिष्ट संगीत वादों के सहारे नाट्य-गाकर अपने नाट्य स्वरूप प्रस्तुत करते थे । भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित रंगमंचीय एवं अन्य नाट्य सुम्बन्धों नियमों का प्रतिपालन इन नाटकों में कहीं हुआ हो, ऐसा नहीं लगता । नाट्यशास्त्र के तात्त्विक विवेचन के अनुसार लिखे जानेवाले भास एवं कालिदास के नाटकों से भी सेकड़ों वर्षों पूर्वे भक्तवत्तों द्वारा लिखे हुए बोड नाटक सारिपुत्र के कुछ विवरे हुए अवलोक तात्पर

एवं कहीं-कहीं उपलब्ध हुए हैं, परन्तु उससे भी उसके सम्पूर्ण नाट्यतंत्र का पता नहीं लगता । जिन मनोरंजनात्मक नाट्यों का उल्लेख जैन सूत्रों में हुआ है, वे विश्वव ही बास्तोक नाट्य नियमों से बैद्य हुए नहीं थे और न उस समय विद्वानों द्वारा नाट्यतंत्र की कल्पना ही थी गई थी । वे लोकधर्मी नाट्य नियम ही सभी नियमों से मुक्त होकर स्वचंद्रंद रूप से प्रदर्शित होते थे ।

प्राचीन जैनागमों में ऐसे कई नाट्यों का वर्णन है जो तीर्थंकरों के सामने प्रस्तुत होते थे । भगवान् ऋषभदेव के उद्घव से पूर्व मानव-समाज नाना कलह और संघर्षों में उत्तमा हुआ था, उसी संकान्तिकाल में भगवान् ने मनुष्य में धानन्द-उल्लास की भावना की बढ़ि करने तथा उनको भोजन, विश्वाम धादि की भौतिक भावना से ऊर्ज ऊर्जाकर प्रातिमक प्रानन्द की ओर ले जाने के लिये पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाएँ सिखलाई । जैनागमों में जहाँ देवताओं का वर्णन है वहाँ उनका भोजन अधिकांश नाटक, संगीत, नृत्य धादि में ही जीन हुआ दर्शाया गया है । इन प्रसंगों में जिन सूत्रों का वर्णन है, उनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र में भी नहीं है, क्योंकि उसकी रचना तब तक नहीं हुई थी । नरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिन पौन अकार के अभिनयों, प्रात्यंतिक, सामान्य, नोवानिपातनिक, दार्शनिक और लोकमाध्यम-सानिक का प्रचुरता से उल्लेख है, वे अन्तु: बास्तोक नियमों में बैठे नहीं थे । लोकजीवन में किर भी सर्वत्र इनका व्यापक अवहार होता था । इन नाट्यों के विशद रूप बया थे इनका पता लगाना आज बहुत कठिन है । परन्तु विविध जैन धारागमों में जो उनका अद्भुत वर्णन मिलता है उनसे उनके शुगार, विविध नृत्य-अकार और विविध वाच्यवर्णों के अस्तित्व का आभास उपलब्ध होता है, जिनका उल्लेख स्वयं नाट्यशास्त्र ही में नहीं हुआ है । इन्हीं उल्लेखों में ३२ अकार के नाटक भी हैं जो देवताओं के सम्मुख प्रदर्शित होते थे । इन नाटकों में स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते थे तथा उनमें नाना अकार के रास, नृत्य धादि की योजना थी । इनके लिये कोई विशिष्ट रंगकालाएँ नहीं थीं । कहीं भी जोड़े स्थान में हंडकमंडल ताजकर विविध मिहासनों तथा साजसज्जा के साथ वे प्रदर्शित होते थे । ये अधिकांश में मोखिक परम्परा के रूप में चलते थे, इसलिये इनके विस्तृत कथ मही मिलते ।

विकाम संबत के प्रारम्भ में संस्कृत नाटक लिखे जाने लगे जिनका पूर्ण आधार नाट्यशास्त्र था । जमसाधारण के नाटकों की परम्परा तो उससे भी कई हृजार काये पूर्व की है । मध्यकाल में ये लोकधर्मी नाट्य रास, चर्चरि, काशु

आदि के नाम से प्रभावित हुए, जो जीवन के प्रत्येक आनन्दमय प्रसंगों में जैसे आते थे। ये सभी नाट्य नेत्र ये इसलिये मेरे बड़े आनन्द से गाये जाते थे और नृथ तथा वादन के साथ उनका बहुसंख्यक जनता के समक्ष प्रदर्शन होता था। मेरी जैन तमाखे समय के प्रनुगार अपना स्वरूप बदलते गये। ये ही लोकधर्मी परम्पराएँ याज भी हमारे देश में स्थान, रास, स्वर्ग, तमाखे, जागा, लोलाएँ आदि के स्पष्ट में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय जनभानक आनन्द और प्रेरणा प्रहरा करता है।

### मुत्तलीनाट्य के विशिष्ट नाट्य-तत्त्व

जैसा कि पूर्व परिचयेत् में विवेचन किया गया है कि पूर्वजों और युगपुस्तकों की स्मृतिस्वरूप पत्थर और काण्ठस्मृतियों का निर्माण अनादिकाल से हमारे देश में होता था रहा है। इन स्थिर प्रज्ञ मूर्तियों की पूजा, घर्चना सजाव-नृगार भी उनके प्रति प्रगाढ़ अद्वा और भक्ति के ही द्वारा होतक है। हमारे धारिदरायियों में याज भी काष्ठ, मिट्टी और पाषाण की मूर्तियों न केवल उनके बंदन, घर्चन ही की माध्यम हैं बल्कि उनके घर्चनक तृत्य, गीत, नाट्य एवं सांस्कृतिक पर्वों की सूष्टा भी है। ये काष्ठ एवं पाषाणसंहित किसी समय मानव के उन विशिष्ट व्यक्तियों से सम्बन्धित थे, जो अपने विगत मानवीय नृपों के अमरत्कार के कारण पूजनीय बन गये। वे ऐसे ही समुदाय डारा पूजे जाते थे जिनके सोचने, समझने तथा धर्म मानवीय व्यवहार का दायरा बहुत ही छोटा था। इसलिये कोई व्यक्ति नायों के भुज्ज को हस्या से बचा लेता था, तो वह उनका देवता बन जाता था। सौप के कोटे हुए को जिता देने वाला व्यक्ति अमरत्कारिक पुरुष बन जाता था। कोई विशिष्ट डाकू किसी धनाद्य का भैन लूटकर किसी अत्यकार्य में लगा देता तो वह पूजनीय बन जाता। यही कारण है कि राजस्थान के राजदेवतों, पातूजी, शोगाजी, तेजाजी, डूगजी, जचारजी आदि व्यक्तिस्वरूपीय जनता के लिये देवता तुल्य बनकर धनेकों में से, पर्वों, गीतों तथा नाट्यों के प्रेरक बन गये। मानव और देवता के बीच के ऐसे ही व्यक्तित्व चिह्नों एवं मूर्तियों के स्पष्ट में निर्मित होते थे और नृथगान के माध्यम से उनकी जीवनसाधारणों को प्रस्तुत किया जाता था। ये सब मनोरंजनात्मक व्यक्तिगती मानवीय नाट्य का स्पष्ट इसलिये प्रहरा नहीं कर सकी, क्योंकि मानव को उनकी अनुकृति बनकर व्यवहृत होने की सामाजिक स्वीकृति प्राप्त नहीं थी। अतः इन सब माध्यमों को नाट्यकृत देने के लिये विशिष्ट, काष्ठ और धारायुतियों का सहारा लिया गया। इस सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों

में पर्याप्त प्रकाश दाता गया है और मानवीय नाट्य के अभिक विकास की समस्त मीडियो विस्तार से दर्शाई गई है ।

### चित्रपटों के विशिष्ट नाट्य-तत्त्व

पुतलियों और चित्रों द्वारा विभिन्न महापुस्तकों की जीवन-गाथाओं को चित्रजीवित रखने के लिये जो गीत और शृंखले रचे गये, उनमें नाट्यपुस्तकों की प्रधानता थी । याज मी राजस्वान में पादूबी एवं देवनारायण की जो पहुँच दिखलाई जाती है, उनके साथ गीत गाती हुई दीपदाहिनी महिलाएं तथा पादूबी के पवाहे नाकर नाचनेवाले भोजे इस तरह समा बौध रेते हैं कि जैसे पढ़ों के समस्त चित्र मूर्तिमान हो रहे हैं । गीतों की रचना भी इस काम से की जाती है कि कथा प्रारम्भ में बीजकृप में अवतरित होती है, किर वह घनेक ग्रासगिक कथाओं की अपने साथ लेती हुई एक सुरिता की तरह छोटी-छोटी सहायक निविर्द्धों को अपने में मिलाकर एक बहुद नदी का कप बारय करती है । मूल नायक के चरित्र के उत्कर्ष-स्पष्टकर्यों की घनेक स्थितियों का चयन क्रमबद्ध एवं नियोजित कप से होता जाता है । समस्त गीत संवादों के रूप में प्रस्तुत होते हैं तथा जहाँ कथानक को आगे बढ़ाना होता है, वहाँ वर्णन का सहारा लिया जाता है । गायन और नर्तन करने वाले इन गीतों में इस तरह सराबोर हो जाते हैं कि दण्डक और ओतामणि रसविनोर होकर भूम उठाते हैं । जहाँ युद्ध के वर्णन आते हैं, वहाँ भुजाएं फड़कने लग जाती हैं । विरह-वर्णन में घाँसों से अध्युपारा बहने लगती है और त्याग एवं बलिदान के प्रसंगों में हृदय धार्द हो जाते हैं ।

इन चित्र-गाथाओं के गीत पढ़ने की सामग्री नहीं है । चित्रपटों के सम्मुख गाते-नाचते तथा दीपक दिखलाते हुए भोजे और जोपिन जब इन गीतों का राष्ट्रगानहरया नामक साथ के साथ पाठ करते हैं तभी इसनियति होती है । जिन घूँसों में वे गीत गाये जाते हैं वे नाट्याचित् घुने हैं और जिन दून्दों में वे गीत रचे गये हैं वे भी विविध नाट्यों की पूर्ति में पूर्ण सहायक सिद्ध हुए हैं । कभी-कभी गदि गीत के स्वरसंयुक्त शब्द नाट्य का स्वरूप बोधने में सफल नहीं होते तो उनके साथ नाना प्रकार की शब्दविहीन घुने जुड़ जाती हैं, जो घर्षणीन होते हुए भी गहन घर्षण की सुषिट करती है । इन चित्रपटों पर जोपिन स्थितीयों द्वारा जो दीपक विगताये जाते हैं वे स्वयं भी उनके नाट्य-कृपक में बहा भहस्तपुराणे नाग अदा करते हैं । स्थिररूप से वे चित्रपट पर

रोकनी नहीं कोकते, वटिक यस्तगत कलात्मक दंग से कियाशील होते हुए तथा माटपांडों को तरह प्रभिनय करते हुए इण्डिगत होते हैं। थोपक चुमानेवाली स्त्रियों जब थीपक लेकर चलती हैं तो उनके गहरे रंग के बस्त्र मज़र नहीं फाते। केसल पूमते हुए थीपक और उनके द्वारा बनाई हुई प्रकाश-रेताएँ ही इण्डिगत होती हैं। प्राणिक मुशाघों में चमती हुई थीपवाहिनी भोपिन प्रत्यक्ष होती हुई भी भ्रप्रत्यक्ष-मी लगती है। इसी तरह भोपों द्वारा बजाये जानेवाले रावणाहत्ये तथा उन पर गाये जानेवाले पहुँचीतों पर उनके धंग-प्रत्यंग नाटकीय मायभंगिमाओं का ही धारामात देते हैं।

### चमंपुतलियों का नाट्य एवं रचना-विधान

इन चिविपटों के विविध चित्र जब चमंपुतलियों में विकसित हुए और स्वर्य चलायमान होने लगे तो उनका नाट्यस्वरूप भी किसी निश्चिट दिशा में अप्रसर हुआ। कमडे पर बने हुए चित्र चमडे पर रेखे और काटे गये और छढ़ियों के सजारे उन्हें विविध माटपांडों की तरह चुमाया-फिराया जाने लगा। ये ही कटी हुई आङ्गुष्ठियों बाद में पारदशों की गई और उनकी जगह उनकी लापाएँ सौंदर्य परदे पर नामा प्रकार से किया-कलाप मोग्य बनाई गई। सहजों वर्ष की पृष्ठभूमि लिये हुए ये छायापुतलियों प्राज भी आङ्ग में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई हैं। सहजीय नाट्यपुरुओं से सुझोभित इन पुतलियों को इनकी विशिष्ट परम्परागत जातियों ने राज भी सुरक्षित रखा है। इन कटे हुए चमंचित्रों में किसी पात्र-विशेष का स्वरूप अंतर्हित मानकर उनमें ऐसी अस्तिका का प्रवेश कराया जाता है। इसके लिये नामा प्रकार के संस्कार, अनुष्ठान घारि का धायोजन होता है और गुर्वजों द्वारा प्राप्त हुई इस विष घरोहर को ये नित नवीन चित्रांकन से सशायित रखते हैं। उन्हें सूर्य का प्रकाश भी नहीं दिखाते हैं। किसी यज्ञोऽद्वित व्यक्ति की उस पर छाया भी नहीं पहने देते तथा प्रदर्शन से पूर्ण उसका घर्चन-बन्दन करके उसमें दिवंगत आत्मा का आङ्गुष्ठन करते हैं। जब ये पुतलियों विशिष्ट कछाप्रसंग में अमुक गाझों का प्रतिनिष्ठित करती है और विशिष्ट पूजा-प्रज्ञन के बाद उनमें प्राण-प्रतिष्ठा हो जाती है तो ये दर्शक एवं परिचालकों की पूर्ण भक्ता की पात्र बन जाती है और विशिष्ट नाट्य में प्रविष्ट होने के लिये उनका समस्त व्यक्तित्व परिस्कुटित हुआ समझ लिया जाता है। ये दिवंगत आत्मा की अनुकूलि नहीं बल्कि उनकी प्रतिनिष्ठि भाव समझी जाती है।

उसकी आकृति बचाई जाती है तथा शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों को मानवीय आकृति से निप्रबन्धकर उसका विष्व स्वरूप प्रकाश में लाया जाता है। मानवीय शरीर को छोड़कर जिस विष्व कार्ति का चोला भारण होता है, उसकी कलना विधिवत् की गई हो, ऐसा अनुमान इन चर्म-आकृतियों को देखकर लगाया जा सकता है। सहस्रों वर्षों से परिपक्व हुई यह कल्पना, ऐसा प्रतीत होता है, यदि कोई विशेष परम्परा बन गई है। पृथ्वी पर अनेक पुष्ट वायं करनेवाला मानव देखदेखि में प्रवेश करता है और उसके साथ चुहे हुए समस्त प्राणी अपने पाप-पृथ्वी कर्मों के अनुसार मरणीपरान्त कोई अच्छी योग्य प्राप्ति करते हैं, इसका एक परिपूर्ण टेक्निक इन पुतलीकारों ने पुतलियों को आकृतियों निर्धारित करने के लिये सहस्रों वर्षों के अनुभव से विकसित किया है, इसीलिये किसी विष्व पुरुष की आकृति में जेहरा बढ़ा, ललाट छोड़ा, नेष्ठ चिपान, भुजाएं परिपूर्ण, जंघाएं भरी हुई तथा नाक और होठ सबे हुए और सुन्दर बनाये जाते हैं। शरीर का अनुपात मानवीय शरीर से कुछ छोटा और सुख मानवीय शरीर के अनुपात से काफी बड़ा होता है। हाथों की लम्बाई बहुधा पृष्ठों ते काफी नीचे तक जाती है। पाँव अनुपात से छोटे परन्तु उंगलियाँ कुछ बड़ी होती हैं। इनके सुख गहरे लाल रंग से रंगे जाते हैं। सजावट में गोले रंग की प्रधानता रहती है। भोजे काली पर नयन कलरारे होते हुए भी नीचिमा लिये हुए होते हैं। नाना प्रकार के छोटों से बनाए हुए शूंगार में विविष्व होता है। महानायक के शरीर की रचना में उक्त परम्परा के अनुसार आकृतियों और अनेकरस आदि में कुछ विशेषताएँ और होती हैं, जैसे माथे पर मुकुट, कमर में स्वर्ण-शूला, हयेली तथा हाथों में रलजटित शूंगार। इसी तरह उपलापक तथा अन्य महानायकों की विविष्व आकृतियाँ एवं उनके शूंगार परम्परा से विशिष्ट होते हैं।

दुष्टजनों के लिये विविष्व आकृतियों एवं उनके रंगविकास आदि परम्परा-पुष्ट होते हैं। उनके होठ बड़े, आँखें छोटी, कान बड़े, ललाट सूखम, कंपे रिक्के हुए, नक्ष-स्पत दबा हुआ, पुट्ठे उभरे हुए, जंघाएं पतली, हाथ छोटे एवं उंगलियों अनुपात से बड़ी, केज उच्छृंखल, नाक चपटी, यह भीमकाम, एदियो एवं पाँवों की उंगलियों डेढ़ीमेड़ी एवं विहृत होती है। इसी तरह परमदुष्ट, किन्नित, दुष्ट, अतिदुष्ट, तिकूष्ट, अतिनिकूष्ट आदि यात्रों के अनुपातों में भी नाना प्रकार के भेद-विभेद भवित्वित आदि के काप में परम्परा से चले आरहे हैं। इनके रंगों में भी नाना प्रकार के भेद-विभेद हैं जेहरा लाल परन्तु कालापन लिये हुए होता है।

उसमें यीसे रंग का नितान्त अभाव, काले रंग की प्रधानता, भूरे रंग की प्रतिष्ठायाएँ, हरे रंग की गहराई तथा नीले रंग की कालिमाएँ होती हैं। बारीर पर शृंगार प्राप्तः नहीं के बराबर होता है, तथा कहीं-कहीं तो परिधान केवल लाज ढकने के लिये ही दर्शाया जाता है। अनिवृष्टजन प्रपने नीच कर्मों से जब राक्षसी प्रवत्तियों को प्राप्त होते हैं तो उनके बेहरे भैसे की सी आङ्गतियां जाए, नाक गेंद के समान, बदहु कूप की तरह गड़े हए, हड्डियाँ ऊपर उभरी हैं, दौत बाहर निकले हुए, पांव पिछके हुए, हथेत्तियाँ कटीं की तरह, जैसाएँ पतली लकड़ी जैसी तथा बारीर का दौचा घट्यन्त विकल होता है।

इस तरह न केवल मानवीय पाण्प पुतलियों में निर्मित होते हैं, बल्कि पशु-पश्चियों के भी लाना रुप इन नाट्यों की शोभा बढ़ाते हैं। यदि महानायक का विशिष्ट बाहन कोई पशु होता है तो उसे घट्यन्त पूजनीय मानकर अत्यधिक अलंकृत किया जाता है। प्रपने स्थायी की तरह वह भी दिल्लीयोंनि प्राप्त प्राणी माना जाता है तथा उसके आकार-प्रकार भी पांचिव पशु-पश्चियों ने भिन्न होते हैं। यदि महानायक का बाहन घोड़ा होता है तो उसके बहुधा पेल लगे हुए होते हैं, करोंकि वह कमों-कमी हवा में भी उड़ता है। यदि उसका बाहन कोई हाथी है तो उसके एक गूँड़ नहीं धनेक सूँड़ होती है। ये प्राणी भी उपने स्वामियों की तरह दिव्य प्राणी समझे जाते हैं, अतः पांचिव पशु-पश्चियों की तरह ही इनके सभी अनुपात अतिरेकित होते हैं। दुष्टजनों के साथ पशु-पश्ची न भी चुड़े हों तो भी उनके पुतलीस्वरूपों में वे अनायास ही जोड़ दिये जाते हैं। जैसे भैस, गिर्द, सौप, बिचू, कुत्ते, मध्य आदि।

### पुतलीपात्रों में नारी का अभाव

पुतलीपात्रों के सम्बन्ध में एक विशिष्ट बात जो महत्त्व की है, वह यह कि उनमें नारीपात्रों का नितान्त अभाव रहता है। आज जो चम्पेपुतलियाँ हमारे देश में विद्यमान हैं वे विषय की हाईट से पुरातन पुतलियों से भिन्न हैं। पुरातन पुतलियाँ दिवंगत महापुरुषों के जीवन अंकित करने के लिये ही विवरित हुई थीं। उनके पाण्प उनकी रथायाएँ सौ बेड़ सौ या नारसों पांच सौ बर्ष से अधिक पालीन नहीं होते थे। उस समय प्रवतारों पुरुषों की कल्पना साकार नहीं हुई थी। मर कर कोई जाति देव या भैत बनता है, इसी कल्पना के आधार पर उनका भ्रंतन, जितन और स्मरण निर्भर रहता था। आज तो यान्ध की दायापूतलियों में डीपदी, लतामामा, राधा, सुमदा, अहिल्या आदि नारियों का समावेश हुआ है परन्तु पुतलीपात्रों की तुलना में वे भ्रमी भी

शामाव की स्थिति में ही है । उस युग के पात्रों में द्वौपरी और राधा जैसी दिव्यताएँ भी इनका महत्व प्राप्त कर सकती थीं, परन्तु आज किसी भी देवी के पांच पति एवं किसी विशाहिता स्थी के अहसंस्कृत प्रेमियों की कल्पना अस्पष्ट-हीन कल्पना समझी जाती है । स्थी के प्रति उक्त भावनायों के कारण ही स्थीपात्रों के सम्बन्ध में आकृति एवं रंगमूलक कोई विशिष्ट परम्परा इन पुतलियों में परिलिपित नहीं होती । आनन्द की आधायपूतलियों में वहाँ सीता, द्वौपरी, राधा आदि नारियों का चित्रण हुआ है, वहाँ उन परमाकृति संघरण सम्बन्धी उन्हीं परम्परायों का पालन हुआ है, जो पुरुषों के सम्बन्ध में हुई है । एक बात जो यही अवश्य ही ध्यान देने चाहिए है, वह यह कि इन्हीं की आकृति को अधिक विछृत नहीं किया गया है, उसका चित्रण बहुधा मानवीय पात्रों की तरह ही हुआ है । ऐहरे की मनमोहकता, अच्छी या बुरी नारी में समान रूप से ही कायम रखी हुई है । पुतलियों की नारी को पुरुषों की डीवीडोल करके विचलित करनेवाली ही दर्शाया गया है । वह दिव्य गुणों को प्राप्त करने में सदा ही असमर्थ रही है । नारीपात्रों के झूँगार, छलकरण आदि पर भी अत्यधिक जौर दिया गया है ।

### पुतलियों के भावनय चेहरे

पुतलियों के प्राकार, प्रकार, झूँगार, आहार्य सम्बन्धी इतने बहु शारीकी, जहाँ वह घलिखित हो जाये न हो, स्वयं भरतमुनि भी कलासा नहीं कर सके थे । सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी चरित्रों के वैशभूषा सम्बन्धी जो अवश्य भरतमुनि ने निर्धारित किये हैं, वे सभी पुरातन पुतलियों में विद्यमान हैं । जो आकृतिमूलक विशेषताएँ इन पुतलियों में पाई जाती हैं, जो पात्रों के गुण-दोषों पर तो आधारित हैं ही, परन्तु उसके प्रधान भावतत्त्वों पर भी आधारित हैं । पात्र के प्रधान गुण-तत्त्वों को प्रकट करने वाले प्रमुख संबादों भावों की रेखाएँ जर्मपुतलियों पर अंकित करदी जाती हैं । जैसे किसी विनोदशोल पात्र के मुग की रेखाओं में हास्य, आठक और डर उत्पन्न करने वाले राक्षसी पात्रों की रंग-रेखाओं में जग एवं जान्त सौभ्यगुणी पात्रों के चेहरों से भान्ति का धार भी आमास होता है । वे स्थिरभावी चेहरे यथापि किसी प्रमुख भाव की ही सृष्टि करते हैं, किर भी बदलती हुई भावस्थितियों में वे विपरीत अभाव उत्पन्न नहीं करते । समस्त नाट्यरचनाओं में कथावाचन, कथोपकथन, संगीत तथा पुतली-संचालन की ऐसी अद्भुत विद्या हाती है कि वे स्थिरभावी चेहरे भी कभी-कभी बदलते हुए भावों का अम उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं ।

पुतली-परिचालक ऐसी विषम स्थितियों में स्वयं पुतली को भी ऐसा भोड़ देता है कि उसका बेहतर परदे पर चपटा हो जाने से तुरन्त शंखकाररप्रस्त हो जाता है और जेहरे की आनन्दशयक एवं रसाभास उत्पन्न करने वाली भावमुद्रा तिरोहित हो जाती है । जिस तरह मानवीय पात्र नाट्यमें पर स्थिति के मनुगार प्रथना भाव बदलता है, उसी तरह पुतली-परिचालक भी पुतलियों को तुरन्त भोड़कर उनमें मात्र-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करता है ।

समस्त पुतलीनाट्य के रसप्रतिपादन में पुतली की भावमुद्राएँ जितनी उत्तरदायी नहीं हैं उतनी उसके कथावाचन, स्वरसंचरण, वाचवादन एवं प्रस्तुतीकरण को कलाएँ हैं । मानवीय नाट्य में मानवीय पात्र घपे द्वंग-संभालन, कथोपकथन तथा जेहरे की भावमुद्राओं के माध्यम से रसोइक की स्थिति पैदा करता है और रंगमंचीय साक्षसज्जा, वेशविग्न्यास, मुखविग्न्यास, हृष्ण-विधान, माधव, नर्तन आदि उस प्रमुख भाव को उद्दीप्त करते हैं । परन्तु पुतलीनाट्य में यह कम उल्टा जाता है । पुतली-परिचालकों द्वारा गाये हुए गीत, संवाद, वाचन, गाया, विवेचन आदि विशिष्ट भाव-स्थितियों उत्पन्न करते हैं और पुतलीपात्र जाती आकृतिमूलक लंगमणिमार्गों द्वारा उन भावों को उद्दीप्त करके रसोइक की स्थिति उत्पन्न करते हैं । नाट्यरंत की जास्तीय भाषा में पुतलीनाट्य के नाट्य-प्रमुखग, गीत-संवाद, वाचन आदि रसोइक की स्थिति उत्पन्न करने वाले नाट्यगात्र के समान हैं तो पुतलियों स्वयं रंगमंचीय हृष्ण-विधान, साह-सज्जा आदि की तरह रसोइकपन सामग्री का काम करती है । वास्तव में वास्तविक नाट्यगात्र तो पुतली-परिचालक ही है, जिसके हाथ में पुतली की छहियाँ रहती हैं और जिससे वह उन्हें विविध किया-करायाँगे में निरत करता है । उनके साथ जाता भी वही है और उच्छव-कूद भी वही करता है । वह स्वयं प्रत्यक्ष नहीं होता । वह केवल पुतली को परदे पर पड़ी हुई उसकी छाया के रूप में प्रत्यक्ष करता है । पुतली उसका शरीर है तो वह उसकी प्राण्यादायिनी शक्ति । अतः जो भी भावोइक होता है, वह पुतली-परिचालक में होता है, पुतली में नहीं । पुतली तो केवल उन भावों को उद्दीप्त करके उन्हें अन्य प्रसाधनों की मदद से रस की स्थिति तक पहुँचाती है ।

### पुतलीनाट्य-रचना

पुतलियों के कथोपकथन आदि में भी पुरातन पुतली-मर्मजों ने मानवीय कथोपकथन छोली का भाषार नहीं लिया । उन्हें यह भली प्रकार जात जा कि रक्त-मोर्च-विहीन पुतलियों में संवेदन शक्ति नहीं है । वे हिम सकती हैं,

धर्म-संचालन भी कर सकती है, होठ घोर ग्राहित को चलायमान कर सकती है। तथा बोलने का उपकरण भी कर सकती है, परन्तु वास्तव में वे बोल नहीं सकती। ऐसी स्थिति में उन पर कथोपकथन आदि भास्त्रीय इंग से घोप देने से उनका दर्शकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि युत्तियों से बाचन, संभाषण आदि उसी समय कदाचा जाता है, जबकि वे अत्यधिक कियाशील हों ताकि किया-कलायों के अस्पष्ट अर्थ आव्याखिक अर्थों में मिलकर संपूर्ण अर्थ की सृष्टि कर सकें। पुतली की स्थिर स्थिति में बहुधा कोई संभाषण नहीं होता। उस समय बाचन द्वारा कथाप्रसंग को प्रत्यंत रोचक इंग से बदाया जाता है और प्रत्यक्ष संभाषणजनित कमियों की पूरा किमा जाता है। कथाप्रसंग के चुनाव में भी उन्हीं स्थितियों को प्रधानता दी जाती है, जो कियाप्रधान हों और आदेश, उपदेश, माध्यण आदि अस्त्रिकर स्थितियों से मुक्त हों। पुतलियों के माध्यम से भावाभिव्यञ्जनाएँ जहाँ तक हो सके बचा ली जाती है और उन्हीं उद्देश्यमयी स्थितियों को प्रधानता दी जाती है जिनमें पुतलियों की उछल-कूद, उनकी उड़ान तथा कियाशील स्थितियों सर्वोपरि स्थान पा सकें। यही कारण है कि पुतलीनाट्य की रचना भास्त्रीय नाट्य जितनी सरल नहीं है। पुतली-नाट्यवंश इतना बढ़िया है कि कोई भी साधारण पुतलीकार नवोन रचना करने की हिम्मत नहीं करता। विस्ते ही ऐसे चमत्कारी पुतलीकार पैदा होते हैं जो किसी विशिष्ट पुतलीनाट्य की परम्परा डालते हैं और कई बार्गों में वे परिपक्व नाट्य का स्वरूप पहले करती हैं। आज जो आधं में महाभारत तथा रामायण आदि पर आधारित छायानाट्य बनते हैं उनके प्रारम्भिक एवं मौतिक रूप की कल्पना करना संभव नहीं है। सदियों से वो एक ही नाट्य सभी लोगों की भारतीय कठपुतलियों में बनता है, उसका अर्थ यह कभी नहीं है कि पुतलीनाट्य का रचनाक्रम विवित वह गया है और दर्शकों की उदासीनता के कारण यह कोई भी नवोन रचना का लच बहन करने को तैयार नहीं। सदियों पूर्व रुदी हुई ये भारतीय पुतली रचनाएँ अपने को किसी विशिष्ट रचयिता के नाम के साथ नहीं जोड़ती। उनकी साथेन्द्रता और आपकर्ता इसी में है कि वे सामाजिक घटातल पर अवस्थित हैं और सामाजिक पुतलियों ही का अक्षय उन्होंने लीकार किया है। यही कारण है कि भारतीय पुतलियों सबंदा ही लोकप्रीय पर ही निमित हुई है और किसी अक्तिविलोप की अभिभाविक से वे सदा ही दूर रही हैं। जनभानस पर आज भी उनका जो चिरस्थायी प्रभाव पहता है और सभाज उस रचना को एक सामाजिक संस्कार की तरह स्वीकार करता है, उसके पीछे भी उसकी गहरी लोकशोली ही है।

मारतीय पुतलियों, जो कुछ ही सभों, खड़ियों तथा मूनतम रंगमंचों  
साथ-सञ्चासों के माध्यम से किसी सुधमातिमूलक प्रसंग को लेकर भी इन  
महरा प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उसके पीछे सहजों प्रतिभाषों का हाथ है।  
उन्होंने निरन्तर एवं लम्बे परीक्षण तथा प्रयोग से यह भली प्रकार जात कर  
लिया है कि किस प्रकार के बाजान, भर्तन, गायन एवं परिचालन से पुतलियों  
सर्वाधिक प्रभावशाली हो सकती हैं। पुतली के निर्माण में भी भावोदीपन  
की समस्त वारीकियों का पता-लगा लिया गया है और उन्होंने के अनुसार  
पुतलियों के घनुपात, रंग एवं विविध रेशाओं का प्रायोजन-नियोजन होता है।

### कठपुतलियाँ और चमंपुतलियाँ

मारतीय काष्ठपुतलियों के संबंध में भी ऐही सिद्धांत लागू होते हैं।  
काष्ठपुतलियाँ चमंपुतलियों की ही बंशज हैं। उनको उत्तित चमंपुतलियों के  
मारीरिक भवयों के प्रभाव की पूर्ति के लिए ही हुई थी। चमंपुतलियों में  
स्थूल भरीर की कल्पना करना असंभव था। बजरे बड़ी सीमा तो यह थी कि  
उसका प्रोफ़ील (Profile) बाता मूँह ही सफल अनुकूलितमूलक छाया की सृष्टि  
करता था। सामने का मूँह केवल अंधकार का पूँज मात्र था। पुतली को चुमाने-  
किराने तथा उसके डारा सामुख हुई अन्य पुतलियों की ओर उसका अनुभुत  
होना अत्यंत कठसाध्य काम था। पुतली के अंगार एवं अन्य प्रसाधन भी  
ऐसी डारा ही चिह्नित किये जाते थे। उन पर बहुत आभूषण का बास्तविक  
अंगार संभव नहीं था। इन्हीं सीमाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये काष्ठ-  
पुतलियों का आविर्गत हुआ, परन्तु पुतलीनाट्य-विज्ञान की परम्परा पूर्वतः  
ही कायम रही। कठपुतली के माध्यम से पुतलीनाट्य परिपक्व तथा संवर्गपूर्ण  
प्रबन्ध हुआ, परन्तु वह प्रचलित पुतलीनाट्य के एक विशिष्ट प्रकार के रूप  
में। काष्ठ की पुतलियों में वो नाट्य रचे गये, वे परम्परा से पुष्ट हुए। किसी  
व्यक्तिगतीय की प्रतिमा उनके लिये पर्याप्त नहीं थी। उनकी वृक्षभूमि सेफ़ॉन  
में प्राप्त होती है। इन कठपुतलीकारों को अपनी पुतलियों परम्परा से प्राप्त हुई  
है, जिनकी मुरखा वे चमंपुतलीकार की तरह ही करते हैं। मूल के रंग-रोगन,  
पुतली के अंगार, सजाव, अतिरिक्त आँखियों, बेग, भाहायं, परिचालन,  
संभाषण, गायन, भावानिध्यज्ञन, प्रस्तुतीकरण आदि में भी चमंपुतलियों के  
नियमों का ही पालन होता है। उनके महत्व प्रधान अध्ययन से उनमें अत्यंत उच्चकोटि  
के नाट्यतत्त्वों के दर्शन होते हैं। समय और काल के बदल से इन नाट्यों के बोल  
प्रसारणों अवश्य रह गये हैं, और कई विहृत कथाएँ और शोपक उनमें जुड़

मये हैं । यपनी निर्धनता के कारण इनकी पुतलियों की बेशभूषाएँ भी चिन्हहै वस नहीं हैं । पूर्वजों द्वारा पहिलाई हुई ये पोथाके, जो कई परतों के क्षय में धाज भी यपनी गलित प्रवस्था में विद्यमान हैं, अपने पुरातन बैमब का भास कराती है ।

इन काठपुतलियों के विकृत नाट्य-प्रसंगों में भी किसी विशेष पुष्ट नाट्य-परम्परा के दर्शन हो सकते हैं । इन पुतलियों के रंगों में अनी भी उसी पुरातन परम्परा का अनुशोलन किया गया है, जो धाज भी आनंद की छायापुतलियों में विद्यमान है । राम और कृष्ण के बेहते और शरीर कालिमा लिये हुए नीले रंग के होते हैं । अन्य सब दिव्य चरित्रों के रंगों में लाल और पीले रंगों की प्रधानता है तथा राघवी चरित्रों में काले रंगों का अधोग हुआ है । पुतलियों की साकृतियों की खुदाई में उसी अतिरिक्तात्मक शैली का अनुसरण किया गया है जो बर्मपुतलियों में विद्यमान है । उनको विविध भावनगिमानी की अत्यंत मार्मिक डंग से तराणा गया है । हास्य, विनोद, भयानक, रोद, शान्त और भनमोहकता से परिपूर्ण पुतलियों के विविध बेहृं जिसी न किसी परम्परा के अनुसार ही तराजे मये मालूम होते हैं । यद्यपि उडीसा की अधिकांश पुतलियों परम्परा में ही प्राप्त हुई है और नवीन पुतलियों का निर्माण बहुधा रुक-सा गया है, फिर भी उनसे यह भली प्रकार जात ही सकता है कि उनको मुलाकृतियों तथा दंग-विधान, परिधान, प्रलक्षण आदि में एक विशिष्ट नाट्यपरम्परा निहित है, जिसे धाज उडीसा के सबों एवं कन्हाई भाट लकीर मानकर पकड़े हुए हैं ।

यद्यपि उडीसा की कठपुतलियों में विशिष्ट कमबद्ध कलावस्तु के दर्शन नहीं होते, फिर भी जो जितरे तुएँ कथाप्रसंग धाज भी नीड़द हैं, उनमें बस्तु-प्रवस्था का तनिक आभास मिल सकता है । कृष्ण-कथा में कृष्ण जहाँ नायक के रूप में इशारे गये हैं, वहाँ उपनायक के रूप में बलराम आदि पांचों का उपयोग हुआ है । राधा प्रधान नायिका के रूप में अन्य नायिकाओं से अब भी सबोंपार मानी गई है । यद्यपि इस कथाप्रसंग में अनेक नवोन प्रसंग चुस मये हैं और समस्त नाट्य नवोन पुरातन की एक बेमेल एवं बेस्वाद विचड़ी बन गई है, परन्तु उनका प्रस्तुतीकरण धाज भी अत्यंत प्रभावशाली डंग से होता है । पुतलियों का संभाषण मार्म्बोग संवाद के क्षय में प्रस्तुत नहीं होकर परिचालकों द्वारा पुतली संवाद के क्षय में बनायात ही, प्रकट होता है । गीत परिधान करते हैं परन्तु उनका धारोपण पुतलियों पर बहुत ही मार्मिक डंग से होता है । पुतलियों का प्रधान विद्युपक इस संवाद धारोपण में बदौर्दस्त

हाथ बेटाता है । उह कई कथाप्रसंगों को जोड़ता है और रंगमंच पर नहीं आने योग्य प्रसंगों, दृश्यों एवं पात्रों को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करता है । यद्यपि रामायण एवं महाभारत की कथाओं को इन कन्हैया तथा सली नटों ने बहुत ही मनमाने ढंग से प्रयुक्त किया है और परंपरा की हाइट से उनमें काफी आधार भी पहुँचा है, परन्तु पुतलीनाट्य-विधान की हाइट से उनके ये प्रयोग बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण मालूम होते हैं । उन्हें यह मली प्रकार जात है कि चर्मपुतलियों की तरह उनकी ये काहुपुतलियाँ दर्शकों को दीर्घकालीन अनोरेजन प्रदान करने में असमर्प रहती है, अतः कथाप्रसंगों में उन्होंने जो स्वर्वंचता नी है वह अनुभित नहीं है । छायापुतलियों के आकार-प्रकार, रंग-रूप तथा रंगमंचीय विधान बड़े प्रिमाने पर बनाये जाते हैं । पुतलियाँ भी बहुधा मालवीय आकार भी ही होती हैं । कई दर्शकों के सहयोग से प्रदान भी बड़े प्रिमाने पर प्रस्तुत किये जाते हैं, अतः दर्शकों की संख्या पर कोई प्रतिबंध नहीं है । रंगमंच भी मानवीय कँचाई से ऊपर बनता है, अतः जम्बी दूरी से भी दर्शकगण इन पुतलियों का भली प्रकार आनन्द ले सकते हैं, परन्तु काहुपुतलियों को अनेक सीमाओं में रहना पड़ता है । वे बहुद् दर्शक समाज का अनोरेजन करने में असफल रहती हैं ।

चर्मपुतलियों के संबंध में एक विदेष वात यह है कि इनमें मानवीय मात्रा का विद्य काठकुतलियों से कहीं अधिक निखरा हुआ और स्पष्ट रूप से आरोपित होता है । समस्त परिचालकगण पुतलियों की पकड़कर परदे के पीछे लड़े रहते हैं और पुतलियों के साथ ही स्वयं भी माचते-फूतते, फुरकते एवं उछलते हैं । पीछे की प्रकाश-व्यवस्था की चतुराई के बारण ये परिचालकगण दर्शकों को दृष्टिगत नहीं होते, परन्तु वास्तव में नाट्य के पात्र स्वयं पुतली-परिचालक ही हैं । पुतलियों सी केवल निमित्तमात्र हैं । यही कारण है कि ये छायापुतलियाँ दर्शकों पर रसनिकपण अधिक सफलतापूर्वक कर सकती हैं, परन्तु उड़ीसा तथा अन्य दौली की काहुपुतलियों का दायरा छोटा होता है । दर्शकों की तादाद तो कम रहती है, परन्तु उनके लिये विशिष्ट क्षणिक के दर्शक भी आवश्यक होते हैं ।

उड़ीसा की काहुनिमित पुतलियों की उत्तरही बिलिल भारत और राजस्थान की कठपुतलियों विशिष्ट क्षणिक के दर्शकों को अधिक प्रभावित करती है । हज़के-पूतके, अनुरद्धनात्मक तथा रसीले किस्म के लोग घंटा दो घंटा बैठकर इन पुतलियों का आनन्द ले सकते हैं । गभीर, विम्तमण्डील तथा

दार्शनिक अभिव्यक्ति के लोगों के मनोरंजन के लिये ये पुतलियों अधिक कारण नहीं होती। यही कारण है कि वे काठनिमित पुतलियों इन हल्के-फूलके लोगों को अधिक मनोरंजित करती हैं, खायापुतलियों कम। खायापुतलियों के अनुरंजनात्मक तत्व प्रथिक प्रबन्ध हैं। जपटी और एकमुखी खायापुतली की भीमकाय खाया में पूरे भोस्ट-मास, रक्त तथा मासपेलियों वाले पात्रों की कल्पना करनी पड़ती है, जिसके लिये वयस्क मस्तिष्क और चिन्तनशील दर्दों को आवश्यकता होती है। काठपुतली लिलौगे के समान समूहों प्राहृतिमूलक होने के नाते वच्चों को अपनी और अधिक जीविती है। दिनए भारत की बम्बोलोटम पुतलियों भारत की अति प्रतीन परम्परा में होते हुए भी उन्हें अनेक आधार सहने पड़े हैं। अन्य मुस्मध और वैभवशाली कला स्थक्षणों ने इस स्वरूप को लगभग नगृप्रायः ही कर दिया है। इसका पुनर्जीवन तंजोर के दरवार में आज से तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुका। यतः प्राचीन पुतली-परम्परा और भृत्यकालीन पुतली-परपरा को जोड़नेवाली कोई विशिष्ट कड़ी कायम नहीं रही। आज से दो सौ वर्ष पूर्व कुम्भकुनम तथा मुदुकोटे के विशिष्ट अवधार परिवार उसे तंजोर से अपने यहाँ ते आये और याज तक उसका अभ्यास करते रहे। कोचीन तथा तंजोर के भरतनाड्यम, कुचमुही, कचकलि, यज्ञनाट्य दीलियों की प्रत्यधिक लोकप्रियता के कारण कठपुतली कला को निश्चय ही आधार पहुँचा है, वैत्कियों कहिये कि उनके कारण उसका आयः लोप ही हो गया है। आम्ब में भी केवल उसके उत्तरो-गुर्वा भागों में ही खायाः पुतलियों का प्रचलन है। अन्य मार्गों में उसकी लोकप्रियता को काफ़ी धक्का लगा है। कुम्भकुनम की पुतलियों इसी कारण उड़ीसा और राजस्थान की पुतलियों से भिन्न है, क्योंकि उन्हें अन्य नट्य-स्थक्षणों के मुकाबले जीवित रहना या, यतः वे उनकी हूँड़ नकल के लिए में आविर्भूत हुईं और जिस तरह भानवीय पात्र रंगमें वर नाभते गाते हैं, उसी तरह में पुतलियों भी भानवीय पात्रों की तरह ही छोटे-बड़े होने लगे हैं तथा प्रस्तुतीकरण की हैट से भी वे भानवीय पात्रों की तरह प्रस्तुत होने लगे हैं।

राजस्थान की कठपुतलियों में आज भी पुरातन नाट्यतत्वों के दर्शन होते हैं। भृत्यकालीन राजस्थान की विशिष्ट जासनिक तथा सामाजिक स्थिति के कारण इन पुतलियों ने अपना चोला अवश्य बदला है। मुश्त चालान्य से प्रभावित राजस्थान के रजवाहे अपनी बेलमूषा, भाजा, रहन-सहन, अबहार, अम्बकर्म, समाजभ्यवस्था, कलाकारिता आदि में आगरा तथा दिल्ली की तरफ

उम्मुक्त हुए । परिस्थान यह हुआ कि यहाँ के विविध राजे-महाराजे अपनी समस्त प्रेरणा मुश्लिदरबार से प्राप्त करते रहे । अनेक कलाकार, बादक, नर्तक, कवि, शायर, चित्रकार, दस्तकार तथा नाना प्रकार के शिल्पकार इन राजवाहारों में आध्यय प्राप्त करने रहे । राजस्थान के पुतली कलाकार भी इन आधिकारिक कलाकार वर्गों में से एक थे । वे अपने पुरातन कथाप्रसंग को छोड़कर दिल्ली के दरबारी कलाकारों की तरह ही इन राजा-महाराजाओं के गुण गाने रहे । इनका सबोच्च आध्ययदाता नागोर के राजा अमरसिंह राठोड़ पा, जिसने मुश्लिदरबार में आध्यय पाकर भी समय पर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये उपसे लोहा लिया । महत्वाकांक्षी नागोर के राजा अमरसिंह ने अपनी उपलब्धियों को कठपुतलियों के माल्यम से प्रचारित करने के उद्देश्य से इन पुतलीकारों को आध्यय प्रदान किया, जिसके कलस्वरूप अमरसिंह राठोड़ नामक कठपुतली नाटिक की सृष्टि हुई, जो धार्ज भी अपनी सड़ी-गली अवस्था में विद्यमान है । उसमें परम्परागत पुतलीनाट्य की अनेक विधाओं के दर्शन होते हैं । वर्तमान कथावस्तु जिसी बहुत कथावस्तु की धैर्य मात्र प्रतीत होती है । नाट्यारंभ से पूर्व रंगमंच की सफाई धार्दि के लिये जो भिजती, मेहतर के प्रसंग प्रयुक्त हुए हैं, उनमें तुगड़ुयों काले के माथ जो मनोविजेतारी संभाषण दिये गये हैं, उनमें किसी अत्यन्त महसूलपूर्ण बहुत कथाप्रसंग की ओर संकेत स्पष्ट है । मुश्लिदरबार में विविध राजाओं का यादारेण, नृत्य-गायन का आयोजन तथा अमरसिंह राठोड़ की अनुपाधिति के प्रसंग में जो कुछ भी कहा मूला जाता है, उसमें किसी पूर्व कथा का आमास मिलता है । अजुनगोड़ और सलाहतज्ञों के विवादों में भी अमरसिंह की बंशावली पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । राजस्थान के कठपुतलीवाले धार्ज भी भी दिल्लीसे हैं वह केवल उस बृहद् नाटक का एक हृष्य मात्र है, जिसमें मुश्लिदरबार का वैभव तथा अमरसिंह राठोड़ के जीवे का परिचय दिया गया है । जिन कारणों से मुश्लिदरबार में तलबारे जलों और स्वर्ण बाजाराह को दरबार छोड़कर भाग जाना पड़ा, उनका विवेचन निश्चित ही किन्हीं विशिष्ट वर्षों में हुआ होगा, जिनको समय एवं जनरुचि के अमावस्या में ये कलाकार छोड़ते भले गये कलतः राजस्थानी कठपुतली प्रदर्शन के इस मुश्लिदरबार के हृष्य में विविध कलाकारियाँ विलालाकर जनता को अनुरंजित करने का ही लक्ष्य प्रभूलक्ष्यः रह गया ।

तेलक ने धार्ज से २० वर्षों पूर्व जब राजस्थानी कठपुतलियों की खोज प्रारम्भ की थी तब नव्वे वर्षों माट-नाथू ने कुछ गीत ऐसे मुनाये थे, जिनमें

अमरसिंह राठोड़ के जीवन संबंधी प्रमेक प्रसंगों का उल्लेख था । उन प्रसंगों में अमरसिंह की रानी के बे विवाद भी भीजूद थे, जिनमें उसने अपने बीर पति को मुरालदरबार में पूरी सावधानी बरतने का प्रादेश दिया था । अमरसिंह ने राजपूत जाति के गोरख और उसकी मान-मर्यादा की सुरक्षा के लिये जो भी सुझत्य किये तथा मुगल सम्राटों के प्रति जो उपेक्षा की भावना प्रकट की, वे सभी प्रसंग बर्तमान नाट्य से निकाल दिये गये हैं । नायू से यह भी जात हुआ कि उसी के पूर्वजों ने आज ने १००० वर्ष पूर्व पृथ्वीराज-संयोगिता नामक कठपुतली नाटिका का सूचन किया था । उस संबंध में उसने कुछ गीत भी सुनाये थे, जो उसे अपने पूर्वजों से घरोहर के रूप में प्राप्त हुए थे । इन गीतों का प्रयोग यदा-कदा अप्रासाधिक रूप से अमरसिंह राठोड़ की नाटिका के प्रदर्शन में होता ही रहता है । उसका यह भी कहना था कि भारतवर्ष में जितने भी कठपुतली नट आज विद्यमान हैं, वे सभी उस आदि नट के बंजार हैं, जिसने संबंधित कठपुतली नाट्य की रचना की थी । नायू भाट की बातचीत से यह भी पता लगा कि आज से २००० वर्ष पूर्व विष्णुमादित्य के समय की प्रसिद्ध कठपुतली नाटिका विहासन-बत्तीसी के रचयिता भी उसी के पूर्वज थे ।

बर्तमान अमरसिंह राठोड़ कठपुतली नाटिका की संवाद तथा कथोप-कथन भैसी में आज भी उच्चकोटि की नाट्यविधा के दर्शन होते हैं । कई हजार वर्ष पूर्व ही इन पुतलीकारों को यह जात था कि ये प्राण्यहीन काठ-पुतलियों मानव की तरह बोल नहीं सकती हैं, न उनमें किसी प्रकार का भावात्मक स्पष्टन उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही है, इसी कारण उन्होंने सौटियों की बासी का आविष्कार किया और उसी से बाचन, संभाषण आदि का उपकरण पैदा किया । उनकी यह अस्त्यंत वैज्ञानिक धारणा कि पुतलियों मानवीय पातों को बनुकृति नहीं है, कई हजार वर्ष पूर्व उनके पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई थी । इसलिये उन्हें किसी परलोकवासी का दर्जा देकर उनकी प्राकृति, भाषा, वैज्ञानिक, धर्मसंचालन आदि को मानवीय व्यवहार से पूर्णरूप से बचाया गया । जिस बात का पता आधुनिक पुतलीकार आज लगा सके हैं, उसका पता हमारे भारतीय पुतलीकारों की सैकड़ों वर्ष पूर्व था । सौटियों के कथोपकथन जिस मनोरंजक छंग से इन पुतलीकारों द्वारा उल्लंघन जाते हैं, वह भारतीय कठपुतली-कला की सब से बड़ी विशेषता है । कथोपकथन की यह उसचाने की कला मारत की प्रायः सभी कठपुतली-टोलियों में आज भी विद्यमान है । भारतीय पुतलियों में पुतलियों सीधे संभाषण नहीं करती, किसी न किसी भाष्यम से ही वे संभाषण प्रस्तुत किये जाते हैं । बाचन की इस अनोखी विधि

ने समस्त कठपुतली-कला को इतना अधिक मनोरंजक बना दिया है कि भाज को यह बलित, विहृत और पदच्छ्रुत कठपुतली-कला किसी विशिष्ट कथावस्तु तथा रंगमंचीय साज़-सज्जा के बिना ही समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त की हुई है। इन पुतलियों में अंगभंगिमाओं और भावभंगिमाओं का भी संपूर्ण शास्त्र परिचित होता है।

कठपुतलियों को मानवीय अनुकूलि से बचाने के लिये न केवल उनके आकार-प्रकार तथा व्याकुलियों को अतिरिक्त किया गया है, बल्कि विविध छलों के लिये विशिष्ट अंगभंगिमाओं की भी सृष्टि की गई है। ये अंगभंगिमाएँ मानवीय अंगभंगिमाओं से विलुप्त भिन्न हैं। ये सभी अंगभंगिमाएँ न केवल राजस्थानी पुतलियों में बल्कि भारत की समस्त कठपुतली शैलियों में प्राप्त समान रूप से ही प्रयुक्त होती हैं। भावाभिव्यञ्जन की हृष्टि से जो टेक्निक ये पुतलीकार अपनाते हैं, वह बास्तव में सैकड़ों वधों के अनुभव और प्रयोग का ही परिणाम है। ये निर्जीव तथा स्पन्दनहीन पुतलियों भावाभिव्यञ्जन की विशिष्ट स्थितियों में प्राप्त निक्षिप्त रहती हैं, परन्तु उनकी आकृतिमूलक रेखाएँ उन पर आरोपित भीत-संबंधों की महायता में दृश्यों पर एक विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में सक्त होती है। ऐसी विशिष्ट भावमूलक स्थितियों में पुतलियों किसी ऐसी स्थिरज्ञानी मुद्रा में अपने आपको प्रस्तुत करती है, जिससे एक विशिष्ट ऊटीपनकारी स्थिति पैदा हो सके। यही कारण है कि छाया-पुतलियों में जब राम-भरत का निलाप होता है तो कुछ जासौं तक भरत राम के कंधों पर अपना मस्तक घर कर ठिसूक-ठिसूक कर रोते हैं। सीता की शाया से बचाने में गिरदार लटापु जब यायल हो जाता है और भगवान राम के जब उसे अनितम दर्शन होते हैं तो वह अपनी लौंग भगवान की जंघा पर रखकर निलाप करता है। भगवान अपनी गर्दन के प्रति अपना विरहभाव प्रकट करती है तो वे ऊधों के कंधों पर अपना सिर रखकर निलाप-निमग्न हो जाती है। राजस्थानी पुतलियों में भी जब धोविन के पति को मगर-जा जाता है तो वह विश्रमाव से जमीन पर बैठ जाती है और अपना माथा बार-बार जमीन पर पीटती है।

इस तरह कठपुतलियों के नाना प्रकार के छिया-कलायों का एक नियोजित शास्त्र ही बन गया है जो अनिवार्त होते हुए भी इन कठपुतलीकारों में परम्परा के कल्य में गुलमिल गया है। पुतलियों के मारपीट, युद्ध, भगवादन, भावाभंग, उठने-बैठने, लाने, रोने, हँसने, लाचने, गाने, चिढ़ने, चढ़ने-उतरने, दौड़ने

प्रादि की विशिष्ट कियाओं का एक विशिष्ट कोड (Code) ही बन गया है जो सैकड़ों वर्षों से धरोहर के रूप में उन्हें प्राप्त हुआ है। यह कोड (Code) भारत की प्रायः सभी पुतलियों पर समान रूप से लागू होता है। पुतलियों की भावमूलक प्राकृतियों की रेखाओं में कुछ विशिष्ट परम्पराएँ धरोहर के रूप में कायम हुई हैं, जिनका पालन जगमग सभी परम्परागत पुतलीकार करते हैं। हास्य-प्रथान् पुतलियों के नाक और होठ को दाएँ-बाएँ विकृत रूप से बनाने की प्रथा प्रायः सभी पुतलियों में विद्यमान है। नवानक पात्रों की पुतलियों की मौहे ऊपर छड़ा दी जाती हैं और उनके गाल पुला दिये जाते हैं। इसी तरह दीन, दुर्बल, असहाय पात्रों की पुतलियों की गाँठें गढ़ी हुई, गाल पिंजके हुए तथा गद्दन तनिक भूकी हुई होती है। आया पुतलियों के चेहरे तथा अन्य अंग अधिक नुकीले होते हैं। उमकी नाक विद्येष रूप से नुकीली, मौहे अधिक तेबी से कटी हुई, हीठों के बीच की जगह अधिक स्पष्ट, हाथ की रुमलियाँ अधिक नुकीली बताई जाती हैं, ताकि उनकी लाघाएँ स्पष्ट रूप से उन भावों को प्रकट कर सकें जो गीत-संवादों से व्यक्त किये जाते हैं। पुतलियों की ये अतिरेकनात्मक प्राकृतियाँ, उनके अतिरेकनात्मक हाथ-माथ, किया-कलाप, रंग-रोगन, अंग-भिंगाएँ सभी किसी विशिष्ट प्रयोजन से निर्दिष्ट की गई हैं। निर्जीव पुतलियों में प्रायः और स्पैंडनकारी स्थितियों पैदा करने के लिये इन सब अतिरेकनात्मक काल्पनिक व्यवस्थाएँ बनायी रखी गयी हैं। भारत में आदि के प्राचीनिक कालपुतली-अयोग इसीलिये असफल हो रहे हैं तथा यूरोप के आधुनिक पुतलीकार इस कालपुतली-विज्ञान को पूर्णस्वरूप से समझ गये हैं इसलिये उन्हें अपने प्रयोगों में आशातीत मुकलता मिल रही है।

### पुतलियों का रंगमंचीय विधान

परम्परागत भारतीय पुतलियों का रंगमंचीय विधान भी बाट्यत्वों से से परिपूर्ण है। बम्बोलोटम पुतलीकार वहाँ किसी रंगमंच का प्रयोग नहीं करते। वहाँ कहीं भी पुतली का तम्भूतमा रंगमंच बनाकर इन पुतलियों के परिचालकों को लिखाने की कोशिश ही रही है, वह आधुनिक प्रयोग है। परंपरा से उनका कोई संबंध नहीं है। बम्बोलोटम पुतलीकार स्वयं कुछ गहरे रंग के कपड़े पहिनते हैं। उमकी पुतलियों आदमकाद से छोटी, परन्तु सभी हैंसियों की कालपुतलियों से काफी बड़ी होती हैं। उनके सिर पर बड़ी-बड़ी

ईडोनियों रहती है, जिससे पुतलियों को डोरियों बैंधी हुई होती हैं। इसकी पुतलियों के हाथों में छड़ियाँ होती हैं जो पुतली परिचालकों के दोनों हाथों में पम्पी हुई रहती हैं। काठ या पत्थर के किसी ऊंचे मंच पर इनके प्रदर्शन होते हैं। बहुधा एरण्डो या खोपरे के तेल के दीपक से प्रकाशित रंगमंच पर ये प्रदर्शन दिये जाते हैं। विजली या ऐटोमेक्स की रोजनी इनके लिये अनुकूल नहीं पड़ती। जो नीली-नीली प्रकाश रेताएँ इन तेलदीयों से परिस्फुटित होती हैं, वे इन पुतलियों को एक विशिष्ट प्राकर्यक रंग-कृप देती हैं। पुतली परिचालक स्वयं पुतलियों के साथ इस तरह नाचता-कूदता है कि उसकी ईडोनियों से संबद्ध पुतलियाँ हाथ की छड़ियों के भटके से नामा प्रकार के किया-कलाप करने में समर्थ होती हैं। दर्शकों पर इन प्रदर्शनों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे पुतलियों को तो देखते हैं परन्तु उनके परिचालकों की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता। जापान की बुनराषु पुतलियों की तरह उनका संचालन होता है और इस बात की पुष्टि करता है कि कालान्तर में विश्व की पुतलियों की सभी परम्पराएँ भारत से ही परिषुष्ट हुई हैं। बम्बोलोटम पुतलियों की यह रंगमंचीय प्रणाली बहुत प्राचिक लोकप्रिय इसलिये भी रही कि दणोंकमणा पुतलियों को प्रथिक से प्रथिक संक्षया में देख सको। पुतलियों को खुले रूप में पेश करने की यह प्रणाली सर्वाधिक कारगर उपलिये भी हुई कि जनता की पुतली-परिचालकों को पुतली-परिचालन करते हुए देखने की रुचि इसमें परिषुष्ट होती है। इस रंगमंचीय विधि में पुतलियों के अनुपात और दर्शकों की हिट-रेता के अनुसार ही रंगमंच की ऊँचाई-नियाँ का निर्धारण होता है। इसी तरह दर्शकों की संक्षया के प्राधार पर ही प्रकाश-व्यवस्था की जाती है। इस घोर सर्वाधिक ध्यान इसलिये भी दिया जाता है कि पुतलियों के रंग-रूप, परिचालकों की अद्यता तथा प्रदर्शन की प्रभावोत्पादकता प्रकाश-व्यवस्था पर ही प्राप्तारित है।

राजस्थानी कठुनाली नाट्य की रंगमंचीय प्रणाली भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। याज लो ये चुमक़ह पुतली बाले यो लटिया लड़ी कर के बीच में बौंस के गहारे घपने परवे प्रादि लगाकर यापना काम पुरा कर लेते हैं परन्तु बयोबूढ़ सर्वाधिक माधु भाट का कहना था कि उसके पूर्वज किसी समय लड़े-बड़े राजा-महाराजाधरों के यही आभिन्न ये तथा उनकी पुतलियों के लिये विशिष्ट रंगमंच बनाये जाते थे। विकामादित्य के समय तो स्वयं विकामादित्य का चिह्नामन हो कठपुतलियों द्वारा लिभित था जो दिन में समाट के सिहामन के रूप में प्रयुक्त

होता था और रात्रि को वही कठपुतलियों का रंगमंच बन जाता था । उस सिंहासन में सिंहासनबत्तीसी नामक कठपुतली नाटिका की ३२ ही पुतलियाँ निवास करती थीं जो रात को कियाक्षील हो जाती थीं । नाष्ठु का कहना था कि हमारे दल एक खेड़ से दूसरे खेड़ को बड़े लवाजमें के साथ जाते थे । उनके पास कई सुखिजित बैलमालियाँ तथा हाथी-धोड़े रहते थे, जिन पर हमारी रंगमंचीय साज-सजाएँ और कठपुतलियों देश-देणान्तरों की यात्राएँ करती थीं । प्रदर्शन से पूर्व समस्त नगर में एलान कर दिया जाता था और हमारे प्रदर्शन की देखने के लिये जनता लालायित रहती थी । पहले इन पुतलियों के विविध हश्य उपस्थित करने के लिये कई रंगीन घबनिकाओं का प्रयोग होता था । पाल राजस्वानी पुतलियों में जो ताबमहल नामक प्रमुख घबनिका का प्रयोग होता है वह किसी समय एक आंशिक परदा माज या जो केवल मुगलदरबार का हश्य उपस्थित करता था । इन राजस्वानी पुतलियों के घबनिकमें छारा भेटस्वकल दिये जाते थे । इन नाट्यों में भी तैलटीपों का प्रयोग होता था जिसमें पुतलियों प्रकाशित तो होती ही थी पर उन पर एक अद्वितीय आमा के दर्शन भी होते थे । उनके दल में लगभग १० पुतलीकार होते थे जिनमें गायन तथा बाल्यवादन के लिये लिपियों का उपयोग होता था । उनके प्रदर्शनों में सौ-सौ दो-दो सौ पुतलियों काम आती थी और उनकी लम्बाई, ऊँचाई आज की पुतलियों से काफी अधिक होती थी ।

आनन्द के छायापुतलीकारों का रंगमंच आज भी बड़ा पेचोदा होता है । एक विशिष्ट तम्बू ताना बाता है जिसके प्रमाणे हिस्से पर लगभग १० फुट केंद्रा और १५ फुट छोड़ा पतला सफेद कपड़ा किसी लकड़ी की छोटट के सहारे तान दिया जाता है । यह तम्बू ऐसा बनाया जाता है कि उसमें अंदर की दीर्घनी बाहर नहीं जासके और न बाहर की दीर्घनी अंदर आसके । तम्बू के अंदर परिचालक और परिचालिकाओं का इस प्रणीती पुतलियों के साथ तैयार रहता है । चुंकि ये प्रदर्शन रात-रात भर चलते हैं, इसलिये अंदर मोबान, निवास आदि का पूरा प्रबंध रहता है । पीछे से एकड़ी या तीव्रे के तील के दीपक की दीर्घनी परदे पर लेंकी जाती है । विविध हश्यों के अनुसार परदे के दीर्घिये बूल, पहाड़, मकान, भौंगड़ी आदि के कटे हुए साथन परदे पर काटों के सहारे पिरो दिये जाते हैं और बीच में पुतलियों परिचालित होती है । पुतलियों गढ़े हुए परिचालकों के हाथ में रहती है, इनसिये जमीन से उनकी ऊँचाई अनामास ही चार-पाँच फौट हो जाती है ताकि दर्शकों को देखने में पूरी

सुविधा रहे । चर्मपुतलीकार केवल एक-दो प्रदर्शन के लिये ही किसी जेत्र में नहीं आते । ये कम से कम १५ दिन का निवास तो एक स्थान पर करते ही है । उनके द्वारा प्रस्तुत की गई रामायण, महाभारत तथा भागवत कथाएँ रात-रात भर तो प्रदर्शित होती ही है, परन्तु विशिष्ट परिस्थितियों तथा जनशक्ति को देखकर वे कथाप्रसंगों के विस्तृत रूप काई दिनों तक भी प्रदर्शित करते हैं । ये छायामाद्य किसी समय भान्ड और कोचिन के विशिष्ट जनरंजन के साथन ये और हजारों की संख्या में जनता उनका आनन्दसाम लेती थी ।

उडीसा की पुतलियों का नाट्यमें लगभग राजस्थानी पुतलियों जैसा ही होता है । अन्तर केवल इस्पावलियों तथा परवाँ का है । राजस्थानी पुतलीकार-भाष्यकालीन इतिहास, रस्मरिवाज तथा कथाप्रसंगों से बहुत प्रधिक प्रभावित ये इसलिए उन पर मुगली तथा राजस्थानी कला की विशिष्ट छाया हृषिक्षण होती है । उडीसा के कलाकारों पर अभी भी चार्मिक परम्पराओं का विशेष पुट है तथा रंगमंचीय साह-सञ्जायों में मंदिरों की पिछाई, भासर, कमलबेल, कलशपत्ति, हस्तीकतार आदि विशिष्ट विचारकन के प्रकार प्रमुख होते हैं । पुतली की आकृतियों में जगन्नाथपुरी के मंदिर में प्रतिष्ठापित मूर्तियों की विशिष्ट आकृतियों का भान स्पष्ट होता है । ये पुतलियों किसी समय मंदिरों के ब्रांगण में ही प्रदर्शित होते थे, अतः मंदिरों के बैमब्ब की उन पर स्पष्ट लाप है ।

जयपुर (उडीसा) में आज भी अनेक कठपुतली-परिवार अपनी पुतलियों को आत्मनिक प्रभावों से बचाकर दीन-हीन लवस्था में बोजूद हैं । इनके पर्वों में पुरातन कठपुतलियों के अनेक संग्रह आज भी विद्यमान हैं तथा जिन विशिष्ट सुमिक्षित रंगमंचों पर वे कालान्तर में प्रदर्शित होते थे, उनके छवंसाक्षेप आज भी उनके घर के घटाटे में परिज्ञात हो सकते हैं । मारतीय नाट्यसंघ के दिल्ली स्थित कठपुतली संग्रहालय में इन पुरातन पुतलियों और उनकी साह-सञ्जायों के अनेक ग्राहकों द्वारा सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किये गये हैं । मूरोपीय संग्रहालयों में भी इन पुतलियों के अनेक नमूने बड़े कलात्मक ढंग से संरक्षित हैं । लेखक ने अपनी मूरोपीय यात्रा में म्युनिक स्थित स्टूट संग्रहालय में, जो विहव का सर्वथेठ कठपुतली संबोधालय है, राजस्थानी, उडीसी, मारतीय लायापुतली आदि के अनेक ऐसे नमूने देखे हैं जो भारत में भी उपलब्ध नहीं हो सकते हैं । मारतीय पुतलियों की रंगमंचीय साह-सञ्जायों के भी कई नमूने बहुत विद्यमान हैं ।

भारतीय पुतलियों का भरम उत्कर्ष देखने तथा उनके घटि पुरातन वैभव के दर्शन करने के लिये हमें जावा, सुमात्रा तथा इण्डोनेशिया की पुतलियों का सम्बन्धन करना पड़ेगा । पुतलियों की इतनी परिपक्व और मुख्य विरासत उन्हें भारत से ही प्राप्त हुई है । अंतर इतना ही है कि हम भारतवासियों ने उस वैभव को लो दिया है और इन पूर्वोदयिणी एवियाई देशों ने अपनी प्रतिमा डारा उस वैभव की प्रमिण्यदृष्टि की है । कमानिया में होने वाले द्वितीय एवं तृतीय संतरांश्वर्य कठपुतलों समारोहों में लेखक को इन देशों की पुतलियों देखने और उनके अध्ययन करने का मुख्यवसर प्राप्त हुआ था । उनके कथा-प्रसंग, पुतलियों की साझ-सज्जा, नाट्यविधा, प्रस्तुतीकरण आदि भारत की ही देत है । जिस उच्चस्तरीय नाट्य-स्वरूप के रूप में वे आज भी बही प्रतिष्ठित हैं, उसी तरह भारत में भी उनका किसी समय परम धादर था । इन देशों की भारतीय पुतलियों मानवीय नृत्य की टक्कर लेती हैं । मानवीय नाट्यविधाये जितनी धारा इन देशों में विकसित है उतनी ही कठपुतलियों का बहुत विकास हुआ है ।

भारतीय नाट्य की जननी कठपुतलियों हमारे देश में जिस स्थिति में आज विद्यमान है उससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि हमारी पुरातन पुतलियों भी इसी तरह पिछड़ी हुई और अविकसित थीं । मानवीय नाट्य की लगभग सभी विधायें पुतलियों की कल्पना से ही साकार हुई हैं । उन्हीं पुतलियों ने मानवीय पात्रों को वाचन की तकिया प्रदान की है । मानवीय पात्रों की साझ-सज्जाओं, उनके रंग, परिधान, अलंकरण आदि का पूर्ण प्रभाव है । मानवीय पात्रों के इन सब आगिकी साझ-सज्जाओं के प्रयोग सर्वप्रथम पुतलियों पर ही हुए । वाचन से सर्वप्रथम पुतलियों पर ही आरोपित किये गये । नरेन धार्दि की भौमिकाओं का परेशाण भी सर्वप्रथम पुतलियों पर ही हुआ । रंगभंचीय प्रस्तुतीकरण तो मानवीय नाट्यों ने उपर्योग करने का रूपों कठपुतलियों से ही लाहूण किया है । ऐसा जात होता है जैसे कि किसी स्वरूप को सजाने तथा उसे विविध किया-कलाप्रसूत करने के लिये सर्वप्रथम पुतलियों के रूप में मोडल (Model) बनाये गये तथा उन पर रंग, परिधान, आकृति सूजन आदि के पूर्ण प्रयोग करके ही मूल मानवीय पात्रों को रंगभंच पर साया गया । पुतलीनाट्य जब देश में परिपक्व हुए, उनमें बनरंजन तथा जनशिक्षण की पूर्ण सामर्थ्य आई तथा उनकी समस्त विधाये चरमोत्कर्ष पर पहुँचीं तभी भारतीय नाट्य ने हमारे देश में जन्म सिया । यद्यपि मानवीय नाट्य किसी भी तरह पुतलीनाट्य की हड्डी अनुकूलित नहीं है किंतु जो उसकी समस्त प्रेरणा पुतलीनाट्य से प्राप्त हुई, इसमें

कोई संवेदन नहीं है। यही कारण है कि पुतलियों का प्रतिनिधि संस्कृत नाट्य का सूत्रधार न केवल साधारण पात्र है, बल्कि वह समस्त मानवीय नाट्य का मिदेशक भी माना गया है।

### लोकनाट्यों को विशेषताएँ

अन्य लोककलाओं की तरह ही किसी भी लोकनाट्य का कोई विशिष्ट रचनिता नहीं होता। वह समस्त समाज की अभिव्यक्ति का प्रतीक तथा अनेक प्रतिमाओं के सम्मिलित चमलकार का एक साकार स्वरूप होता है। उसमें जन-जीवन की मानवाओं तथा उपलब्धियों की प्रतिच्छाया होती है तथा नाटक की सफलता-असफलता का मार्गीदार समस्त समाज होता है।

आज हमारे देश में जो विविध ध्येयीय नाट्य उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं, जो विशिष्ट सेवकों की देन हैं और जिन्हें लोकनाट्यों की सज्जा अवश्य दी जाती है; परन्तु बास्तव में वे उस धेखी में नहीं आते हैं। लोकगीतों की तरह लोकनाट्यों के सामाजिक सूजन की प्रक्रिया इतनी सहज और सरल नहीं है। लोकगीत एक व्यक्ति की प्रतिमा की उपज है, जो वाद में अनेक सामाजिक प्रतिमाओं के समिधण से लोकगीतों का दर्जा प्राप्त करता है। परन्तु नाट्य प्रारम्भ से ही किसी भी व्यक्तिविशेष की उपज नहीं हो सकता। उसका प्रारंभ ही सामाजिक प्रतिमा की उपज है। गीत की तरह उसकी उत्पत्ति धर्मिक से नहीं होकर समष्टि से होती है।

समष्टिगत सूजन एक अत्यंत जटिल और उत्तमी हुई प्रक्रिया है। समाज विन धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक भावनाओं से आकर्षित रहता है उनकी गहरी ज्ञान सामाजिक मामले पर अधिकत हो जाती है और समृद्ध के जीवन का प्रश्नेक पथ उससे धोत्रोत रहता है। यदि वह सामाजिक भावना प्रबल धार्मिक नेतृत्व के रूप में प्रकट होती है और उसका लगाव किसी महान् धार्मिक व्यक्तित्व से है, जो समाज का धार्मिक नेतृत्व प्रहरा कर लेता है, तो समस्त समाज उस व्यक्तित्व से धर्माधिक प्रभावित होता है। उसके अवसान के बाद भी उसका यह लौकिक व्यक्तित्व धार्मिक व्यक्तित्व बन जाता है। जनता उसे अपनी घटूट घड़ा और मक्कि का पात्र बना लेती है, उसकी गुण-मान्यते भासे जगती है तथा उसकी स्मृति में पर्व, समारोह जनाती है। उसके अपतित्व के संबंध में गीत रखती है, स्मारक बनाती है, पूजा जर्बन करती है। अर्थात्, स्मरण के ये ही विविध साधन धनुरुक्तिमूलक बनकर विजात जन-समूह के भीष मर्त्य, मायन तथा क्षमा-प्रवर्षन के रूप से लेते हैं। ताने-शाने-

ने ही गीत, प्रवचन, भजन, कथोपकथन आदि उस व्यक्तिविजेत के जीवन संबंधी प्रसंगों की खोकियों का स्वरूप घटाए कर लेते हैं। ऐसे बोल को गायक स्वर देता है। स्वरों तथा अनुहृतिमूलक खोकियों को भाषाकार संवाद प्रदान करता है, विविध कियामूलक प्रसंगों को नतंक भद्रचापों में वाचिक ह कियाजील बनाता है तथा भौमीकार की कल्पना को सामाजिक मस्तिष्क रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।

ऐसे भीमकाय, रामदीय तथा बृहत् सामाजिक महस्त्र के नाटक किसी भी समाज या राष्ट्र के जीवन में फुगों से चले था रहे हैं। प्रत्येक संवेदनशील तथा आकान्त काणों में इन बृहत् नाटकों का कलेवर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उनमें प्रमुख गीतों में ताकूत आती है। उनके कथोपकथन तथा सृत्य परिपक्व होते रहते हैं और कालान्तर में किसी आधारितिक तथा सामाजिक महस्त्र के व्यक्तित्व के इदं-गिदं एक प्रत्यन्त समर्थ नाटक गुणता जाता है जो आवे दिन विकिष्ट प्रसंगों पर अभिनीत होकर उस मृगप्रवर्तक नेता की स्मृति और शिक्षा को कायम रखता है। ऐसे नाट्यों में यह पता नहीं लग सकता कि उनके गीत किसने लिये हैं, कथाप्रसंग का चयन किसने किया है तथा कथोपकथन किस अवस्था से नाटक को सार्वक और जोरदार बनाता है। ऐसे नाटक बहुत्संबोधी तथा बहुसंक्षक बनता को प्रभावित करनेवाले होते हैं।

ऐसे स्थाई मूल्य वाले दोषजीवी नाटक अधिकांश धार्मिक व्यक्तित्व के साथ ही युगे हुए होते हैं और उनका प्रचार और प्रसार दोनों भी बड़ा होता है। सामाजिक व्यक्तित्व पर आधारित नाटक संस्था में न्यून और प्रभाव में सकार नहीं होते। ऐसे व्यक्तित्व बहुधा विवादास्पद होते हैं। समाज के किसी एक घर की उनके चिंदान्त ग्राह्य होते हैं तो दूसरे के लिये वे ही निरर्थक और पातक मिठ ही सकते हैं। समाज का प्रगतिशील पक्ष ऐसे व्यक्तित्व का पुजारी होता है और अप्रगतिशील लोग उसके बोर विरोधी होते हैं। यही कारण है कि वास्तविक लोकनाट्यों की सूखी में सामाजिक नाटकों की संदर्भ बहुत कम होती है। बहुधा तो ऐसे सामाजिक तत्व धार्मिक नाटकों के साथ ही जुड़े रहते हैं क्योंकि समाज को आदेश-निर्देश का कार्य संबंदा ही धर्मचार्यों के जिम्मे रहा है। भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा में समाज-सुधार और पर्मान्चरण में पहले कोई विशेष मन्त्र नहीं था। घर्म के आचरण तथा परंपरागत वर्षपरियादी के अनुशीलन पर आधारित समाज-सुधार ही समाज-सुधार समझ जाता था। निरे समाज-सुधार की बातें कहने वाले तथा तद्रविषयक आचरण

करने वाले का प्रभाव समाज पर विशेष गहरा नहीं होता था । इसी तरह भ्रमेक ऐतिहासिक प्रसंग, जिसमें उमेर तथा राष्ट्र के लिये स्थान, तपस्या तथा बलिदान के कृत्य जनता के हृदय पर अभिट छाप ल्होड़ते हों कभी-कभी जन-हचि को पा जाते हैं और वे भी भौकियों, समारोहों तथा स्मृति-दिवसों का कृत्य भारती कर लेते हैं । उनका एक अत्यन्त स्थूल कप पहले लेल-तमाजों के कृप में जनता के समझ प्राप्त है, तसेवधि गोतों की प्रारम्भिक छुन में भ्रमेक घुने मिल जाती है, गृत्य की पदचारीों में भ्रमेक जारी आत्मसात् होती है, एक चरित्र के अभिनम के लिये भ्रमेक पाप रंगस्थली में उत्तर पाते हैं तथा इस प्रकार के प्रारम्भिक रूपक की क्षणरेता निर्धारित करने के लिये समस्त जनमानस तैयार रहता है ।

भौतिक लोकनाथों का विकास उक्त कथन के अनुसार होता रहता है । जनमानस की हचि तथा अम्य भौतीरजनात्मक तत्त्वों तथा साधनों के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है । उदाहरण के कप में उत्तरप्रदेश की पुरातत रामलीला ही को लीजिये । वह मूलरूप में कुछ और ही थी परन्तु कालान्तर में पारसी नाटक तथा अम्य नाट्य-प्रकारों के प्रभाव से उसमें इत्यावधियों के परदों का उपयोग होने लगा और वहस्तलीय वास्तविक तिथियों पर प्रदर्शन होने की अपेक्षा उसका प्रदर्शन एक ही रंगमंच पर पारसी नाटकों की तरह होने लगा । कलेक्टर की हट्टि से भी इन रामलीलाओं ने तुलसीहृत रामायण से अपना कथोपकथन प्राप्त किया । सर्वाधिक परिवर्तन तो यह हुआ कि उनका सामाजिक प्रदर्शनकारी रूप व्यवसायिक रामलीलाओं में परिवर्तित हो गया ।

महुरा-बृंदावन की रासलीलाओं ने भी अपनी भौतिक नृत्यलीली को कठपकनृत्य-लीली में परिवर्तित कर दिया और उसके लोकधर्मी स्वरूप को शास्त्रीय संगीत की अनुषष्ठ-लीली ने स्त्रयाधिक प्रभावित किया । बृंदावनी रास-सीला का आधुनिक स्वरूप वास्तव में उसके उस भौतिक लोकधर्मी स्वरूप में नहीं है जो आज भी गुलात के 'रासड़ी, गरबारास' याजस्तान की 'रासधारी' तथा 'रासक' में विद्यमान है । वह धीरे-धीरे याचायों और पंडितों के संसर्ग से प्राप्त शास्त्रीय स्वरूप बन गया । इसी तरह बंगाल की जाता का भी पुरा कथान्तर हो गया । एक समय ये जापाएं, लेलकूद, स्त्रीग, कीरंत, संवाद, गीतों के कप में तथा भक्तजनों की यात्रा के रूप में भी विनम्रे भक्तजन घपने इष्टदेव की विविध भौकियों को घपने मालाकाल में प्रदर्शित करते बलते थे । जैतन्य महाप्रभु के समय तक भक्तजन कृष्णभक्ति को प्रमानता देने लगे और ये सभी

यात्राएँ कृष्ण-जीवन से संबंधित हो गई । शोरे-धोरे उन मात्राओं ने भी अन्य लोकनाट्यों की तरह ही समकालीन नाट्यशीलियों से प्रभाव पहुँच करना चुक किया । ये यात्राएँ ध्वनियांकित मंडलियों की धरोहर बन गई और रईसों द्वारा धनिकों के मनोरंजन का माध्यम बन जाने के कारण उनमें इनके आधुनिक विषय समाविष्ट हो गये । जेवाहू प्रदेश की रास्तायारी, जो किसी समय राम, कृष्ण जीवन संबंधी प्रसंगों की एक घटनात्मकीयता कारी सामुदायिक नाट्यशीली थी, प्राज राजा के सरीरसिंह, अमरसिंह राठोह आदि ऐतिहासिक पुरुषों के कथा-प्रसंग अपनाने लगी है ।

इस तरह संकहों वयों के निरंतर प्रबोग-उपयोग से धार्मिक तथा अनुष्ठानिक नाटक विशेष स्वरूप धारण करने लगते हैं और उनके अंग-प्रत्यंग विकसित होने लगते हैं । उनकी यीलीगत नीति गहरी होने लगती है और उनके प्रवार-प्रसार क्षेत्र की अभिवृद्धि के साथ ही के जीवन के माध्यम अनुष्ठान की तरह चुड़ जाते हैं । उनकी अभियाप, रचनाविधि, प्रस्तुतीकरण, गायन, मत्तेन तथा रंगमंचीय प्रकटीकरण की यीली भी रुक होने लगती है । उनकी खुने निर्धारित हो जाती है, तथा भावाभियंजनकारी तुत्य-मुद्राएँ भी निर्दिष्ट हो जाती हैं । कवित तथा गीत-रचना के विविध छन्द-प्रकार भी एक विशिष्ट परम्परा में पढ़ जाते हैं, वाच-वादन आदि के निरचित बोल, वरन आदि निरामी में बोल जाते हैं । ऐसी एक प्रगाढ़ सारणित और अनुभवगत परम्परा कायम होने के बाद उनके ऐसे रचयिता भी प्रकट हो जाते हैं जो स्वयं उक्त मर्यादाओं में रहकर नाट्यरचना करने लगते हैं । उनके गीत, कवित आदि परम्परागत खुनों तथा छंदों में ही रखे जाते हैं । उनकी नाट्य प्रस्तुतीकरण की यीली भी वही होती है । केवल विषय का चुनाव, रचयिता अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं । ऐसे स्वरचित नाट्य भी भाजकत लोकनाट्यों में ही शुमार होते हैं । यद्यपि उनकी रचनाविधि सामाजिक कसोटी पर नहीं उतरी है, फिर भी उनमें पारंपरिक तथा यीलीगत साम्य होने के नाते उन्हें भी विद्वानों ने लोकनाट्य हो माना है ।

विद्वन् १०० वयों में जिसे हुए राजस्वान के लगभग सभी लोकनाट्य (स्पाल) ऐसे हैं, जिनके माध्यम विशिष्ट नेतृत्व नुके हुए है और जिनके नामों से ही उनके स्पाल चलते हैं । ये सभी स्पाल उत्तरप्रदेश की राष्ट्रीयता, रास्तोलीता, बंगाल की जाता, दिलिख भारत के पश्चिमांश तथा यशस्वान की तरह अनुष्ठानिक नाट्य नहीं हैं, फिर भी यीलीगत परम्परा का उनमें निराम होने के कारण वे लोकनाट्य ही में शुमार हैं । इन स्वरचित लोकनाट्यों में कुछ

ऐसे भी हैं, जो प्रदर्शित होने पर लोकविचि को यकृत में है और उनके उनके कलेवर को बड़ाती जाती है। धंकुर स्पृह में लिखा हुआ या पनपाहुआ ऐसा नाटक कालान्तर में कल्पवृक्ष के रूप में विकसित होता है और वैयाकिक प्रतिभा के बदले वह सामाजिक प्रतिभा का प्रतीक बनता है। ऐसी स्थिति में ऐसे नाटकों का लेखक प्रकट कर्ता है अवश्य रहता है। परन्तु बाल्तव में वह समाज ही का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे लेखक, जो अपने मूल नाटक में समाजी-करण का स्वागत करते हैं और अपना व्यक्तित्व उनमें लिरोहित कर देते हैं, वे समाज द्वारा पूजे भी जाते हैं और उनकी कृति प्रत्यधिक कलाती-कूलती भी है। समाज द्वारा उपलब्ध हुई इस स्वागति को भी वे समाज ही को देते हैं, परन्तु ऐसे लेखक, जो अपनी कृति में सामाजिक प्रतिभा का स्वागत नहीं करते, उसमें किसी प्रकार का संशोधन-परिवर्तन स्वीकार नहीं करते, उनकी कृति उनके जन्म के साथ ही मर भी जाती है।

मध्यप्रदेश के साच और सुर्दा कलंगो के अनेक लेख ऐसे हैं जिन पर विशिष्ट लेखकों के नाम अंकित हैं। महाराष्ट्र में भी कई तमाङे विशिष्ट लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तो विकास की इस चरण मीमा तक पहुँच चुके हैं कि वे विदेशीों में आधुनिक नाटकों की तरह ही लेते जाते हैं। बंगाल और घासाम भी कई जावाएँ भी आधुनिक याक-सञ्चारों के साथ विदेशीों में लेनी जाने लगी हैं। लोकनाट्यों का यह आधुनीकरण उनके लिये विकृतिमूलक न होकर निश्चय ही विकासमूलक है। उन्हें समाज के बौद्धिक तत्त्वों का आधार बिल जाने से वे विकासोन्मुख हैं। हीर रौमा, सोहनी-महिलाओं, मूमल महेन्द्र, दोला माझ, भीरा मंगल जैसे पंचाबी और राजस्थानी लोकनाट्य भी शिखित समाज का इयान आकर्षित करने लगे हैं और उन्हें नया जीवन मिला है। इसी तरह आनंद, काल्पनिक तथा केरल देश के यथागान, यथानाट्य, कथकली तथा कामनकोट्ठर नाट्य जो कि उत्तर भारतीय लोकनाट्यों से कहीं धर्मिक संस्कृत नाटकों से प्रभावित हैं, आधुनिक रंगमंच की धर्मेक परम्पराओं को अपने में समाविष्ट कर धर्मिक प्रारुद्धान बन गये हैं। गुजरात के प्रमुख तृत्यकार शीघ्रत जयशंकर मुन्दरी ने तो भवाई नाटक को आधुनीकरण के रंग में इस तरह रंगा है कि उसमें पूनः जीवन का संचार हुआ है।

विशुद्ध लोकनाट्य की कृतियाँ वे हैं जिन पर किसी लेखान्विषेष का नाम जुड़ा नहीं रहता और जिनके प्रसंग विस्तृत जनसामग्री पर चुंबों से प्रक्षित रहते हैं। ऐसे नाटक बहुधा, धनियित होते हैं। उनके कलानाटक सर्वेतिवित

वार्षिक, प्राइवेटिमक तथा ऐतिहासिक प्रसंग होते हैं। ये नाटक बहुधा विश्व-लल और पवन-विचलित जनता के समक्ष मानवीय मादर्श उपस्थित करने के लिये अवतरित होते हैं। इन नाटकों की परम्परा बहुत मुरानी होती है और वे राष्ट्रीय और सामूदायिक महत्व के नाटक होते हैं जो बहुधा किन्हीं विशिष्ट प्रसंगों तथा अनुचानिक पब्लों पर लेने जाते हैं। इन नाटकों के कथानक तथा उनके द्वारा निरूपित मादर्श और उनकी परम्परागत मान्यताएँ इनी प्रबल होती हैं कि उनके अभिनय में विशिष्ट रंगमंचीय लक्परणों तथा प्रदर्शनात्मक दक्षता द्वारा जनता को प्रभावित करने की आवश्यकता नहीं होती। ये बहुधा ऐसे महानुष्ठयों की ओवन-घटनाओं से संबंधित रहते हैं, जिन्हें उमात्र युगों से प्रयाङ्ग स्नेह और अदा की हृषिक से देखता है।

लोकनाट्यों में धार्मिक तथा सामाजिक मादर्श उपस्थित करने वाले नाटकों के अतावा ऐसे नाटक भी बहुत प्रबलित हैं, जिनमें कमी-कमी सामाजिक आदर्शों की पूरी-नूरी घकहेलना रहती है। इन नाटकों में शूँगारिक पक्ष की प्रधानता रहती है तथा जीवनादकों से कहीं अधिक पारिवारिक आनन्द तथा हृषक-मुनके मनोरंजन की ओर सबसे अधिक ध्यान रहता है। कमी-कमी समाज का मनचला वर्ण ऐसे नाटकों के इन धरामाजिक तर्फों पर धनायास ही प्रभावित हो जाता है और उनके साथ अपनी कुप्रवृत्तियों और चेलाओं की आत्मसात कर लेता है। ऐसे प्रसंगों में इनेक धरामाजिक उत्तरों को प्रथम मिलता है। नाट्य में प्रकट होने वाली कुलटा नारी मती दंती से पहुँच अधिक लोकप्रिय बन जाती है। मुटेरा पात्र ईमामदार पात्र से अधिक प्रसन्न किया जाता है। इकमिलाव नौजवान पत्र चरित्रवान् युवक पात्र से बाजी ले जाता है। विवाहित स्त्री-पात्र से कहीं अधिक छिप-छिपकर प्रेम करने वाली मनचली स्त्री-पात्र दर्शकों के मन की साझाशी बन जाती है। राजस्वान के इकलावाल पनवाड़ी, खेला दिलजान, छोटा बालम नामक लोक तथा मध्यप्रदेश के माचों में छोटीली मठियारिन तथा नौटियियों में अंतिक का जाहू, जवामी का नाश, मियाह, पोथा आदि लोकनाट्य भी इसी कोटि के हैं। रात-रात भर असंघर्ष जनता इन नाटकों के प्रदर्शनों का लाभ लेती है, उनकी स्वरूपहरियों तथा मूल्यभेदिमाओं से आत्मविभ्रोत हो जाती है। ये नाटक बला की हृषि से अस्थिरिक कुण्डल नाटक होते हैं और दर्शक उनकी अदायगी की कलात्मक कारीगरी में इतने उत्तम जाते हैं कि उनके हीन चरित्रनायकों का उन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता। ये अतिसार मनोरंजनकारी नाट्य दर्शकों को नाच, गान,

हैंगी, प्राक्तिक हो में इतना उलझा देते हैं कि ये धरामाविक चरित्र उन पर कोई प्रभाव नहीं डालते। पवित्रता दर्शक स्थिरी भृष्ट नाट्य-पात्र को बुला से नहीं देखती, ईमानदार दर्शक वैईमान नाट्य पात्र का तिरस्कार नहीं करता। यह चूब जानता है कि समस्त नाटक में इन सब पात्रों की सृष्टि केवल समोरंजन के लिये हुई है और वे सब असल नहीं हैं, नकल हैं। इसके यह भी चूब जानता है कि ये नाटक, जो समाज का कुत्सित विच प्रस्तुत करते हैं, मनुष्य की धर्मों गोपने के लिये हैं और पवभृष्ट को उनसे सतके रहने का एक सिखानाते हैं।

इन नाटकों के अत्यधिक चूंगारिक तथा धरामाविक कुप्रभावों का प्रतिशोध करने के लिये उन्हें धरिशय कलात्मक और प्रभावशाली होना आवश्यक होता है। इन नाट्यों के अभिनेता धरिशय कलाप्रवीण, नाट्यमंड़ एवं कुत्सल प्रदर्शक होते हैं। वे तबूया अवसाधिक मंडलियों द्वारा ही प्रदीपित होते हैं। इन नाटकों में भी वे ही नाटक सर्वाधिक लोकप्रिय होते हैं, जिनमें प्रभिकारिक सामाजिक गुण विचारान हों और जिनके क्रमबद्ध सूक्ष्म में समाज का प्रभिकारिक हाथ हो तथा जिनका प्रत्यक्ष लेखक केवल निभित्तमात्र हो। ऐसे नाटक निम्न आदर्शों होते हुए भी जनता के कहाँ के हार होते हैं तथा उनके कुचरित्र तथा कुत्सित पात्र भी जनता को सचि को पकड़ लेते हैं।

समाज के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ ही इन नाटकों की प्रभिकृदि होती रहती है और समाज के कलात्मक स्तर के ग्रनुसार ही उनका कलात्मक स्तर बढ़ता रहता है। वे जाहे कितने ही उम्रत हो जावें, कितनी ही कलामंड़ अवसाधी मंडलियों उनका उपयोग करें, परन्तु वे अपना लोकप्रिय गुण नहीं छोड़ते। बंगाल की अनेक बाजारी, महाराष्ट्र के कई तमाजे और पांडिं लंधा कम्बङ के यशानाट्य आधुनीकरण भी प्रक्रिया से ओतप्रोत होकर शिफ्टरों और नाट्यगुहों में प्रवर्गित होने लगे हैं। केरल का कथकली और याघ्र तथा कर्णाटक का यशगान-नाट्य संकुलों वयों की सामाजिक तथा लोकप्रभावी परम्पराओं के साथ ही पिछली १० वर्षीय साताव्दी से बास्त्रीय उत्तरों को धृष्टण करने में सफल है। परिणाम यह हुआ कि इनके प्रदर्शनों में अत्यधिक कलाप्रवीणता और समंजसा की आवश्यकता होती है और अनेक बास्त्रीय जन उन्हें बास्त्रीय नाट्यों में भी गुमार करने लगे हैं। परन्तु इनकी समस्त बास्त्रीय विशेषताएँ और नाट्यविधाएँ भाज भी जनमुख्य रूचि के ग्रनुसार ही प्रयत्नि गर पहुँची हैं, इसलिये वे इतनी उम्रत अवस्था में भी लोकनाट्यों में ही गुमार हैं। इसिए

भारतीय बसता की बीड़िक प्रौद्योगिक समकालीन व्यवसाय इतनी बड़ी हुई है, इसलिये उसकी समस्त लोककलाएं भोरे-घोरे शास्त्रीय कलाओं के समकाल पहुँचने की कोशिश में हैं। बृहदावन की रासायनिक भी बड़े-बड़े समृद्ध वैष्णव मन्दिरों के सम्प्रभ बातावरण में बड़े-बड़े पहिलों प्रौद्योगिक आहारणों द्वारा परिपूर्णित हो जे के कारण शास्त्रीय तस्वीरों से भारी-भरकम हो गई है, किर भी उनका प्रस्तुती-करण का एक प्रौद्योगिक दर्शकों की प्रमिलिचि को देखते हुए वे अभी भी लोकनाट्य की व्येष्णी में ही भारी हैं। उड़ीसा की उड़ीसी शूल्यनाट्य-शैली, जिसका विकास घनेक उड़ीसी वाचाओं तथा कुचपुड़ी शैली के नाट्यों के क्षय में पिछले वर्षों में हुआ है, पुरी के मंदिरों में वाचाओं के संसर्ग से शास्त्रीय तस्वीरों की अपनाने लगी है। इसके जोकलत्व बड़ी तेजी से नुच्छ हो रहे हैं। आज तो ये शूल्यनाट्य न तो लोकशैली ही में शुभार है न शास्त्रीय शैली में ही।

### लोकनाट्य का समाजीकरण एवं व्यवसायोकरण

लोकनाट्यों का मुख्य संबंध ही एक प्रबल सामाजिक प्रक्रिया है। किसी विशिष्ट सामुदायिक प्रसंग पर उनका अभिनय होता है। घनेक सामाजिक प्रतिभाएँ उनका मिलकर प्रदर्शन करती हैं। उनके लिये विशिष्ट रंगमंच बनाया जाता है तथा प्रदर्शन संबंधी सभी सामग्रियां जुटाई जाती हैं। अभिनेता अपनी पोशाके स्वयं जाते हैं। सभीतकार अपना सावेजनिक नर्तक्य नियाने के लिये मालियों के साथ अपनी सेवाएँ देते हैं। गौव का रंगरेज निःशुल्क पोशाकों रंग देता है। बड़ी निःशुल्क कपड़े भीता है। रोकनीयाज्ञा नाई निःशुल्क रोकनी का प्रबन्ध करता है। गौव का हजारई अपनी तरफ से निःशुल्क जलधान का प्राप्तोज्ञन करता है। गौव का जाती रंगमंच बगाने में अपनी निःशुल्क सेवाएँ प्रदान करता है। गौव के भंगी, निकटी धादि भी सफाई तथा छिह्नकाढ़ में किसी से भीछे नहीं रहते। सामाजिक स्तर पर इन नाटकों का प्रदर्शन होता है। इसलिये सभी कलाकार शुल्ककर अपना प्रदर्शन करते हैं और उनकी अभिनयात्मक दुर्लक्षण की धोर कोई भी ध्यान नहीं देता। ध्यादि कोई अभिनेता गाने में कमज़ोर है तो दर्शक तुरन्त गाकर उसकी कमज़ोरी को छिपा देते हैं। ध्यादि किसी शूल्यकार की शूल्य-धादायगी ठीक नहीं है तो दर्शकों में से कोई प्रवीण कलाकार रंगमंच पर बढ़कर उसकी कमी को पुरी कर देता है। इस तरह नाटक के समस्त शूल्य-धोष जगता के शूल्य-धोष बन जाते हैं और दर्शक-प्रदर्शकों के बीच एक भारी सहानुभूति का बातावरण परिस्थित होता है।

इस तरह सामुदायिक स्तर पर प्रदर्शित होनेवाले नाटकों में कुछ नाटक ऐसे भी होते हैं, जो जनहनि को सर्वाधिक पकड़ लिते हैं। उनकी रचना तथा गीतभृत्य-विधि में एक विशेष आकारण होता है। उनके सफल प्रदर्शन में कमो-कमी प्रवीण गायक तथा नर्तक की आवश्यकता होती है तो गीत के लिये स्वयं फिसी निकटवर्ती गीत या भहर से छिह्नी प्रवीण कलाकारों को रंगमंच पर आते हैं और उनकी सेवाएँ निःमुक्त या सशुल्क उपलब्ध करते हैं। ऐसे कलाकार कुछ ही समय में अपनी कलात्मक अदायगी के कारण चमक उठते हैं और गीत-गायि, नगर-नगर में होनेवाले ऐसे प्रदर्शनों में वे कुलाये जाते हैं। उनको बिना वे प्रदर्शन करते भी नहीं हैं और जनता भी उन्हीं का नाम सुनकर कीमती दूर से दर्शनार्थी उमड़ पड़ती है। धीरे-धीरे जोकहनि तथा जनता का प्राप्त हेतुकर ती ये लिप्टिट कलाकार अपनी नाट्य मंडलियाँ स्वयं बना लेते हैं और पुरेप्रचलित सोकनाटों में नानाप्रकार के रंग भरकर उनको अस्थायिक चमत्कारिक बनाते हैं। प्रचलित नाट्य गीतों को वे अस्वस्त आकारक इंग से बाते हैं और उनकी स्वररचनाओं को अस्थायिक भनोरंजक बनाते हैं। उन्होंने वे अस्थायिक चमत्कारिक इंग से बाते हैं और प्रवीण कलाकारों की आदायगी में आर भाँड़ लगाते हैं। इस तरह के अवसायिक प्रयोग से नाट्य अस्थायिक परिपुष्ट होता है और जनसन्चि को अपनी और आकृषित करता है। इस प्रक्रिया से नाटक का कलेचर भी बढ़ता है और उसके अनेक अंग, जो सामुदायिक स्तर पर परिपुष्ट नहीं होते हैं, परिपूर्ण हो जाते हैं। इन नाटकों की प्रदर्शन-विधि अधिक मुट्ठ बनती है और समाज में विश्वरे हुए अनेक प्रवीण कलाकार नाटक को अपना अवसाय बना लेते हैं। इस तरह अनेक नाट्य मंडलियाँ कुछ ही समय में निवार पहली हैं और यादस्वरिक होड़ के कारण नाटकों में भी अधिकाधिक रंग भरते लगता है। सामाजिक स्तर के नाटकों की तरह में अवसायिक नाटक विश्वरे हुए नहीं होते। उनमें पर्याप्त मात्रा में कलावट आ जाती है। नाटकों के गीत, नृत्यों में वो पुनरावृति का दोष रहता है वह दूर हो जाता है और उनकी जगह नवीन गीत, नृत्यों का समावेश होता है।

वे नाटक भी रात-रात भर खलते हैं, जोकि भीलों चलकर दूर-दूर गीतों से आने जाते दर्शक अपनी सारी रात इन्हीं प्रदर्शनों में लगाता जाहते हैं। ताकि वही दूरी रात में विद्याम के लिये उन्हें कोई रथान नहीं हूँडना पड़े और सबरा होते ही वे सोंधे अपने घर लौट जायें। इसको के इस प्राप्त हेतु कारण प्रदर्शकों को विवश होकर नाटक के कलेचर को बड़ाना पड़ता है और

इस तरह अनेक आप्रांतिक प्रदर्शन भी मूलनाटक के साथ जुड़ जाते हैं जिनका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पारस्परिक प्रतिस्पर्धी के कारण अपने नाटकों को व्याधिक आकर्षक बनाने के लिये उन्हें रंगमंचीय साथनों आदि में कई परिवर्तन करने पड़ते हैं। इन लोकनाटयों में रंगीन परदों तथा नाटकीय सामग्री का प्रयोग इसी प्रतिस्पर्धी के फलस्वरूप होने लगा है। यह प्रतिस्पर्धी कभी-कभी इतना ईश्वरीय भीर विकराल रूप घारणा कर लेती है कि इन मंडलियों को अपने प्रदर्शन-लेख तथा जातिगत मनोरंजन के लिये परिवार बौठने पड़ते हैं। इन बैठवारों से प्रदर्शनों का समय, पारिवर्धिक की रकम तथा जातियाँ निर्धारित हो गई हैं। ये प्रदर्शन अब कई जगह जाति तथा जीवन के जीवन में एक परम्परा के रूप में प्रविष्ट हो गये हैं। राजस्थान भीर गृजराठ की भवाई नाटय मंडलियों इसी तरह जातिगत परिवारों के जाल जुड़ गई हैं, जिन्हें वे निश्चित पारिवर्धिक पर मनोरंजित करती हैं। ये भवाई मंडलियों इस तरह विविध परिवारों के लिये विस्तृत होकर अनेक समस्याओं से बच गई हैं।

राजस्थान का भवारी नाट्य भी एक घासिक धनुष्ठान के रूप में परिष्युट्ट हुआ है, जो विशिष्ट विशिष्ट मंडलियों द्वारा विशिष्ट जीवों भीर परिवारों के लिये विशिष्ट समय पर प्रदर्शित होता है। भारतवर्ष में यही एक ऐसी नाट्य परम्परा है, जो अवसायिक नहीं होते हुए भी प्रदर्शन की हालिये जीवों भीर जातीय आचार पर विभक्त होती है भीर किसी सी व्याधिक प्रलोभन के बिना ही डेढ़ माह तक पूरे समय की महिलियों की तरह गठित होकर धनुष्ठानिक रूप से गौव-गौव प्रदर्शन करती फिरती है। इन अवसायिक मंडलियों के प्रसार के कारण सामुदायिक नाट्य प्रदर्शनों की आधारत धराशय पहुंचा है। सर्वेशवाये नाट्यप्रदर्शन यदि बिना किसी परियम के द्वी उपलब्ध हो जावेतो गौव के लोग स्वयं बयों प्रदर्शन करें? आज से ५० वर्ष पूर्व जब देश में सामुदायिक नाट्यों का बाहुल्य था, तब इन नाटकों के लिये विशेष स्वाम था, उनके विशेष रूप-मंच तथा जबूते निमित होते थे, विशिष्ट नाट्य-सामग्री एक जगह सुरक्षित रहती थी, व्यंग भर में कम से कम एक बार नाटक करने के लिये विशिष्ट समितियों बनती थी, उनके विशिष्ट चदे एकाक्षित होते थे, सामूहिक भोज होता था, सब परिवारों को एक बृहत् सांस्कृतिक आयोजन के रूप में मिलने का अवसर मिलता था। वह एक प्रकार से गौव का भृत्यवृद्धि सांखेजनिक त्योहार था। गौव द्वारा उदीयमान कलाकारों की रंगमंच पर आकार अपनी प्रतिज्ञा दराने का अवसर मिलता था। गौव में कुछ वयोवृद्ध लोग ऐसे होते थे जो इन सीकड़ों वर्ष पुराने नाटकों के अनिवार्य भीत-संवादों के खांपड़े सुरक्षित रखते

ये । वे नाट्य की परम्पराओं के रक्षक समझे जाते थे । उनके लिये नाट्य रणमंच पर एक विशिष्ट धारान निश्चित रहता था । तथा समस्त गीत उनकी पूज्य इष्ट से देखता था । लोकनाट्यों के इस अवसासोकरण से निश्चय ही नाट्यों के सामुदायिक सत्त्वों को शति पहुँची है ।

दक्षिण मारत तथा महाराष्ट्र के लोकगण सभी लोकनाट्य सामुदायिक स्तर से ऊपर उठकर अवसायिक स्तर पर पहुँच गये हैं । इसके मूल में केवल यही कारण है कि जनसाधारण का कलात्मक स्तर औसत से ऊपर उठ गया है और सामुदायिक तथा अवसायिक नाट्यविधियों में बहुत कम अन्तर रह गया है । महाराष्ट्र का तमाशा जब सामुदायिक स्तर पर था तो उसका प्रारम्भिक रूप यमतों के रूप में विद्यमान था, उसका सामुदायिक रूप 'गोधल,' 'स्वांग' तथा 'ललित' के रूप में याज भी परिवर्तित होता है । पहले ये ही तमाशे 'मुरतिया' 'सोनडिया' नवतों की सहायता से गीतिकाशों के रूप में विद्यमान थे, बाद में याजरों तथा कवियों की विशिष्ट प्रतिभावंत ने और गेशबाजों तथा राजा-महाराजाओं के विशिष्ट संरक्षण से इनको उच्चकोटि के अवसायिक तमाशों में बदल दिया और लावसियों पादि प्रचलित थुनों ने उन पर गजब का रंग छवाया । आज तमाशा महाराष्ट्र के गीतों से बाहर निकल कर बहुरों के बड़े-बड़े वियेटरों की गोमा बन गया है । महाराष्ट्र के दक्षिणपूर्व के कोकण झेंड में बाजावतार जैसा सामुदायिक लोकनाट्य विशिष्ट कलाकारों और शास्त्रों के समर्क से इसी तरह अवसायिक नाटक में परिवर्तित हो गया ।

दक्षिण मारत का यक्षगान और कथाकली नाटक भी अपने लोकप्रथमी स्वरूप को छोड़कर कालान्तर में अवसायिक और शास्त्रीय नाटकों के रूप में बदल गया । यक्षगान का सामुदायिक स्वरूप 'कुरबंधु' कभी केवल गीतिकाशों के रूप में गीतों में प्रचलित था; धीरेन्द्रीरे उसने भी अपने क पोराणिक कथाओं को अपने में समेटकर अवसायिक नाट्यों का स्वरूप पकड़ लिया । १८ वीं शताब्दी के राजा-महाराजाओं का संरक्षण प्राप्त होने से वे सभी ताट्य यक्षगानों स्वरूप में आ गये, जिनकी अदायगी विशिष्ट अवसायिक लोककलाकार ही करने लगे । १८ वीं शताब्दी से पूर्व दक्षिण मारत में कथकली नाट्य केवल कथागान के रूप में विद्यमान था, गीत के लोग नेगाडे, मृदंग, लांसुरी, भजीरे आदि लोकर अपने इष्टदेवों के जीवन संबंधी गीत गाते भीर नृत्य करते थे, गीत के शुल्क बातावरण में लोगों के सहयोग से गे नाट्य अकुर रूप में प्रस्तुत किये जाते थे । बाद में यही नाट्य-परम्परा नेहरूरी भाष्यकारों की सहायता

में शास्त्रोक्त गृह्य-मामणी प्राप्त कर कथकली जैसे सामुन्नत तथा अत्यंत विकसित शास्त्रीय नाटपों में परिवर्तित हुई, जिसका प्रतिपादन विशिष्ट कलाकारों के प्रतावा किसी साधारण कलाकार-द्वारा एक असाध्य कार्य था।

इन व्यवसायिक तथा शास्त्रीय कोटि के विशिष्ट नाटकों में उच्चकोटि के सधे हुए और परमुप्रत लगातारों के दर्शन अवश्य होते हैं परन्तु वे एक सार्वजनिक तथा सामुदायिक समाजोह का कथ यारण नहीं करते। उनमें सार्वजनिक उत्साह तथा सार्वजनिक सहयोग के दर्शन नहीं होते तथा इन नाट्यों के पात्र जनता के स्नेह और लड़ा के पात्र नहीं होते। उत्तर भारत की राम-भीमाणी, रामलीलाओं तथा विशिष्ट सामुदायिक मात्रा के पात्रों की जिस तरह नाट्य-मार्गित पर आरती उत्तारी जाती है, उसके लिये मिठाइयों और उपहारों के देव लग जाते हैं, उस तरह का सार्वजनिक आदर इन व्यवसायिक नाट्यकारों को नहीं मिलता। सामुदायिक नाट्यों के पात्रों को नाट्यारम्भ से पूर्व मिरचों की पूनी दी जाती है, काले ढोरों से उनके हाथों में जड़े बीज जाते हैं ताकि उनको कोई नज़र न लगे। नाट्य की समाजित पर जनता उनकी आरती उत्तारी है, पर-धर उनका स्वामत-सत्कार होता है तथा जिस घरों में उनका निवास होता है वही दीप जलाये जाते हैं। व्यवसायिक नाट्य अभिनेताओं को आदर अवश्य मिलता है तथा उनकी उपलब्धियों पर उन्हें पर्याप्त मात्रा में धन भी मिलता है परन्तु वे समाज के हृदय में सदा के लिये स्नेहाङ्ग स्थान प्राप्त नहीं करते।

सामुदायिक नाट्यों के प्रदर्शन हेतु दूर-दूर से आये हुए लोकनाट्यियों के लिए समस्त गौव निवास, भोजन, विधाम आदि का प्रबन्ध करता है तथा उनका गौद के प्रतिष्ठि के रूप में स्वामत-सत्कार किया जाता है। लोकनाट्यों के सामुदायिक और व्यवसायिक स्वरूपों में एक सामान्य बात अवश्य है जो इन दोनों को एक ही जाति में शुमार करती है, वह है इनका कथानक। नाट्य के इन दोनों ही स्वरूपों में काल्पनिक कथानकों के लिये कोई स्थान नहीं है। जो ही चरित्र लोकनाट्यों में चलते हैं जिनका परिचय जनता को पहले से होता है तथा जो उनके बीचन के साथ किसी तरह अनुष्टानिक कथ से जुड़े हुए होते हैं। इन पात्रों में ध्विकाव तो ऐसे होते हैं जो जीवनादरों के लिए में उनको प्रेरणा देते रहते हैं। इनमें से कुछ पात्र ऐसे भी होते हैं जो कुत्सित एवं पूर्णित होते हुए भी पूर्व चरित्रनाट्यों के चरित्र को उभारनेवाले होने के नाते जनता के चिर-परिवर्तन या रूपान्तर नहीं जाती, न उनसे सम्बन्धित गीत, गृह्य

तथा प्रस्तुतीकरण और वेळ-विनायक के तरीकों में कोई भी आवायों परंपर करती है। यदि उनको आकृष्टायों और स्वीकृत कल्पनायों और मूल्यों के अनुकूल उनके पाव नहीं उत्तरते तो चाहे वह प्रवर्णन मामुदायिक मंडलियों द्वारा प्रस्तुत किया हुआ हो वा व्यवसायिक, वे उस पाव को रंगमंच पर एक दृश्य के लिये भी नहीं टिकने देते हैं। यही कारण है कि सामुदायिक मंडली के मुकाबले में कोई व्यवसायिक मंडली प्रदर्शन प्रस्तुत करती है तो उसमें किसी प्रकार की कमज़ोरी जनता बर्दाष्ट नहीं करती। इन व्यवसायिक मंडलियों द्वारा कल्पनिक प्रसंगों पर आधारित सूत्य-माटिका प्रस्तुत करने का साहस इसलिये कोई नहीं करता क्योंकि वे जानते हैं कि जनता उन्हें तुरन्त उत्तापिकर की देगी।

### लोकनाट्यों का प्रस्तुतीकरण तथा दृश्यविधान

लोकनाट्यों को विशेषता इसी में है कि वे अनौपचारिक ढंग से रंगमंच पर प्रस्तुत होते हैं। उनके लिये व्यवस्थित ढंग के दिवियावाले रंगमंच, जिल्लों से खलनेवाले दृश्यमय परदे तथा रंगमंच के विविध विधान की आवश्यकता नहीं होती। इन नाट्यों में प्रविशासु तथा पूर्वान्यास की भी आवश्यकता नहीं होती, न उनके लिये विशिष्ट नोटाकों की ही आवश्यकता होती है। जापारण जीवन में जो राष्ट्री-पूरुष पोशाकें पहनते हैं, वे ही रंगमंच पर भी प्रयुक्त होती हैं। पोशाकों का मोटा-मोटा बर्गोंकरण केवल सिममेड के अनुसार होता है। लोकनाट्यों के पाव, जाहे पोरायिक हीं जाहे ऐतिहासिक, आचरण की हृष्टि से सदा ही आधुनिक बने रहते हैं।

इनायती के संबंध में भी केवल प्रतीकों का सहारा ही लिया जाता है। पूरे परदों का उपयोग लगभग बर्ज्य ही है। स्थल, स्थान तथा समय परिवर्तन के संबंध में गाँठों के बाच्चन ही में पर्याप्त संकेत रहता है। कभी-कभी जंगल की बगड़ एक पेड़ की लाचना लेकर लड़ा ही जाना ही केवल पेड़ ही नहीं, समस्त जंगल का भान करा देता है। रंगमंच के आरपार किसी नीले रंग के साफ़े को हिला देने भाव से बहती हुई नदों का भान हो जाता है। जिन प्रट्टालिकायों और भकानों की लह पर बैठकर दर्शकगण नाटक का आनन्द लेते हैं वे ही नाट्य के विशिष्ट दृश्य-स्थल बन जाते हैं। रंगमंच पर ही, पावों द्वारा दस बीस दफा चक्कर लगा जाने से, राम लक्ष्मण सीता की बनवाना समझ ली जाती है। रंगमंच की एक छोटी सी झलांग ही हनुमान द्वारा सीता की सोने के लिये सात समदर की छलांग समझ ली जाती है। कहने का सात्यम् पढ़ है कि जिस तरह रंगमंच के पाव भृपती भूमिका की भवायमी में परम

प्रबोधनाता का परिचय देते हैं, उसी तरह वर्णक भी अपनी विज्ञान रूपनामालिका की अदायगी में पुले पड़ता का परिचय देते हैं। उनकी कल्पना तो यही तक कमाल विवरणाती है कि रंगमंच पर अभिनय करते हुए पात्र को एक स्थिति में तो वास्तविक नाट्य का पात्र मान लेती है और उसी समय किसी दूसरी स्थिति में वह वर्णक के समान ही साधारण मनुष्य। भगवान् राम जब रंगमंच पर काम करते हुए अक जाते हैं तो तनिक विधान भी कर लेते हैं और दर्शकों में से किसी से बीड़ी मांगकर पूछपान करते हैं। इस समय दर्शकगण उन्हें भगवान् राम का स्वरूप नहीं मानते। वे सही माने में सक्षी भावना से राम का अभिनय करते हैं तभी वे राम कहलायें, जेष्ठ सभी दर्शकों में वे साधारण मनुष्य बने रहेंगे, अभिनेता नहीं।

रंगमंच पर प्रवेश आदि के लिये भी किसी विशेष शौचालिकता की आवश्यकता नहीं होती। पात्रों का प्रवेश लोकनाट्यों में विश विधि से होता है वह अत्यंत मौलिक और तृदयप्राप्ति है। मिलारी का अभिनय करनेवाला पात्र दर्शकों में से ही भीत माँगता हुआ रंगमंच पर चढ़ जाता है। राजा का अभिनय करने वाला नाट्यस्थली से किसी निकटस्थ मकान की घट्टालिका से उत्तरकर रंगमंच पर जाता है। यदि किसी को तवाल की किसी अभिषुक को पकड़ता है तो वह दर्शकों में से ही किसी को पकड़कर रंगमंच पर ले जाता है। ये रंगमंच पर लाये जानेवाले असंवित अकिल भी इस तरह रंगमंच पर जाने में सम्पन्न गौरव समझते हैं। दर्शक-प्रदर्शकों का यह समन्वीकरण लोकनाट्यों का प्राण है।

लोकनाट्यों का अपना कोई विशिष्ट योगाकाश भी नहीं होता। बहुधा तो पात्र अपने घरों से ही योगाक पहिनकर जाते हैं और दर्शकों में बैठ जाते हैं। कुछ पात्र अपनी योगाके दर्शकों में बैठकर ही बदल लेते हैं। जलते नाट्य में पाष-परिवर्तन के प्रसंग में योगाकों का यामूलचूल परिवर्तन याकाशक नहीं है। यदि किसी युक्त-पात्र को तत्काल ही किसी स्त्री की भूमिका अदा करनी है तो वह तुरन्त ही अपने डरीर पर चाबर लपेटकर स्त्री का अभिनय करने लगता है। इसी तरह राजा का अभिनय प्रस्तुत करनेवाला पात्र अपने सिर पर एक चमकदार पगड़ी रख लेने से ही राजा यान लिया जाता है।

लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शकों भी पारस्परिक सहानुभूति, कथा-संवेदन आदि बहुत ही मात्रों के होते हैं। राजस्थान के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्शक-प्रदर्शकों का पारस्परिक योग मालाघप्रदर्शन को बहुत ही जानवार बना देता है। भवाई नाट्य में प्रासंगिक-प्रप्रासंगिक अनेक ऐसे हश्य आते हैं, जिनमें लोदा जेजनेवाला

बनिया तथा नाई के प्रसंग प्रधान रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब उन्हें नाई और बनिये के प्रसंग रंगमंच पर प्रस्तुत करने होते हैं तो दर्शकों में से किसी असली नाई और बनिये को रंगमंच पर ले आते हैं और अपना वाँछित अभिनय उन पर प्राप्तोपित करते हैं। दर्शकगण, गीव के इन दो दृष्टि तथा शोषक तत्त्वों की प्रकृति बेक्षणी देखकर, हँस-हँस कर लोटपोट हो जाते हैं। देश का कोई नाट्य-प्रकार ऐसा नहीं है जिसमें इस प्रगताली का प्रतिपादन नहीं होता ही। उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के भगवान् राम और कृष्ण असली भगवान् के स्वरूप ही समझे जाते हैं। प्रदर्शन के समय बनकपुरी में अनुयंत्र के समय समस्त दर्शकसमुदाय बनकपुरी का निवासी समझा लिया जाता है तथा राम बनगमन के दृश्य में जब राम सीता लक्ष्मण रंगमंच से नीचे उतरकर दर्शकों के बीच होकर बन को प्रस्थान करते हैं तो दर्शकगण अपने को अयोध्या की अनता समझकर उनके के चरण स्पर्श करते हैं। उनके विशेष में भूर-भूर कर रहे हैं।

नाट्य प्रस्तुतीकरण की कला में लोकनाट्य बड़े-बड़े उन्नत तथा आधुनिक गैंडों के नाटकों को भी पाठ पढ़ा सकते हैं। इसने नाट्य रंगमंचीय विधान, प्रकाशव्यवस्था तथा गांवोंसे नाट्यप्रसाधन के बायजूद भी यह अनुमति किया जाता है कि जनता उनके साथ आत्मसात् नहीं होती। वह उनकी अभिनयात्मक तथा रंगमंचीय व्यवस्था सम्बन्धीय सूचम से सूचय गतियों को पकड़कर उसे राई से पर्वत बना दालती है। परन्तु लोकनाट्य प्रस्तुतीकरण के हर पक्ष की हृषिक ने यनायास ही दर्शकों के दिल में बैठ जाते हैं। जिस समय गीव की नाट्यमंदसी गाँव लोड़कर किसी दूसरे गाँव में जाती है तो जनता का दिल फट जाता है, स्थिर्या फूट-फूटकर रोती है, विदाई के समय विशिष्ट स्वरूपों को सिरोपाव, नारियल तथा मिठाई की बेट देती है। गाँव के बे लोग जो बहुधा नाट्य में हँसी-मवाक तथा सामाजिक कटाक के शिकार बने हों, भी इस विदाई के समय अपने आपको बड़ा सूना-सूना सा महसूस करते हैं। गाँव का जागीरदार, जमीदार तथा यनाड़ी निया, जिनकी इन लोकनाट्यों में जुरी तरह मरम्मत होती है, इन नाट्यों के सबसे बड़े संरक्षक होते हैं।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण की कला में राजस्थान के सुराजलसी विशेषकर से उल्लेखनीय है। उनकी गगनकुम्ही घटातिकाएँ जो रंगमंच के दौर्मानों तरक विशेषकर से बनाई जाती हैं वे नाट्यप्रदर्शन में महत्वपूर्ण माय अदा करती हैं। एक घटातिका से स्त्री-पात्र उत्तरकर-रंगमंच पर प्राप्ता है तथा

दूसरी से 'पुरुष-शाश्वत' । ये दोनों अट्टालिकाएँ एक तरफ से नाट्यमंच की साइड-विंग (Side-wings) हैं, जिनमें पात्रों का प्रवेश युते भ्राम ढंके की ओट होता है । प्रथम प्रवेश में हो जब ये ताप २० फॉट की ऊंचाई से अपने शीत-संवादों की अदायगी करते हैं तो जनता के मानसपटल पर उनको गहरी आप ध्रुकित हो जाती है । दोनों अट्टालिकाओं के नम्बे फ्रांसले के बाबजूद भी उनके पारस्परिक संवाद दर्शकों पर तीर की तरह चुम जाते हैं । उन्हें किसी प्रकार के लाउड-स्पीकर या माइक की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि लोकनाट्यों में प्रधुक होनेवाले सभी पात्र भीलों दूर प्रसारित होनेवाली दुलन्द आवाज में गाने के सम्पन्नता होते हैं ।

इस नाट्यदीली में एक विशेष प्रणाली भीर है जो आकर्षण की वस्तु है । वह है पात्रों द्वारा अभिनय करते समय छहियाँ चुमाना । ये छहियाँ पात्र अपने हाथों में धारे रहते हैं । उनके सिरों पर कामज़ के घर्त्यन्त आकर्षणक फूल लगे रहते हैं । नृत्य के समय ये छहियाँ पात्रों की अग्रभगिमायियों के साथ धूमती रहती हैं और घर्त्यन्त मनमोहक दृश्य उपस्थित करती है । हजारों की संख्या में दूर-दूर बैठी हुई जनता की ये छहियाँ अभिनेतायों के अंगों की ही अंश प्रतीत होती हैं और घर्त्यन्त मनमोहक दृश्य उपस्थित करती है । कियाएँ ऐष्ट दिलालाई देती हैं । मेवाह की रासायारियों में भी भूल रंगमंच के ताप ही एक महस या अट्टालिका ऐसी बनाई जाती है जिसमें नाट्य के अनेक महत्वपूर्ण कार्य-कलाप दिलालाये जाते हैं । मध्यप्रदेश के मात्र जीलों से प्राठ फौट ऊंचे बांधे जाते हैं जिन पर पात्र अपने कार्य-कलाप दिलालाते हुए घर्त्यन्त प्रभावशाली भास्यम होते हैं । ये मात्र इतनी ऊंचाई पर प्रदर्शित होते हैं कि कभी-कभी जनता अपनी छतों पर बैठकर ही उनका श्रव्य और हृष्य लाने ले लती है । उनके नृत्यों व गीतों में इतनी ताकत होती है कि पनघट पर पात्र भरती हुई शुहियियाँ अपना हाथ जला बैठती हैं । पानी भरती हुई हितयों उन्हें गुनकर छिठकी हुई याहों रह जाती हैं । ये मात्र-प्रदर्शक अपनी कलात्मक अदायगी के कारण अनेक स्थिर्यों को मंत्रमुख कर लेते हैं और उन पर ऐसा वशीकरण मंत्र खोड़ देते हैं कि कभी-कभी वे अपनी हरीमरी गृहस्थी को छोड़ इन मात्रवालों के साथ हो जाती है । यहो कारण है कि मात्र-प्रदर्शन के समय मात्र भी पुर्णिमा की घर्त्यन्त आवश्यक रहना पड़ता है ।

मेवाह के भीलों के बजारी नाट्य में तो उत्तमाहूँ और आयोड़ेक का एक समुद्र ही देखने को मिलता है । नाट्यप्रदर्शन के समय जब उसका ग्रमुक अभिनेता

बूद्धिया रोड रूप भारत कर लेता है तब दर्शकों ने बैठी हुई स्थिया मावोइक के कारण कम्पायमान हो जाती है। लोकिक हिष्ट से उनमें देवताओं का प्रवेश हुआ जमभान जाता है। माराठ्यादेव बूद्धिया जब अपनी मोर पंखी से उन्हें छाड़ता है तभी वे चेतन्य अवस्था में आती है। उसी मावोइक में गवरी के प्रदर्शक तीन-तीन भविल से जगीन पर कूब पहते हैं तथा पेड़ों पर चढ़े हुए डाकू-अभिनेता फूल की तरह जगीन पर लटक जाते हैं। वे सब चमत्कारिक घटनामें नाट्य को प्राकर्षक बनाने में समर्प होती हैं। कमी-कमी बंजारे की बालद गाँव के एक छोर से गाती नाचती हुई रंगस्थली में प्रवेश करती है। कमी-कमी गाँव की भोपडियाँ ही संबरों के डोर बन जाती हैं। वे गवरी-नाट्य, जो कि दिन में सुबह से शाम तक अभिनीत होते हैं, मूल गामीण जीवन के ध्या बन जाते हैं। कमी-कमी यह भी यान होना कठिन होता है कि नाटक कौनसा है और दैनिक जीवन की मूल किसाएं कौनसी हैं? नाटक-पात्र अपना अभिनय करने के उपरांत वहाँ पास के किसी घर में जाकर मुस्ता लेते हैं और दूसः अभिनय में शामिल हो जाते हैं। इसी तरह दर्शक भी कुछ देर प्रदर्शन देखकर अपना खेत संभालने भले जाते हैं और विशिष्ट प्रसंग में पूजा आदि के लिए पुनः लौट जाते हैं। नाट्य का नायक बूद्धिया जब यक जाता है तो अपना मुखोटा (mask) किसी दर्शक के मुँह पर बांध देता है और वह दर्शक बूद्धिया की भूमिका अदा करने लगता है। गवरी नाट्य इसी धार्मिक अनुष्ठान के रूप में संकेतों वर्षों से हो रहा है और दर्शक भी उसे अनेक बार देख चुके हैं, फिर भी वह चिरनवीन ही रहता है और दर्शक-प्रदर्शक अपना दैनिक कर्म करते हुए भी पारस्परिक सहयोग तथा समन्वय से इसे सफल बनाते हैं। दर्शक-प्रदर्शकों का यह अद्वितीय समन्वय भारतवर्ष में किसी भी नाट्य में परिवर्षित नहीं होता। मारा गाँव ही प्रदर्शन-स्थल बन जाता है। इस नाट्य में सभी दर्शक प्रदर्शक हैं और सभी प्रदर्शक दर्शक हैं।

गवरी नाट्य की संवाद-विधि भी अद्वितीय है। देश के किसी नाट्य में उसके दर्शन नहीं होते। इस नाट्य में किसी प्रकार के धोपचारिक शब्द या गीत-संवादों का प्रयोग नहीं होता। मूल, अंगभैगिमानों तथा भावमुद्राओं से प्रोत-प्रोत यह नाट्य दर्शकों के मन पर त्यादी प्रभाव लालता है तथा रोड, बोबल्स, लीर, शृंगार और हास्य रसों के परिपाक हारा उल्काण आनन्द की मृष्टि करता है। नाटक का मूलधार कुट्टिहिया ही इस नाट्य का प्राण है। वही समस्त नाट्य के कामानकों को अपनी विशिष्ट संवादीयी में मुलभाता

है। वह पापों से स्वर्यं प्रश्न करता है और उनका उत्तर भी एक विचित्र शैली में द्युद ही देता है। यद्यपि नाट्य में कुटकड़िया के माध्यम से समस्त कथा का रहस्योदयाटन स्वयं में एक अत्यन्त रोचक और आकर्षक प्रक्रिया है।

लोकनाट्यों की भावाभिव्यञ्जना में अतिरेकना और प्रतीकात्मकता की प्रधानता रहती है। गद-संवादों की भनुपस्थिति में गीत-नृत्यों के माध्यम से प्रकट होने वाले प्रयोगन, प्रतिशब्दोक्ति और प्रतीकों का आधार प्रहृण नहीं करें तो वे भी सार्थक नहीं हो सकते। कोष और आवेश प्रकट करने के लिए लोकनाट्यों का अभिनेता अपने पाँवों की नृत्य-वाले अत्यन्त गतिमान और तीव्रतम बना देता है और आगिक मुद्राओं को अतिरेकित कर एक विचित्र-से तनाव को सृष्टि करता है। पृथग्भूमि में गाये जाने वाले गीत-संवाद की समाप्ति पर उसकी विचित्र चाले वर्णों पर अद्वितीय प्रभाव उत्पन्न करती है। यद्यमान, दशावतार तथा कथकली नाट्यों में पहाड़ पर चढ़ने का उपक्रम याहू अपनी टांगे विचित्र ढंग से ऊपर से नीचे रखकर करता है तथा बिना किसी पहाड़ या टीके पर चढ़े ही चढ़ने का अद्भुत प्रभाव उत्पन्न कर देता है। उत्तरप्रदेश की राजस्तीजालाओं में जब वासुदेव मगवान् कृष्ण को कंस की कूर हृष्टि से बचाने के लिए जमुना पाइ करते हैं तो रंगमंच पर अपने कपड़े उठाकर इस ढंग से चलते हैं कि बिना नदी विचलाये ही नदी का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। राजस्तानी रूपालों, मध्यप्रदेश के मालों तथा महाराष्ट्र के तमाङों और लजित में अपने गीत-संवादों के प्रयोगन की अधिक हृष्यप्राप्ति और भूमेश्वरी बनाने के लिए संवादसंलग्न पात्र एक दूसरे को गार करते हुए विपरीत दिशाओं में तीक्रमति से नाचते हैं और गीतों के मान पर चक्कर लाकर अत्यन्त चमत्कारिक ढंग से चढ़े ही जाते हैं। यह पद्धति पूर्वी भारत की जाताओं, विश्वा भारत के यद्यमान तथा विचिनाट्य कथकली आदि में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त होती है। संवाद-कथन को यह अद्भुत शैली भारतीय लोकनाट्यों की प्राणी बन जूकी है। अन्तर केवल इतना ही है कि किसी नाट्य शैली में स्वर प्रधान रहते हैं, किसी में जब तथा किसी में ताज। कथकली और यद्यमान में संवादगान के घन्त में ताम-तम-संयुक्त पदचारों की प्रधानता रहती है जबकि राजस्तीजाली रूपालों और भाजवों मालों में जब्दों की। उत्तर प्रदेश की राजस्तीजालाओं, बंगाल की जाताओं और विहार की विदिसिया में स्वरों का सानितय अत्यन्त महसूलपूर्ण भाग अदा करता है। संवादगान के छंदबद गद्द दर्शकों पर चुम जाते हैं। कभी स्वरों की रसधार अमृतपान कराती है और कभी तालबद्ध नृत्य की पदचारे दर्शकों को चकित कर देती है।

भाभिनेता के अस्तित्व की छाप इन्हीं विशिष्ट स्थितियों में वर्णकों पर अंकित होती है। लोकनाट्यों की यह पदम प्रमाणकारी मुक्ति किसी भी आधुनिक नाट्यों में परिवर्तित नहीं होती। ये परिवर्तितयों संबंध तथा नृत्यमय गीतों द्वारा गल-गल में उपस्थित होती है। वर्णकों की भावभूमि पर बार-बार चोट पड़ने से वे स्वयं भास्त्वविद्यों हो जाते हैं और नाट्य के अन्य सभी विद्यों को भूलकर इन स्वर, ताल तथा आंगिक भंगिमाओं की चमत्कारपूर्ण आवायगी के कायल हो जाते हैं।

लोकनाट्यों के प्रस्तुतीकरण में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनकी आवायगी में रंगमंच, रोपनी, सजावट, हड्डय-विधान, वेश-विस्यास पादि कोई महत्व महीं रखते। उनके प्रस्तुतीकरण की समस्त कला अभिनेताओं की नृत्य-आयन, आवायगी तथा स्थिति, स्थान, प्रसंग-वेजभूषा, चरित्र तथा अभिज्ञन की प्रतीकारस्तकता में है। जो अभिनेता इन कलाओं में प्रवीण नहीं होता उसका रंगमंच पर कोई स्थान नहीं है। लोकनाट्यों के अभिनेता सेकड़ों में एक होते हैं। किसी स्त्रीलता यादगी का उसमें काम ही नहीं है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट क्षेत्र में प्रचलित लोकनाट्य के विशिष्ट धारों के अभिनय के लिये कुछ ही विशिष्ट कलाकार होते हैं। या तो वे धारनी आंगीविका के लिये अवशायिक नाट्यभृतियों में जटीक हो जाते हैं या सामुदायिक नाट्यों में युसावे पर काम करते हैं। ऐसे कलाकार उस विशिष्ट क्षेत्र में चमक जाते हैं और दर्शकों के हृदय के हार होते हैं। उनके रंगमंच पर आने से जनता के दिल हँडे हो जाते हैं और प्रदर्शन में चार चाँद लग जाते हैं। ऐसे कलाकार जीवनपर्यन्त यही काम करते हैं। ये दैनिक जीवन में भी कलाकार बनकर ही रहते हैं। कोई दूसरा बंधा करने में वे असमर्थ रहते हैं और यांव-गांव युसावे पर जाकर अपना जीवन अन्य चम्भते हैं। ये सोल-कलाकार अपने इस काम को आजीवन बिना किसी आंगिक आकृताओं के शोकिया ढंग से करते हैं और इन्हीं नहीं ही उनके पीछे-मीले दौहता है। जनतावनादेन उनको उपेतियों पर छढ़ाकर रखती है और उन्हें धारनी आंगीविका के लिये एक क्षण भी कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

### लोकनाट्यों में नारी

भारतीय लोकनाट्यों में नारी का अभिनय पूर्वों के ही लिम्मे रहता है। इसी को यह प्रवस्तर कभी प्राप्त नहीं होता, याहे स्थिरी अभिनय के लिये प्रकृत भाव में ही व्योन उपलब्ध होती हीं। स्वयं भोव जाति के गवरी नाट्य में

भी स्त्रियों का काम पूर्ण हो करते हैं जब कि उनके घन्य सभी गूलों में स्त्रियों की सम्मिलित होने की पूरी कहुँ है। दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, बंगाल, झारसाम, उड़ीसा आदि के वक्षगान, कपकनी, कुचपुड़ी, तमाङा, जात्रा आदि लोकनाट्यों में पूरण है स्त्रियों का भाग अदा करते हैं, जब कि इन शेरों में सामाजिक दृष्टि से स्त्रियों प्रत्येक कलात्मक कार्य में अप्रणीती रहती है। परन्तु किर भी नाट्य की सफलता तथा प्रभावोत्पादकता के लिये स्त्रियों का काम पूर्ण ही करते हों नाटक में रंगत आती है घन्यगान नहीं। उत्तरप्रदेश की कुछ आधुनिक नौटंकियों में नर्तकियों का प्रयोग होने लगा है, परन्तु यह बेता गया है कि जनता कुछ अंशों में तो उन्हें बदाइत करती है परन्तु उनका रंगभंगीय धारिपरवर्य उन्हें स्वीकार नहीं। किसी भी नाट्य की प्रमुख नाचिका, विशेष करके चरित्रकांती नाचिका, का अभिनय पूर्णयों द्वारा किया जाना ही गोरखपूर्ण समझा जाता है। हमारे समाज में ऐसी मान्यता भी खर कह रही है कि रंगभंग पर काम करने वाली धर्मिकाओं स्त्रियों चरित्रहीन होती है और ऐसी भृष्ट नारियों द्वारा सती स्त्रियों तथा सप्ताहियों का अभिनय कराना प्रतिष्ठा के विषद्द है। धार्यरा की एक प्रसिद्ध नौटंकी में सती तारामती का अभिनय धार्यरा की एक प्रसिद्ध तबायफ़ द्वारा किये जाने पर एक अवृक्ष अदावत हो गई थी। इस पूस्तक का लेखक स्वयं दर्शकों में भौजूद था। जब तक उस तबायफ़ के ल्यान पर दर्शकों का बनवाहा बालप्रनिनेता चिरंजीव नर्थी बेता में तारामती का अभिनय नहीं करने लगा, दर्शकों ने घपना धार्यह नहीं छोड़ा। यह बात केवल स्त्रियों के अभिनय तक ही सीमित नहीं है। सच्चरित्र नायकों के चरित्र भी सच्चरित्र पूर्णयों द्वारा ही अभिनीत होने चाहिए, ऐसी परम्परा भी भारत के लगभग सभी धार्मिक लोकनाट्यों में धार्ज भी प्रचलित है। उत्तरप्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के राम, कृष्ण, सीता, सच्चरित्र तथा सदाचारी वालकों तथा पुत्रों पर ही निर्भर रहती है।

लोकनाट्यों में स्त्रियों के अभिनय के लिये स्त्रियों का प्रयोग यज्यं इसलिये भी है कि वे लोकनाट्यों के शोजपूर्ण और कट्टसाध्य कार्यों के लिये शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी योग्य नहीं समझी गई है। रावस्यान के भवाई नाट्य में तो भवाई अभिनेता इपनों स्वीं को उनके द्वारा अभिनीत होने वाले साट्यों को देखने भी नहीं देते। परं वे तुक्क-स्थितकर उन्हें देख भी नहीं तो उसी समय तत्त्वात् में उनके गते काट दिये जाते हैं। ऐसी घटनाएँ राजस्यान में अनेक बार हुई हैं और कई भवाईयों को इसी कारस्य शांतीन

कारावास-भी सहना पड़ा है। भवाई लोग अपनी स्त्रियों की सर्वोचित कद करते हैं और उन्हें सोने-चोरी से भी लादे रहते हैं। उनकी प्रदर्शन-यात्रा में वे साथ भी रहती हैं, परन्तु प्रदर्शन के समय उन्हें अपने खेमों में ही छिपा रहना पड़ता है। ये स्त्रियों नाट्य से पूर्व लेमों में ही अपने पतियों की शूल सजावट करती हैं और वेदाभूषा तथा अलंकरणों से उन्हें आदकर समृद्ध स्त्री का रूप बारण करती है। इस भावना के पीछे प्रमुख मत यही है कि रंगस्थली में काम करते समय वे अपनी स्त्रियों को देखकर कामातुर नहीं हो जायें और उनकी अभिनयात्मक प्रदायनी में कमज़ोरी न पैदा हो। प्रत्येक भवाई कलाकार बीस वर्ष से नीचे की यायु तक ही उन्होंने भूमिका लिया करता है। सच पूछिये तो प्रत्येक भवाई कलाकार स्त्री-याई करने के लिये ही इस संसार में अवश्यरित हुआ है और भवाई नाट्य में इसीलिये स्त्री-चरित्र पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। बीस वर्ष की यायु के बाद वे पुरुषों का अभिनय अवश्य करते हैं परन्तु तब तक तो उनके जीवन का बासनी उत्ताप समाप्त नहीं जाता है। बीस वर्ष की यायुतक वह सामान्य जीवन में भी शूल सजावित्यागार से रहता है और उपने आपको अत्यन्त आकर्षक वेदा-भूषणों से मुक्तिजित करता है।

लोकनाट्यों में बास्तव में स्त्रियों का अभिनय स्त्रियोंचित है भी नहीं। किसी भी स्त्री की यह सामर्थ्य नहीं कि वह जाम से लेकर शुबह तक रंगमच के कष्टसाम्य और पीण्यपूर्ण कार्यों को अदा कर सके। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध माल अभिनेता श्रीयुत फ़ाकीरचन्द का कहना है कि — 'माई हो सो चढ़े माल पर।' माल के काम में स्त्रियों का काम भी मर्दानी और मुख्यायं का कार्य है। माल को लक्षणातोड़ नाम भी कहते हैं। उसकी नृत्य-प्रदायनी इतनी बड़िया और अमरात्मा है कि यामूली कार्य करने वाले के तो उनके छुट जाते हैं। दोलक की वापों पर पदों का दृत संचालन और बड़ीर की हृदयविदारक उद्घलकूद बड़े-बड़े बहादुरों को आश्चर्यचित कर देती है। भवाई नाट्य में, माले को याकाश में छोड़ देने के बाद पूरी रंगस्थली का तूकानी उक्कर लगाकर पुलः दोलक के माल के साथ उसे उसी स्थल पर पकड़ लेना, किसी बादूगर का ही काम है। कठकली, यक्षनाट्य और दग्धावतार के अभिनेताओं की गणनस्थली और तूकानी उद्घलकूद किसी समें दूर और अनुभवी कलाकार का ही काम है। मेवाड़ के बड़ी नाट्य में माला राइयों की भूमिका अदा करने वाले पुरुष यदि स्त्री-माल होते तो वहरी की अनुष्ठानिक और तूकानी चक्रियों में वे रुदारि साम नहीं दे सकते थे।

उत्तर प्रदेश की नोटकियों में कोई भी पार्मिक तथा अनुष्ठानिक विशेषता नहीं होते हुए भी वही रंगमंच पर, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जिसी बदौबूत नहीं होती। हर तरह से अपने अभिनय की सफल अदायगी के बावजूद भी वे दर्शकों की ओर से मृटकती हैं, कारण कि वे न तो सच्चरित्र स्त्रियों की और न कुच्चरित्र स्त्रियों की भूमिका को वास्तविक क्षण में प्रस्तुत कर सकती हैं। नोटकियों में स्वभाव से ही स्त्री-पात्रों के लिये हल्के-मुल्के परसंचालन की व्यवस्था पहले से ही है। किंतु भी दर्शक यह नहीं चाहते कि जिसी ही स्त्रियों की भूमिका पढ़ा करें। वे चाहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय करने वाला पात्र विना संकोच के वे तभी जिसी विशेषित भाव बतला जाके जो आमतौर पर एक स्त्री भी नहीं बतला सकती। यही कारण है कि नोटकियों में स्त्रियों का आधुनिक प्रयोग प्रायः असफल ही रहा है। रात-रातभर असंतुष्ट जनसमुदाय के सम्मुख निरन्तर नाचते रहना और महीनों अपने समस्त परिवार से घेंग होकर दिन-रात एक गौव से दूसरे गौव को छटकते रहने का कार्य किसी हालत में स्त्रियों के हाथों में छोड़ देना लातरे से खाली नहीं है। मशनाट्ट्य, कच्चली, विदिया, सावली, माच, तमाशा, दशाघनार आदि में ध्नेक बार दिल्ली के उपयोग की हट्टि से प्रयोग हुए परन्तु वे प्रायः असफल रहे हैं। कारण यही है कि इन नाट्यशैलियों की मग्नाचूम्ही उछलकूद तथा भयंकर जाले उनके लिये परसंचालन निर्द हुई है और गायन में भी उनकी घावावें पुकारों की तरह फैल नहीं सकती हैं।

लोकनाट्ट्यों में आधुनिक नाट्यों की तरह रंगमंचीय व्यवस्था, पोशीदा कथ्य के पहिनने की मुविया, दर्शकों से दूर डिलिया जाने रंगमंच, किसी भी प्रकार के विचाराया से मुक्त होकर काम करने की सहजियत नहीं रहती। उनमें दर्शक-प्रदर्शक बहुधा मिलेजुले ही काम करते हैं। धनोपचारिकता के बातावरण में एक-दूसरे में विशेष भेद भी नहीं रहता। स्त्री-पात्रों के लिये यह अनीपचारिक स्थिति अनुकूल नहीं होती। वेशभूषा, हावभाव, लुकावलियाव, मूलकर काम करने की स्वतंत्रता आदि की हट्टि से लोकनाट्ट्यों का यह समस्त बातावरण स्त्रीमुल्लम लड़ता और मानमर्मादारों के लिये अनुकूल नहीं है।

लोकनाट्ट्यों में प्रतीक, अतिरंजना, कल्पना तथा दर्शकों की मूक्तूक का आपार विशेष रहता है। वही महल नहीं है वही भी महलों की कल्पना करनी पड़ती है। वहीं जंगल नहीं है वहीं केवल एक डाली को ही जंगल मान लेना पड़ता है। वहीं एक अप्तक, पुरुष की भूमिका आप करते हुए, एक चादर अपने घारीर पर ढालकर हावभाव करने लगता है उसे भी स्त्री ममता लिया जाता

ही वही किसी सहके या गुच्छ पुरुष को द्वीप की भ्रमिका घदा करते हुए स्त्रियोंचित् सभी मुस्तों से सम्बन्ध मान लेना विकल्प ही कठिन नहीं है। यदि वह पुरुष माने में मिपुण, शृण्य में पारंगत है और घण्टे अभिनव में दर्शकों पर अभिषट् छाप छोड़ता है तो उसका भीड़ा जहरा और बेड़ील बारीर भी दर्शकों को आकर्षक लगने लगता है। उस माध्योदेव की चरम स्थिति में वे इन पुरुष-मालों में अत्यन्त मुम्बदर कोमलांगिमी स्त्री के दर्शन कर लेते हैं। वह पुरुष-यात्रा भी अपनी अद्वितीय अभिनवपटुता के कारण एक द्वीप-पात्र की तरह ही लोकप्रियता प्राप्ति कर लेता है।

लोकनाट्यों में स्थियों को रूपभंग पर नहीं लाने का एक कारण यह भी है कि कहीं किसी का गाहुंस्वयं जीवन नहीं विगड़ जाय। बहुधा लोकनाट्यों में काम करने वाले अधिकांश पात्र दीन दुनिया से बेकिंग रहते हैं। उन्हें अपवास-पिण्ड मंडलियों में गोवि-गोवि धूमकर प्रदर्शन देने पड़ते हैं, यहाँ वे सदा ही जनता की अंतिमों के तारे बने रहते हैं। समस्त पारिवारिक मुख ही इनका भ्रमण में तथा मंडलियों के बीच में निहित रहता है। स्त्री-कलाकारों को इन मंडलियों में रखने से स्थिति और भी अधिक विगड़ सकती है। इन मंडलियों के कारण जब दर्शक समृद्धाय ही के पारिवारिक जीवन अत-विकास हो सकते हैं तो स्वयं प्रदर्शकों के पारिवारिक जीवन का कहीं निर्वाह हो सकता है? मध्यप्रदेश के माम नियों समय तारंजनिक जीवन के लिये जातरा बने हुए थे। इन मार्चों से प्रभावित होकर अनेक स्थियों यह छोड़कर माल वालों के साथ जानती हुई नजर यादि है। माल वहाँमों के पीछे पुलिसवालों की सदा ही अधिक सर्गी रहती है। सामाजिक और शृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करने वाली मंडलियों के नैतिक स्तर बहुत ऊंचे नहीं होते। धार्मिक भावनाओं के प्रतियादन के अभाव में इन्हें जनने शृंगारिक और अंगमारधान प्रसंगों से जनता की रुचि को पकड़े रहना पड़ता है। धार्मिक नाट्यों के बोधिल उद्देशों के अभाव में शृंगारिक भावनाएँ अत्यधिक मनोरंजन-कारी होती हैं तथा जनता की शृंगारिक प्रवृत्तियों को उमारती है। यही कारण है कि धार्मिक मंडलियों से कहीं अधिक समस्याएँ सामाजिक और शृंगारिक नाट्य प्रस्तुत करनेवाली मंडलियों की हैं। आपेक्षित फर छोड़कर स्थियों के भाग्यने के उदाहरण सामने आते हैं। इच्छिये राष्ट्रीय हिंट से भी लिखों का लोकनाट्यों में प्रवेश उचित नहीं समझा गया है। माधुनिक इंग के नाटकों में स्थियों के प्रवेश की खुट इसलिये भी दो दो मई है कि वे नाटक अत्यन्त सम्य तथा नियंत्रित इंग से होते हैं और अभिनेताओं को लोकनाट्यों के अभिनेताओं की तरह सुलकर भूमता तथा काम नहीं करना पड़ता।

एक विशेष बात यही ध्यान देने चाहिए यह भी है कि जहाँ लोकनाथों में आपनी-आपनी भूमिकाओं की अदायगी का सवाल आता है वही स्त्री-पुरुष का भेद प्राप्तः नगण्य सा होता है। गीतनृत्यों की तीव्रतम लीली दीनों ही प्रकार के पासों पर समान कष्ट के लाभ होती है। उनकी अदायगी की लीली भी दोनों ही के लिए एक समान है। अतः किसी स्त्री-या पुरुष-प्राप्त के लिए अभिनय संबंधी कोई विशेष अन्तर नहीं रहता। परम्परा से इसकों की बचि इस तरह से कह ही मही है कि उसमें कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है। जब तक राधि को बुलन्द आवाज से नहीं गावे, लीलतम गति से नहीं नाचे तब तक समस्त नाटक का रंग फौका ही रहता है। रंगमंचीय अभिनय में पात्रों द्वारा अभिधक्ष किये हुए सीतनृत्यों के अलावा नगण्य सभी कृप-विधान की कल्पना इसकों को स्वयं करनी पड़ती है। इन मात्रों में नाड्यनृत्यक, गीतगायक और नरेक का भाग सर्वोच्चर रहता है, जो परंगमंचीय परिस्थितियाँ, चरित्रामूर्ख वेणुगोपा, हावभाव, माङ्ग-सरवा, कपस्वीष की समस्त कल्पना इसकों पर ही धारारित रहती है। अतः पात्रों के बुलन्द और सुरीले गले और उनके द्रुतगामी पदसंचालन ही से उनका मतलब रहता है, जो परंगमंचीय बातों की पूर्ति के अपनी उर्वर कल्पना द्वारा कर सकते हैं। जो वाकातों के चिह्नावा व्याप्तियों में ५० वर्षीय डिग्री दूनिया तुक्क ही वर्षे पूर्व तक हीर-रामा नाट्य के प्रदर्शन में सुन्दर हीर की भूमिका अदा करता था। उसकी अदायगी की समानता करनेवाला राजस्वान में याज तक भी कोई नहीं जाना है। राजस्थानी लोकनृत्यों में स्त्री की भूमिका अदा करने वाले पुरुष-प्राप्त बहुधा अपना भूँह घूँघट से इकट्ठ हीरंगमंच पर उतरते हैं। इसलिए इडाई भूँह का प्रसन तो आसानी से हल हो जाता है। राजस्वान में तुक्क का आम-तौर से परदे की प्रथा है इसलिए घूँघट में रंगमंच पर उत्तरने वाले पे पात्र अस्वाभाविक नहीं जाते। हीर-रामा के अभिनय में ५० वर्षीय दूनिया जब हीर बन वर रंगमंच पर उत्तरता था और अपनी अत्यंत समंस्पर्शी गायको और मृत्यु-गरिमा से इसकों वर छा जाता था तो दर्शक ५० वर्षीय डिग्री दूनिया की कल्पना नहीं करते। उनके कल्पनाभगत में अत्यंत कमनीय शोही हीर की मध्य सूति प्रस्तुत रहती थी।

मारतीय लोकनाट्यों में नारी का प्रवेश यदि कभी हुया भी तो वह समस्त नाट्य-परम्परा को बदलकर ही होता। लोकनाट्यों की प्राचीन पृच्छभूमि तथा शौखगतिया को अल्पतर रखते हुए मारतीय नारी अभिनेता के क्षम में लोकनाट्यों में कदाचित कर्नी भी प्रवेश नहीं पा सकेगी। यदि लोकनाट्य अपने

तेव गुणों को त्याग कर अभिनेत्र गुणों को अपनाले तो वह कभी भी लोकनाट्य नहीं रहेगा । दृश्यमान तथा कवकलों नाट्यलों, जो कभी अत्यंत प्रबल तथा सशक्त लोकलों थीं, आज अभिनेत्र गुणों के कारण अपना लोकपद्धति बंदी है और जास्तीय नाट्य में शुमार हुई है । जिन लोकनाट्यों में हस्त, ग्रीष्म, कटि पादि मुद्राओं से मीठ तथा बालविहीन मात्राभिव्यक्ति भी परम्परा प्रविष्ट हुई है, वे अब तीव्रताति से जास्तीय नाट्यों में स्थान्तरित हो रहे हैं, साथ ही इन्होंने का प्रबोध भी उनमें अब बर्खर नहीं है ।

### लोकनाट्यों के दर्शक

मनोरंजनात्मक प्रदर्शनों को प्रायः सभी पसंद करते हैं तथा उनके लिए किसी विशेष प्रकार के दर्शकसमुदाय की आवश्यकता नहीं होती । परन्तु लोकनाट्य ही ऐसा विशिष्ट मनोरंजन है जिसमें किसी विशेष प्रकार के दर्शक-समुदाय की आवश्यकता होती है । लोकनाट्यों के प्रदर्शक और दर्शक विशेष प्रकार के होते हैं । बचपन से ही उन्हें नाटक करने और देखने का शोक होता है । उनमें विशेष प्रकार के सलाह पड़े हुए होते हैं । ये नाटक उनके जग्गामरण के साथी हैं तथा उनके साथ उनकी विशेष पाठ्यमीठता है । वर्षोंकों की सदा ही यह आकांक्षा होती है कि उन्हें नाट्य-प्रदर्शन के समय कभी भी रंगमच पर चढ़कर अभिनय करने का प्रबल अपात होगा । रंगमच पर काम करनेवाले किसी भक्ते हुए अभिनेता को विश्वाम देने का कार्य दर्शकायरा ही करते हैं । कोई भी उत्साही दर्शक इस महस्त्वपूर्ण काम को करने में अपना गौरव समझता है । अब वह रंगमच पर चढ़ता है तो जनता तुमुल करतलछविन से उसका स्वागत करती है । उत्साह और सहानुभूति की इन भड़ियों में इस स्थानान्तरित अभिनेता के कमज़ोर अभिनय में भी जनता एक उत्कृष्ट अभिनय को कल्पना कर लेती है । कलाकारों का यह आदान-प्रदान लोकनाट्यों की प्रत्यक्ष स्वस्थ परम्परा है जो दर्शक-प्रदर्शक के बीच प्रगाढ़ आत्मीयता कायम रखती है । लोकनाट्यों के दर्शक हाँकी या फुटबाल मेच के उन दर्शकों के लमान हैं जो अपने दल को विजयी बनाने के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणास्वरूप कारणात्मकनियों करते रहते हैं और खेल की समाप्ति तक जिनकी नहीं उनी रहती हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे वे स्वप्न खोड़ागए में खेल रहे हैं ।

लोकनाट्यों के दर्शकों को ये मनोभावनाएँ बरसों में तैयार होती हैं । निरन्तर नाट्य देख-देख कर वे उनकी गहराई तक पहुँच जाते हैं और उनकी बृत्तियों उनके अनुकूल बन जाती हैं । कोई नव आगमनुक इन लोकनाट्यों को

प्रसन्न नहीं कर सकता । विना गहरी सहानुभूति और समझ के उसे ये नाट्य अत्यन्त प्राथमिक लगते हैं । यह भी मार्कों की बात है कि इन नाटकों में बास-दर्शकों की संख्या बहुत ही कम रहती है क्योंकि उनका मानसिक स्तर उन्हें समझने के लिए पर्याप्त नहीं होता और न उन नाट्यों की प्रत्यक्षिक लम्बाई के अन्दर से कोई सार निकालने की उनमें क्षमता रहती है । माता पिता स्वयं भी अपने बच्चों को इन नाट्यों से दूर रखते हैं ।

इन नाट्यों के प्रति दर्शकों की रुचि इसलिए भी तीव्र बनी रहती है कि उनके भास्तीयजन, नाती, पोते, सरे, सम्बन्धी तथा भिज उनमें काम करते हैं । उन्हीं के घरों की पोशाकों तथा जिवरों का उनमें प्रयोग होता है । उन्हीं के घरों की छत, भरोसे तथा घटुतिकाएँ उन नाट्यों की विविध रंगस्थलियाँ बनती हैं । सामुदायिक नाट्यों में इस प्रकार उत्साह की पराकास्त रहती है कि उनका विन मार्ग ही अपने घरों से खेड़तम पोशाकों लेकर नाट्यस्थल पर आती है । परिवहीं उनका भास्तीय कलाकार ठीक पोशाक पहिन कर काम नहीं कर रहा है तो जलते नाट्य ही में वे उनकी पोशाक बदल देते हैं । उत्तर प्रदेश की रामलीलायों और बंगाल की यात्रायों में तो धार्मिक पात्रों की समस्त पोशाक दर्शकों द्वारा ही मेंट दी हुई होती है । जलते प्रदर्शन में उनका दुष्ट हृत्य तथा धूम-परिधान सिरोपाक के रूप में मगवान् को समर्पित किये जाते हैं ।

दर्शकों में सभी लोकनाट्य संस्कारवत् ही प्रविष्ट होते हैं । कोई नया नाट्य वे बदौष्ट नहीं करते । जिस तरह उनका के भीयन में हीली, दियाली, दशहरा जैसे लौहार वहूँ घनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं और उनके राय उनकी भावनाएँ जुह जाती हैं, उसी तरह वे लोकनाट्य भी उनके भीयन में महात् घनुष्ठान के रूप में प्रवेश करते हैं, जाहे वे व्यवसायिक नाट्य ही क्यों न हों । दर्शकों की सदा ही मह वृत्ति रहती है कि ये नाट्य मौक की बनी बस्ती में ही हों और नीक के बीच दर्शकों घरों से आवृत चोराहों पर ही उनके मंत्र बने ताकि उनके घरों के भवूले, भरोसे, धांगत तथा उनकी समस्त सामग्री नाटकों में काम आ सके और उनका पर ही उनका रंगस्थल बन सके ।

जैसे किसी भोजन-ध्वनि के पीछे संस्कारवत् कोई विशेष स्वाद रहता है जो जम्म से ही जुबान पर चढ़ जाता है, उसी तरह का स्वाद दर्शकों में इन नाटकों के प्रति भी होता है । प्रत्येक भेज के नाट्य-स्वाद अलग-अलग होते हैं । वहीं के बेज-विन्ध्यास, रहन-सहन, लाल-पाल, यालार-विचार तथा गोत-मृत्यों के याकार-प्रकार और पुस्तों में विशेषता रहती है । उनके प्रति

वहाँ की जलता का समाव रहता है। यहाँ के लोकनाट्यों की प्रधायगी में भी धोखीय विशेषताएँ होती हैं, एक विशिष्ट प्रकार का स्वाद होता है जो उसी जेत के लोगों को विशेष प्रसंद होता है। यह दर्शकों की मनोवृत्ति भी उसी के प्रभुकृप बन जाती है। सामाजिक और सामुदायिक नाटकों को तो दर्शक हर भासे में अपने अनुकूल बना लेते हैं परन्तु व्यवसायिक नाट्यमंडलियाँ भी इस बात की भवी प्रकार जाती हैं। उनमें इतने सहजबुद्धि कलाकार होते हैं कि वे अपने नाटकों में भेदभानुकूल ही वेशभूषाएँ पहिलते हैं और उन्हीं की धुनों में अपने गीत गाते हैं।

लोकनाट्यों के प्रदर्शनों की आगे की चक्कि में बहुधा वे ही दर्शक बैठते हैं जिनकी अभिनेता शूद जाते हैं। यह जान-पहिलान और मिलता हम प्रदर्शनों की जानकार बनाती है। अभिनेता यदि दर्शकों से पूर्ण परिचित न हो तो प्रदर्शनों में जो प्रेक्षक-अभिनवीकरण (Public Participation) का महा रहता है उससे जलता रक्षित रह जाती है। जलते प्रदर्शनों में प्रदर्शक दर्शकों को संबोधित करता है तथा उसकी तरफ केन्द्रित होकर अनेक वाइ-स्वाद करता है। दर्शक-प्रदर्शकों का यह पारस्परिक तारतम्य मूल नाटक को आणात पहुँचाये विना ही अभिनय का जाल गुणवत्ता रहता है। कभी-कभी इसी प्राणीयता के कारण अभिनेता एक पद का उच्चारण करता है और दर्शकगण मूल यदों वे ही जनका जवाब देते हैं। इस तरह प्रश्न-उत्तर की भविष्यत मग जाती है तथा लोकनाट्यों का कलेक्टर भी बढ़ता जाता है। सामुदायिक नाटकों के अचानक नौटंकी, जाल तथा राजसभानी क्षयाली के व्यवसायिक स्वरूपों में यह परम्परा अत्यंत स्वस्थ कप घारघण्ठ का तुकी है। नौटंकियों की मालवी तो इसी तरह रात-रात मर बढ़ती जाती है। अभिनेता जो पद नहीं लाते वे दर्शक शाकार मूला देते हैं और पद-पद यह उनके लोकग्रन्थ सीतों भी चक्कियों में अभिवृद्धि होती जाती है। राजसभानी तथा मालवा के तूर्हा कलंगी के खेतों की रक्षा तो प्रेक्षक-अभिनवीकरण की परम्परा में ही होती है। लोकनाट्यों की इस विशिष्ट रूपना-विधि को समझे विना तथा उन नाट्यों में दर्शकों का कितना गतिकाली योग है, इनको जाने विना कोई भी व्याख्यानक दर्शक इन नाट्यों का मजा नहीं ले सकता।

इन नाट्यों के वास्तविक दर्शक वे ही होते हैं जिनमें कई दिनों तक रात मर जाने और दिन बढ़ करम करने की शामिल होती है तथा जिन्हें समस्त नाटक कंठस्थ लाद रहते हैं। नाट्य की समाप्ति पर जब घासी किरती है तो

वे स्वया, पेता, सोनेलादी की घंटुलियों बाती में रखने को तीव्र रहते हैं। पर्याप्त इन नाटकों के इतने उत्तम होते हैं कि नाट्यमन्त्रियों के साथ-साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलते ही रहते हैं। बंगाल की जागाओं में धारा से ५० वर्ष दूर अनेक भक्तजन धार्मिक प्रतुष्टान के काष में साथ-साथ चलते थे। तब इन जागाओं का वह जागालय दैसों और धनियों द्वारा जाग्रय पाकर केवल साथ ध्वनियिक भंडलियों का कप ही रह गया तो उसके साथ ही उसका धार्मिक स्वरूप भी नष्ट हो गया और दर्शकों का अनाव भी उनसे भीरे-धीरे कम होता गया। बाह में बंगाल में १८ वीं शताब्दी में ऐसी परम्परा चल पड़ी कि छोटे-पापों का धर्मिनय भी स्विधी ही करते नहीं। भिसित और धनियक समाज को गुणों का सौंपी बनाना हवा नहीं इसलिये केवल मनोरंजनार्थ ही स्विधी जागाओं में प्रविष्ट होने लगी। इस प्रवाह से जागाओं का राह-जहाँ धार्मिक स्वरूप भी खल हो गया और जागार्ह केवल कुछ बनाइप लोगों के मनोरंजन का साधन बन गई। प्रदर्शक और, दर्शकों के बीच जो साधन संबंध पहुंचे विद्यमान या वह विलुप्त ही नष्ट हो गया तबा धनेक भक्तजनों द्वारा दर्शकों की स्वीकृति इनसे हट गई। जागा का एक स्वरूप भीतीनिया है जो केवल भक्तजनों द्वारा ही प्रदर्शित होता है। इसमें नाट्यकां धनेकों को भीतीनियों का एक ग्रंथ ही मानते हैं और प्रदर्शकों के साथ ही यात्रोंके में माने जाते हैं; परन्तु १८ वीं शताब्दी में भीतीनियों का स्वरूप भी ध्वनियिक हो गया और दर्शक स्वयं इस बीमी से पूछा करने लगे।

उत्तर प्रदेश की भनुष्ठानिक रामलीलाओं में तो दर्शकनशु भरितिवति के अनुसार सभी ही नाटक के धर्म बन जाते हैं। बीतार-स्वरूप ने दर्शक ही जनकपुरी के रामाशद होते हैं। राम की बरात में समस्त दर्शक बराती बतकार जनकपुरी को प्रसादान करते हैं। भगवान् राम की वातरसेना में ये ही दर्शक बदरों के जैवरे संग्रहकर जनकपुरी पर यात्रा लोतते ही तबा लंका-विजय के उपरान्त भगवान् को सीता लक्ष्मण सहित धर्योध्या में लाते हैं। विस बातों में यह सीता रखी जाती है। उसके समस्त निवासी धर्योध्याजामी बनकर धनेकों में दीपक जलाकर भगवान् का स्वाप्त करते हैं। काली नरेश की रामलीला में दर्शक-दर्शकों का विचित्र योग आज भी देखा जा सकता है। रामस्थान के गुरुं कलंगी के लेनों में भी दर्शक नाटक में यहूं ही भहस्करण जाग बढ़ा करते हैं। वृद्धावन की रामलीलाओं का दर्शक वरम भक्त होता है। वह राम के धर्योध्या को भगवान् का समझी है भगवान् है। राम समाप्त होने के उपरान्त दैनिक जीवन में भी वह इन स्वरूपों को भक्तिपूर्वक धारणगत करता

है। मध्यप्रदेश के माच-दर्ढोंक माच-प्रदर्ढोंको को आपना परम गुह मानते हैं। दर्ढोंक ही प्रदर्ढोंक बन जाएं, इसकी कल्पना माचों में नहीं की जा सकती। दर्ढोंक माच-प्रदर्ढोंको का सूब सम्मान करता है परन्तु किसी भी परिस्थिति में वह उसके प्रतिशय कठिन और कट्टसाइय काम को अदा नहीं कर सकता। घनेक दर्ढोंक इन माच-प्रदर्ढोंको की प्रद्वितीय कला से प्रभावित होकर उनके इशारों पर चलते हैं परन्तु वे कभी भी माच-प्रदर्ढोंक बनने के योग्य नहीं बनते। दशिला भारत के लगभग सभी लोकनाट्यों में दर्ढोंक-प्रदर्ढोंक सम्बन्ध इसना प्रगाढ़ नहीं है बल्कि वहाँ के लगभग सभी लोकनाट्य व्यवसायिक बन गये हैं।

आपतोर से उभी भारतीय लोकनाट्यों में दांसकगण नाट्यावलोकन के लिये रंगस्थली पर जाते हैं; परन्तु भारत के बहुसूखी नाटक ही ऐसे हैं जो स्वयं दर्ढोंको के पास आते हैं। दांसकगण अपने-अपने धरों और दुकानों पर अपने काम में अस्त रहते हैं और ये बहुसूखी नाटककार स्वार्ग बनाकर भर-घर और दुकान-दुकान पर अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं। ये लीलाएं कई दिनों तक चलती रहती हैं और प्रत्येक दर्ढोंक के सम्मुख एक ही दिन में बार-बार प्रदर्शित होती है। इस तरह घनेक लीलाएं महीनों तक चलती हैं और उनकी समाप्ति पर अपने दर्ढोंकों से ये पर्याप्त इनाम प्राप्त करती है। दर्ढोंकों के इस विभूत्यान समृद्धाय को विभिन्न रूचियों को ये बहुरूपिये सूब जानते हैं। यह: प्रत्येक दर्ढोंक के सामने इनका एक ही अभिनय विविध रूप बहुगु करता है। दर्ढोंकों की इस विभिन्नता में इन बहुरूपियों की अतिशय चतुर और गुणी बनाया है। अपनी आश्वस्यनक बला के माध्यम से ये अपने दर्ढोंकों पर प्रतिशय कठाक्ष करके भी लोकप्रियता अर्जित करते हैं।

महाराष्ट्र के वर्षपरामर उमाडे भी किसी समय दर्ढोंकों के दरवाजों पर किरा करते थे और एक ही रात में उनका मतोरवन करके घम और कोति दोनों ही प्राप्त करते थे। उमाडे के दर्ढोंक भी वही रुचिपूर्वक इन तमाङों को देते हैं और किसी भी सार्व पर उनके साथ स्वयं नाचने भी लगते हैं। उनका कोई विसेष स्वरूप नहीं होता। उमाडे का स्नेह जन्म से ही उनके साथ चलता है तथा समाजों के साथ ही वे अपना स्थान भी बदलते रहते हैं।

लोकनाट्यों के दर्ढोंकों पर किसी प्रकार का प्रारोपण कारगर नहीं होता। प्राध्युनिक नाट्यों में टिकट-लगाकर जो दर्ढोंकों को प्रविष्ट करने की पढ़ति है वह लोकनाट्यों में नहीं चल सकती। टिकट छरीद कर नाटक देखने जाना दर्ढोंक अपना और अपमान समझता है, जैसे वह अपनी ही बरोहर को निमा

खचं करके पा रहा हो । जैसे अनौपकारिक रूप से बदल ह इन नाथ्यों की तैयारी में सेकटों रूपमा खचं करते हैं परन्तु टिकट वरीदकर प्रदर्शन देखना इनको कभी नहीं रखता । संसार में यही एक नाटक-प्रणाली है जो बिन पैसा खचं किये देती जा सकती है । नाथ्य की अदायगी को दर्शक-प्रदर्शक कभी भी पैसों से नहीं धोकते । अवसायिक मंडलियों भी आधिक दृष्टि से अपने दर्शकों पर ही निर्भर रहती है; परन्तु दर्शक यह कभी नहीं चाहते कि वह रुकम उनसे भी टिकटों के रूप में बगूत की जावे । लोकनाट्यों के लोकीन दर्शक अपनी तरफ से अधिक से अधिक खचं करके हजारों को निःशुल दिखाने में अपना गोरख समझते हैं । अठः लोकनाट्यों का वास्तविक दर्शक अपना हृदय देकर नाथ्य देखता है, पैसा देकर नहीं । नारत्यवं के जो नाथ्य टिकटों से प्रदर्शित होते हैं वे लुप्तप्रायः ही हैं । बिना टिकट जही नाथ्य होते हैं वही जाहे दर्शकगण अपनी तरफ से टिकटों पर एक भी पैसा खचं न करते हों परन्तु फिर भी लोकनाट्यों की समाचित पर में लाली जेव ही घर लौटते हैं । नाथ्य स्वयं में इतने प्रसंग भासते हैं जब दर्शकों की जेवों से धनजाने ही पैसा प्रदर्शकों की जेवों में जाने लगता है । भावोदेक को यह परम स्विति विस्ते ही भाष्यकालियों को धाप्त होती है । इस तरह अदापूर्वक जमा किया हुआ थन नाथ्य की प्रभिकृदि के लिये ही प्रयुक्त होता है ।

### लोकनाट्यों को विशिष्ट संगीत तथा नृत्यपद्धति

साधारणतया दैनिक जीवन के प्रत्यगों में माधे जाने वाले नृत्यगीत लोक-नाट्यों में प्रयुक्त होनेवाले मानसूत्यों से विलकृत निभ होते हैं । इन गीतोंकी बनियाँ तथा गब्दरचनाएँ एक दूसरे से विलकृत भलग होती हैं । शोरों के गायक-नर्तक भी अन्य-अन्य भलग होते हैं । रंगमंच पर नाथ्यप्रदर्शन के समय गानेवाला कलाकार साधारण जीवन में उसी गीत को कटे बौंस को तरह गाता है जब कि उसकी रंगमंचीय अदागी अस्तर्यत मधुर डंड में होती है । इसी तरह साधारण दैनिक जीवन में इधर-उधर धनके लाने वाला दुर्बल कलाकार जब रंगमंच पर उतरता है तो तीर की तरह नाचने-माने लगता है । इन कलाकारों का कहना है कि रंगमंच पर उतरते ही नाटक की सरस्वती इनकी जिहा पर बैठ जाती है । गीतों की रचना में भी सबादवहन की अद्वितीय गति होती है । जूँकि हजारों दर्शक इन नाट्यों को देते हैं और उनमें इवनिविस्तारक यज्र का प्रयोग नहीं होता है इस गीतों की स्वररचनाएँ अधिकांश तार सप्तक ही में पूर्णता रहती हैं । ये इस तरह निमित होती है कि उनमें स्वर-गुणक वर्ग

होता है तथा संवादवहन की लक्षित धर्मिक होती है । ये गीत इन लोकनाट्यों में प्रश्नोत्तर के रूप में प्रयुक्त होते हैं । इन गीतों में स्वर-ताल का जबाल नहीं होता और वे सीधे दर्शकों के मन पर तीर की तरह चुभते हैं । ये गीत रंगमच पर ही रहते हैं और उनको यदि नाटक से असंबद्ध करके यापा जाप तौं के बहुत ही कोके लगते हैं । इन गीतों में भी विविध रसों के घनुसार बदियों होती हैं । कोपयुक्त एवं यावेषापूर्ण संवादों में इन गीतों की स्वररचनाएँ नेयप्रणाली को छोड़कर तालबद्ध गथप्रणाली में उत्तर जाती हैं जिनमें ताल-स्वर अवश्य होते हैं परन्तु गाते समय ऐसा प्रतीत होता है जैसे केवल बज्जोड़ार ही रहा है । इसी प्रकार कशणापूर्ण प्रसंगों के गीतों की बदियों भी भी और वक चलने वाली भूमरा, तेवरा, दीपचन्दी जैसी तालों में ही बैधी रहती है । विलाप के गीतों में कोपल स्वरों की श्रधानता रहती है और बहुआं पीलू, सोहनी तथा कालीगड़ा रायों की छाया से वे आवृत रहते हैं । ये विशुद्ध लोकदीली में ही गाये जाते हैं परन्तु उनकी बदियों का प्रभाव अनता को फला-हला कर देता है । उनकी लम्ह इन्होंने भंडगति में होती है कि कभी-कभी नक्कारा, डोलक और उबले की संगत बंद करनी पड़ती है । साधु-मंतों के गीत भी इसी तरह जान्त रस संयुक्त होते हैं और इनकी बदियों भी मर्म-को स्पष्ट करती हैं । राग-रंग, हृषी-उल्लास के लालों में वे नीत अपनी कलात्मक पराकार्षा तक पहुँच जाते हैं । गीत-नाय की भस्ती में स्वर-ताल की प्रतिस्पर्धा चलने लगती है और संवादों की सम्बाई भी बढ़ती जाती है । ये गीत दमतोड़ गीतों में जुमार होते हैं ।

नाट्यगीतों के स्थायी भंडरे बहुआ एक दूसरे में निहित रहते हैं तथा स्पष्ट तौर से कभी भी बाहर नहीं आते । इनकी भुग्ने नायप्रधान होती है । गीत का प्रथम चरण समाप्त होते ही प्रभिनेतार्थों के पांच घिरकों लगते हैं और वे अपनी पद्धतियों से अन्त लोकों को सुर्खिट करते हैं । उस समय नावो-टेक और उल्लास के बालावरण में नाय-ताल संबंधी प्रमेक उत्सुक कल्पनाएँ साकार होती हैं जिनका यास्त्रीय संगीत या नृत्य से कोई संबंध नहीं रहता । कभी-कभी ये कल्पनाये याजिम्बों तथा विलिष्ट कलाकार की प्रतिभा पर ही निमंर नहीं रहती-बल्कि समस्त नाट्यदल ही अपनी अद्वितीय कल्पनाओं में घिरक जठता है । राजस्थान के गवरी नाय में प्रत्येक प्रसंग के बाद समस्त कलाकारों की एक अद्वितीय समस्त होती है जिसे समस्त नाटक की टेक या स्थायी समझनी चाहिये । इस टेक में सब कलाकार भोजन व शालों की भंकार पर अद्वितीय अंगभंगिमाओं की सृष्टि करते हैं । गवरी नाय को मह सामूहिक समस्त समस्त नाटक की प्राणी है तथा उसका विशेष स्वरूप नियमित करती है ।

मध्यप्रदेश के माच तथा उत्तर प्रदेश की गोटिकियों में यह टेक अद्वितीय पद-संवालन तथा दोलक-मगाड़ा-बादल में परिसरुत हो जाती है। टेक के समय नाट्य के मूलभीत या सुर्य कही थरे रह जाते हैं और कलाकार तथा बालकार की राहव उपग्रहीत रहती है। महाराष्ट्र के तमाखे में यह टेक तमाखे की नर्तकी को अपने कलापदार्शन की पूर्ण स्वतंत्रता दे देती है और उसे अपने नृत्य-भीत-प्रदर्शन द्वारा पूर्व अभिनवोत्सवस्त नाट्यप्रसंग को सार हर प्रस्तुत करने का अवसर मिल जाता है। भवाई तथा राजस्वाल की राजधारियों में यह टेक दोलक की अद्वितीय चाल पर कलाकारों की समस्त प्रेता-स्थली में पूरकर नृत्य दिखाते हुए पुनः मूल रंगस्थल पर आने को बाध्य करती है। कथपत्तों और बलगाल में यह टेक कलाकारों को बरती से चब-गज भर छार उछलने और अपनी अगम्भियाओं तथा पदसंचालन के अद्वितीय प्रदर्शन का भीका देती है। उत्तर प्रदेश के राम में प्रत्येक श्लोक की समाप्ति पर यह टेक गोप-गोपिकायों के बीच कृष्ण यो अनेक सामूहिक राम-महारातों में अपना चर्यस्कार दिखाना का अवसर देती है। उस समय गोप-गोपिकाओं के बीच कृष्ण अनेक कृष्ण बन जाते हैं। जे कभी गोपियों की बसल में नकर आते हैं, कभी राधा के गले में लिपट जाते हैं तथा कभी पूटनों के दल समस्त रंगस्थलों का चक्रकर लगाते हैं।

गोती की इस गेयपद्धति की इधर से मध्यप्रदेश के माच और महाराष्ट्र के तमाखे संक्षेपरि ॥ १ ॥ माच-और तमाखों में नृत्य से भी अधिक गोती की प्रशान्तता है। अभिनव करते समय नृत्यकार गोती को एक अद्वितीय खुन उठाता है और टीप पर जाकर आलाप कीता है। ये आलापें बहुभाँ तीन-चार स्वरों में संखरित होती हैं और यस में जाकर किसी एक श्वर पर टिक जाती है। मध्यप्रदेश के माचों में ये खुने रंगतों का स्वरूप धारण करती है और 'दोकड़ी', 'इकहरी' और 'झगड़ी' में इनका स्वरूप निश्चिरता जाता है। इन टेकों के उपरान्त माचों में साधारण और सरल खुनों में संवादों की अवस्था होती है जिसकी रक्षना दोहापद्धति से होती है। प्रत्येक संवाद के बाद फिर टेक दोहराई जाती है। महाराष्ट्र के तमाखों में, जब मुरतिये गा-गा कर दर्शकों का अभिवादन करते हैं, उसके बाद ही नर्तकी सोलह शूंगार में अपने नाट्य-अभिनेताओं के साथ प्रवेश करती है। बहुधा झूंगार में जूँधी हुई नार्थरी को खुन में नर्तकी अपना चमत्कार बतलाती है और फिर नाटक के पात्र भवाण छंद में संवाद कहते हैं और अंत में नर्तकी पुनः जलकी टेक पकड़कर समस्त नाट्याभिव्यक्ति को चार चौद लगा देती है।

दक्षिण भारत के गवर्नमेंट तथा कृच्छुड़ी नाटयों में भी प्राप्त; यही महाराष्ट्र की पद्धति अपनाई जाती है। उनमें एक विशेष बात यह है कि प्रत्येक अभिनेता गीतों में पद गाता है और उनको अंगभिनिमालों द्वारा अभिनीत करता है। गीत के प्रत्येक अवधि के समय को वह पाने अंगों से अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की यह सूख्म पद्धति भारत के किसी लोकनाट्य में नहीं है। अर्थे निकालने की इस पद्धति में इन अभिनेताओं का ध्यान-प्रत्यंग काम आता है और अंगों की पूर्वेनिश्चित मुद्राओं से वह अर्थे और भी अधिक सार्वक हो जाता है। उत्तर भारत की अन्य सब नाट्यशैलियों में ध्यान-प्रत्यंगों द्वारा यथे निकालने की इतनी सूख्म प्रणाली का अवलोकन कर्नी नहीं होता। उनमें संवाद-गीतों की समाप्ति पर मृत्यु-गीतों की लगडारी में और उनकी नेतृत्वशैलियों में अभिनेता इतने उत्तम जाते हैं कि कभी-कभी उनका अभिनयपद दुर्बल हो जाता है। दक्षिण भारत के प्राप्त; सभी लोकनाट्यों में नाट्याभिनय तथा संवादात्मक गीतों की प्रधानता रहती है तथा दृश्य गौण होते हैं। उत्तर भारत की लगड़ी सभी नाट्यशैलियों में गीत और नाच नाट्य को दबा देते हैं और ऐसे अप्रासंगिक प्रसंगों के दर्शकों के मनोरंजनार्थ बोच में जाना पड़ता है कि समस्त नाट्य की आत्मा ही मरने लगती है।

हरियाना के स्वारों में गीतों की सर्वाधिक प्रधानता रहती है। उनमें हरियानी गीतों की चंगा बहती है तथा शृंखों की म्युनता रहती है। इन स्वारों में अधिकांश प्रसंग प्रेमाख्यातों पर आधारित रहते हैं। अतः प्रेम-गीतों की रक्षणार्थ उनमें प्रमुख होती है। वे गीत बुल्लद ध्यानार्थों में साथे जाते हैं और अत में लम्बी-लम्बी आलार्प उनके साथ चुह जाती है। अभिनेता एक दूसरे के साथने इस बनाकर लड़े हो जाते हैं। संवादों में समस्त दल ही गा उठता है। उसमें मूलपाठ का पता लगता बहुत मुश्किल हो जाता है। वे धूने इतनी मार्मिक होती है कि दर्शक रात-रात भर उनको सुनकर मर्माहत हो डरते हैं।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं और कृष्णलीलाओं के गीतों में एक विशेषता रहती है। वे लोकनाट्य तुलसीकृत रामायण और मायावत जैसे संघों पर आधारित रहते हैं। अतः इन नाट्यों के गीत ध्यान से नहीं रखे जाते हैं। इन संघों के प्रति जनता की इतनी प्रमाद अद्भुत है कि कोई अन्य गीतकार इन नाट्यों के लिये ध्यान से संवाद गीत लिखने की शृंख्टा नहीं करता है। वे गीत नाट्य-पद्धति के अनुकूल नहीं होते हुए भी इन्हें समाज ने अद्भुत स्वीकार किया है।

तुलसीकृत रामायण के दोहों तथा चौपाईयों की मायन-विधि नाट्योधित नहीं होते के कारण उनका अर्थ अनिनेताओं द्वारा महा में उल्लगाने की परम्परा दाली गई है जिससे इस समस्त नाट्य-प्रणाली में जान सो जा गई है। रामलीलाओं में कहीं भी संगीत और नृत्य की प्रधानता नहीं है। उनके रामायण-पाठी का रामायण पाठ हो सकता है। रामजीवन संबंधी कवानक समस्त हिन्दू-समाज के लिये अद्वा का विषय होने के कारण यह लोकनाट्य नाट्य-युग्मों के अभाव के कारण भी अत्यन्त सीक्रिय बन गया है। इसकी नीक्रियता में विशेष स्वरों का दृश्य-विचार, पाठों की वेणुचूपा तथा कवानक की विविधता ने चार चाँद लगा दिये हैं। मधुरा दीली की रूपरूपीय रामलीला, जिसका प्रादूर्भाव पारसी नाटक की प्रेरणा से हुआ है, तुलसीकृत रामायण की नेत्र-प्रणाली के साथ अपनी स्वतंत्र मायन-विधि के कारण भी लोक्रिय बन गई है। इसका मूलपाठ तुलसीकृत रामायण की चौपाई तथा दोहों के माध्यम से होता है परन्तु बीच-बीच में तुलसीकृत गीतावली के रागबद्ध गीतों की गायकी से इस प्रणाली में प्राप्ति का संचार हुआ है। बीतपुर, भरतपुर में पिछले षष्ठीय वर्षों में रामलीला की एक विशिष्ट प्रणाली का विकास हुआ है, जिसमें तुलसीकृत रामायण की चौपाईयों को अकृष्ण रूपते हुए बीच को कठियों की विशिष्ट गीतों से जोड़ा गया है। इन गीतों में लोकगायकी का एक बहुत ही स्वरूप स्वरूप परिवहित होता है। इस विशिष्ट रामलीला का एक सांखेजनिक संगठन आज भी इन खेड़ों में विद्यमान है, जिसके पास एक वर्ष पूर्व विभिन्न इस विशिष्ट रामलीला का स्क्रिप्ट (script) है। इस विशिष्ट प्रणाली पर निरिचत ही नौटकियों और राजस्थानी क्षमालों की गायकी का अभाव स्पष्ट है। इस रामलीला में लालसी के प्रकार में कालिगड़ा तथा भैरवी की भुतों की विजेता है। नौटकियों के बहरेतरीक के इस के छद्मवद गीत भी इस रामलीला में प्रपुर मात्रा में प्रयुक्त होते हैं। हाथरस निवासी वी नस्वाराम के चौबोलों के द्वारा के गीत भी इसमें प्रवेश कर गये हैं। राजस्थान के पूर्वी शेष की इस विशिष्ट रामलीला में निरिचत ही उत्तर प्रदेश की सभी रामलीलाओं की गायनपद्धति का समन्वय हुआ है। भरतपुर की स्वामी रामलीला समिति के भवन में आज भी दशहरे के एक माह पूर्व इस विशिष्ट गायकी में रामलीला के मासी पाठ प्रशिक्षित किये जाते हैं और रामलीला के विविध दृश्यस्थल नगर के भारों और निमित होते हैं।

बच की रामलीलाएँ भी प्राचिन भृत्यकवियों की रचनाओं पर आधारित रहती हैं। इन गीताओं का प्रचलन धरियां भृदिरों तथा भक्तजयों के प्रांगण

में होने के कारण उसका लगाव परिवर्तनरों, शास्त्रीयों तथा शास्त्रज्ञों से बहुत रहा है। इसीलिये इन लीलाओं में शास्त्रीय ध्रुपदों, शास्त्रीय नृत्यों तथा शास्त्रोक्त कथानकों को लिखेगी बहुती है। प्रथिद भक्तकवि नन्ददास, ध्रुवदास तथा बाजवासीदास की इनाद्यों तथा गायकी का इन रासों पर योग्यत प्रभाव पड़ा है। इन लीलाओं की ध्रुपद गायकी मुस्लिम घरानों की ध्रुपद गायकी से भिन्न है तथा उसके साथ जो रास बोधी मध्ये हैं, उनकी मुत्यमुद्धाएं कल्पकनृत्य से प्रभावित होते हुए भी प्राचीन नटवरी गीती का भाव करती हैं। वही रामलीलाओं में नृत्यों का नितान्त अभाव रहा है वही रामलीलाएं नृत्यगीतों से मरम्पुर होती हैं। यामलीलाओं के चरितनायक भगवान् राम के गम्भीर तथा नीतिज्ञ जीवन के साथ सूख मेल नहीं जाते परन्तु भगवान् नटवर कुष्ठण की जीवनलीलाएं नृत्य-प्रधान होने के कारण ये दास भी नृत्यमय ही मध्ये हैं। रामलीलाओं की नृत्यप्रणाली में वही शास्त्रीय नृत्य की छाप है, वही लोकदीलों के डाढ़िया सूख का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन लीलाओं के संवादों के साथ जो गीत जुड़े हुए हैं उन पर शास्त्रीय संगीत का प्रचुर प्रभाव होने पर भी उनमें संवादों को परिपूर्ण करने की प्रबल जरूरि है।

रासलीला की एक पुष्ट परम्परा मणिपुर में भी विद्यमान है, जिसके समस्त गीतवृत्त संस्कारीनी से अनुप्राणित है। इसमें मणिपुरी गीतों के साथ मणिपुरी त्रैय की अनुप्राप्त छटा निखर आई है। त्रैय की रामलीला और मणिपुर भी रामलीलाओं में गीतनृत्य की हाई से कोई सामग्र नहीं है। त्रैय की वर्तमान रामलीलाओं में सूरदास तथा अन्य धर्षकात्मक के कवियों की कवितामय गायकी का प्रयोगत प्रभाव पड़ा है। परन्तु इन गीतों की वरिज्ञों में कहीं भी प्रभिनन्दात्मक पक्ष नहीं है। ये गीत संगीतमंडली हारा अलग से गाये जाते हैं तथा अभिनेता उनके बर्ब उत्पादता है। प्रत्येक प्रसंग की समाप्ति पर समस्त रामर्थकली सामूहिक त्रैय से नाचती है। चरितनायक भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं से बही भक्तजन परिचित होते हैं। मत, इन लीलाओं के लिये सूख लोकनाट्यों की तरह अलग से संवादात्मक गीतों की आवश्यकता नहीं होती है। वही संवादों की आवश्यकता होती है वही गद्य का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में होने लगा है।

बंगाल की बाजुआओं में भी संवादात्मक गीतों का नितान्त प्रभाव होने के कारण अधिकांश लाचारे आधुनिक नाटकों की तरह गद्य-संवादों में अभिनीत होती है। बाजुआओं का वह पुरासन, शामिक तथा नेय स्वरूप प्रायः गृह्ण ही

हो गया है । अब ये जापाएँ अलग से लिखी जाने लगी हैं, जिनमें गेयपञ्च की प्रधानता रहती है तथा उनका गीतसूत्र-पञ्च नाट्य से बहुधा असंबद्ध सा रहता है । वह संवादों का भार बहुत नहीं करता । वह केवल मनोरंजन के लिये ही प्रयुक्त होता है ।

भारतवर्ष ने गीतसूत्रों की अनुपम बहार विस्तो राजस्थान के क्षालों में परिलक्षित होती है उतनी किसी भी जैसी में नहीं । राजस्थान के क्षाल नाट्यतत्त्वों से वित्ते दुर्बल होते हैं उतने ही गेयतत्त्वों से परिपृष्ठ हैं । यही कारण है कि राजस्थानी रूपालों में स्वालियों का सबोपरि गुण गायत्र, बादम तथा नर्तन है । भयप्रदेश के माथ भी लगभग-लगभग इसी घेरों में आते हैं परन्तु उनके नाट्यतत्त्व इतने लटकेकराते नहीं हैं जितने राजस्थानी क्षालों के । भीरा मंगल, ढोला-मरवण, मुगल-महेन्द्र तथा हीर-झीभा के क्षाल तो जैसे गाने के लिये ही रखे गये हैं । नच्छीरामकृत चैदमिलयागिरी तथा रिदमल नामक क्षालों में गेयधूमों की घटितोप छढ़ा है । इन धुनों में विहाड़ा के नौटकी-प्रभावित नाट् द्रुलिया के क्षालों की तरह लंदप्रधान रंगलों, चोबोलों, दुबोलों, लंगड़ी, इकहरी, दुहरी जैसी की ओर विशेष आवह नहीं है । मेवाह भद्रेश की रासपारियों में भी, जिनमें भक्त हरिशंक्र, ध्रुव चरित्र, स्कमरी-मंगल आदि क्षाल प्रमुख हैं, इन छंदों की कहीं प्रधानता नहीं है । अभिनेता स्वतंत्र रूप से पूर्वनिश्चित तथा परम्परागत धुनों में गाता है और साव उसकी संगत करते हैं । ये धुने परम्परागत धुने हैं जिनकी भर्यादा में इस जैलीविशेष के सभी नाट्य सेमे जाते हैं । प्रत्येक जैली की धुनें ग्राम-निश्चित सी होती हैं । केवल विशेष और कथानक बदलते हैं । ये धुने गदापि संवादवहन की हृष्टि से विशेष उपयुक्त नहीं होती किंतु भी ये भयंस्पर्शी होती है और गायकों को अपनी कल्पना के विस्तार में पूरी छूट देती है । इन धुनों का तालपत्र भयप्रदेश के माथों, चिड़ावा के क्षालों तथा उत्तर प्रदेश की नौटकियों से कहीं सरल और मुगम होता है । इन क्षालों का नुत्पन्न भी उक्त लोकनाट्यों से अपेक्षाकृत सरल और दुर्बल होता है । राजस्थान के तुरांकलंगी के खेलों में तो सूखपञ्च ग्राम ही ही नहीं । उनका गेयपञ्च भी बहुत ही दुर्बल है । सारा सेल ग्राम एक या दो धुनों में बैंधा रहता है जिन्हें बार-बार सुनकर इसक जब से जाते हैं । यदि तुरांकलंगी का साहित्यिक तथा वर्णनीय गद्ध प्रवत न हो और नाट्य के सामूहिक गुण चरमसीमा तक न पहुँचे हों तो यह ग्रकार नाट्य की हृष्टि से कमज़ोर चिढ़ होगा ।

## लोकनाट्यों में प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों का प्रतीकोकरण

लोकनाट्य प्रचलित जीवन-व्यवहार तथा जीवनादर्शों के प्रतीक होते हैं। सामाजिक चिन्तन, आचारविचार, रीतिनीति, निष्ठा तथा पारम्परिक विश्वास लोकनाट्यों में प्रत्यंत छद्म का में प्रकट होते हैं। नाट्य के कथानक, उनकी प्रट्टनाएँ, प्रसंग, पात्र आदि कितने ही प्राचीन बर्धों न हों, जीवन-व्यवहार की इष्ट से वे सोलह वर्षा वाना आपुनिक हैं क्योंकि वे किसी गास्त्र, विशिष्ट परम्परा तथा परिवारों का अनुशीलन नहीं करते। अतः परम्परा-प्रतिवादन की उनसे आज्ञा भी नहीं रखी जा सकती। उसके संवादनीत पुरातन होते हुए भी नवोन इसलिये है कि उनका प्रवाह संगम की तरह पावन तथा तिमेल है। संगम सहजों बर्धों से इस पावन परती पर बह रही है परन्तु प्रतिपल उसमें नवोन जल का संधार ही रहा है। इसी तरह जो मीत-संवाद परम्परा से प्रचलित है उनमें प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है और चिरनवीन सामाजिक प्रतिभा का चमत्कार उन्हें चमत्कृत कर रहा है। पारम्परिक आदर्श, कथानक, विचारधारा तथा जीवन-व्यवहार का निशाव उनमें चिलकुल आधशयक नहीं है। मोलिक आदर्श और मूलभूत व्यवहार की विदेशताओं का निशाव तो होता है परन्तु उनको आपुनिक जीवन में ढालने की प्रवृत्ति इन नाट्यों में बराबर बनी रहती है।

उदाहरणार्थं परम पावन भगवती सीता घपने परिवर्त घर्म को निमाने के लिये भगवान् राम के साथ बनगमन करती है। उनके साथ कष्ट सहती है। अपने पति के साथ भारतीय आदर्शानुकूल बदावरी का दर्जा पाती है। उसके हरण पर भगवान् राम विरहघ्यपा से व्यक्ति हो जाते हैं। राम घपनी पत्नी के पाप्ता पर द्वरण्मूर्ग का चर्म लेने के लिये शिकार को जाते हैं परन्तु लोकनाट्यों में वही सीता प्रचलित लोकाचार की इष्ट से राम के द्वरण दक्षाती है, भुटिया में राम, लक्ष्मण के लिये भोजन बनाती है, बंगल से कठ और लकड़ी बीन कर सातो है, कपड़े धोती है, बर्तन मोजती है और प्रतिपल पति से दबकर रहती है। राजस्थानी रासधारियों में सीता राम का खुँझट भी निकालती है, राजस्थानी द्वारा हुरी जाकर जब वह ग्रामीणवाटिका में निवास करती है, तो गति को विरहवेदना से कही अधिक उसको यह डर है कि उसका पता लग जाने पर राम उसको अवश्य ही धोड़ेगे। राजस्थान के इस विशिष्ट लोकनाट्य में रावण के प्रति राम का रुप भी बेसा ही दण्डिया भगवा है जैसा कि किसी आज्ञा के ग्रामीण व्यक्ति का अपनी स्वीकृति के चुराये जाने पर होता है। अपनी गली

के हरण पर राम मही भावना व्यक्त करते हैं कि बिस तरह रावण ने मेरी स्त्री का हरण किया है, उसी तरह मैं भी रावण की स्त्री का हरण करेंगा ।

धार्मिक भावनाओं और संस्कारों पर आधारित रामलीलाओं को छोड़कर लगभग सभी रामायारित लोकनाट्यों में कथाप्रसंग का काफी निमाव होते हुये भी चरित्रविद्रण में लोकाभार की इटि से काफी परिवर्तन दिलाया गया है । रामदूर्ग के सभी पात्र इन लोकनाट्यों में पोजाके भी वही पहिनते हैं जो आजकल गाँवों में पहनी जाती है । यदि वह राजस्थानी लोकनाट्य हो और राजस्थानी भवलियों द्वारा अभिनीत होता है तो सीता उसमें साड़ी, लैंडगा पहिनेंगी और पूर्खट निकालेंगी । राम, लक्ष्मण, रावण आदि पात्र राजस्थानी पश्चिमी, राजसी भवलियों, कमरवर्दी, ढान उम्बारों, भाजों और दरबियों का प्रयोग करेंगे । रावण जब सीता को हरने के लिये आयेगा तो उसकी बेलभूषा आधुनिक फोटो की सी होगी और प्रकट हो जाने पर वह आधुनिक प्रेमी को तरह अवहार करेगा । दशरथ महाराज की मृत्यु पर भरत संकड़ों द्वारा मालपुर्यों का भौतर (मृत्यु-भीज) करेंगे ।

भोजों के गवरी नाट्य में भी माता गीरी विश्वामी के घर में साधारण गृहिणी की तरह गोबर के कोडे बनती है । शिव के ऋषतार दूँहिया वज्र घपनी बहिन खेतुही के घर जाते हैं तो वह मकई की रोटी तथा नहसुन प्याज की बटनी जाते हैं । बृन्दावन की धार्मिक लीलाओं को छोड़कर सभी कृष्ण-धारित लोकनाट्यों में कृष्ण गोमियों ये उसी तरह छेष्ठाह करते हैं जैसे धाव के बनवाले नीजवान रास्ते चलती हुई लोकरियों को छेष्ठते हैं । इस तरह लोक-नाट्यों के चरित्र, जाहे किलने ही पीरात्मिक और ऐतिहासिक वर्णों न हों, धोनीव विशेषताएं लिये हुए होते हैं । जैसे राजस्थानी लोकनाट्यों का राम रावणस्थानी वेलविन्ध्यास में होता है और राजस्थानी भाषा बोलता है । महीनही वह घपनी स्थानीय समस्याओं को घपने अवक्तुर तथा अभिनन्दन में प्रयुक्त करता है । यदि किसी छोड़ में किसी विशेष स्पौदारों, पदों, समारोहों तथा धार्मिक विश्वासों का प्रचलन है तो वही के नाटकों में वे सभी लौहार, वज्र तथा विश्वास नहर्त ग्राप्त कर लेते हैं । यदि किसी छोड़ में किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रचलन है तो वही विचारधारा उस छोड़ के लोकनाट्यों की विचारधारा बन जाती है । यदि किसी छोड़ में भैरव का महत्व है तो वही की रामलीलाओं में स्वयं राम भी भैरव की पूजा करने लगते हैं । यदि किसी छोड़

में हुरिजनों और शूद्रों के प्रति छुप्रालूक का प्रबलन है तो वही के लोकों के सभी चरित्र उसी प्रकार का अवहार पाते हैं। वही के रामाभित्र नाटकों में भगवान् राम शब्दी भी सम के लूटे वेर नहीं आते, निषाद की नौका में बैठकर गंगा पार नहीं करते। पांच पति बाली द्रैपदी, जो महामारतकालीन सामाजिक शादियों के अनुग्राह पूजनीय नारी समझी जाती है, लोकनाट्यों में कुत्सित नारी की तरह चिपत होती है।

लोकनाट्यों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों के महान् प्राच्यात्मिक प्रादर्श अधिक चमत्कृत नहीं होते। उनके जीवन के ले अवहार, जो प्रचलित जनसमुदाय की परम्परायों और शावनायों को अधिक स्पष्ट करते हैं, प्रधानता पाते हैं। राजस्थानी कलालों के राजा केवलीसिंह और अमरसिंह के बीचता के चमत्कार समाज को वितने स्पष्ट नहीं करते उनके उनके प्रेमानाद समाज करते हैं। पारम्परिक धार्मिक रामलीलायों को छोड़कर सभी रामायानित लोकनाट्यों में राम को पितृसत्ति, लक्ष्मण का आत्मप्रेम, सीता का यातिरूप धर्म तथा उनके उच्च मानवीय शादियों का जितना चित्रण हुआ है, उनसे कहीं अधिक चित्रण उनकी दैनिक जीवनचर्याओं का हुआ है। जैसे राम क्या आते हैं? क्या पहिनते हैं? सीता क्योंद्या में सास-समुर के प्रति कैसा अवहार करती है? अशोकवाटिका में किस तरह शपना बाना बनाती है? सीता स्वप्नमंवर में राम घन्य राणायों के साथ कैसे प्रतिस्पर्शों में उलझते हैं? सीता के विरह में किस तरह छटपटाते हैं तथा बनगमन की शाजा शकर किस तरह दुखी होते हैं? लोकनाट्यों का राम जब सेका विवर के दृष्टान्त पर खोटता है तो सर्वप्रथम वह आपना राज्य संभालता है कि कहीं मरते ने कुछ चतुराई तो नहीं की।

इस तरह ऐतिहासिक पात्रों को बही-बही धीरगायाएं तथा त्याग, वर्षि-दाम के कारनामे लोकनाट्यों में विशेष महत्व नहीं रखते। उन ऐतिहासिक पात्रों के ले जीवन-अवहार, जो याहूस्य जीवन से संबंधित हों या जो प्रचलित दैनिक जीवन-अवहार के अनुकूल हो, लोकनाट्यों के धारायरण बनते हैं। ऐसे ऐतिहासिक पुरुष प्रपने उच्च जीवनादियों से महान् नहीं बनते। यदि उनमें से किसी ने चिठ्ठा या सौप के काटे हुये को जीवित कर दिया तो वही लोकनाट्यों में देखता की पढ़वी पाता है। देश को गुलामी की जबीरी से मुक्त करने वाला महापुरुष लोकनाट्यों में जितनों प्रसिद्धि प्राप्त नहीं करता उत्तमी सत्त्व की गायों को कामाइयों से बचाने वाला प्रसिद्धि प्राप्त कर नेता है। देश, समाज तथा समस्त जाति को सामाजिक और सामाजिक बंधनों से मुक्त

करने वाला सत् लोकनाट्यों में जितना महत्व नहीं पाता, उनना नौव के बच्चों को जाहू-टोनों से स्वस्व करने वाला साधु पा लेता है। देश की महान् भाषाओं के अदिक्ष यदि लोकनाट्यों में विषय बनते भी हैं तो उनके उच्च वारितिक गुण उनके आकर्षण नहीं बनते। उनके व्यावहारिक जीवन के चमत्कारपक्ष ही लोकनाट्यों में स्थान पाते हैं। 'मीरा-जीवन संबंधी 'मीरामंगल' नामक राजस्थानी बायाल में मीरा की भक्ति, उनके आश्रयात्म तथा उनके दोष को कही महत्व नहीं दिया गया है। उसमें केवल मीरा के श्रुतेश, विवाह तथा उसके लोकाभारों पर ही विशेष बल दिया गया है। 'मीरामंगल' की मीरा धृत में मेवाह के महाराणा के साथ अपना विवाह स्वीकार भी कर लेती है। उनके साथ गाहूंस्त्व जीवन भी अपतीत करती है। उनकी कृष्णभक्ति अपने पति की सृष्टि के उपरान्त वैष्णव की पीड़ाओं को कम करने के निमित्त ही उपयोगी है।

### लोकनाट्यों के नाट्यतत्त्व

ऐसा पूर्व ३०० वर्ष के भरतमुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र से यह जात होता है कि नाट्य की परम्परा इस देश में सहजों वर्षे पूर्वे थी। यह नाट्यशास्त्र लगभग आठ अर्घ्य शास्त्रों की रचना के उपरान्त लिखा गया प्रत्यंत परिपक्व शास्त्र है। किसी भी साहित्य तथा कलाप्रसंग का शास्त्र उभी लिखा जाता है, जब उसका विकास जरूरसीमा तक पहुँच जुका हो तथा अनेक प्रचलित वाद-विवादों के कारण उसे दिशा-मिश्रण की शाखदारकता हो। आचार्यगण ऐसी ही प्रवस्था में शास्त्र की कलना करते हैं और नाट्यों को अनेक नियमों में बोधकर उनका सीमा-निर्धारण तथा प्रचलित विवादों का शास्त्र डारा निराकरण करते हैं। भरतमुनि डारा प्रणीत नाट्यशास्त्र के उपरान्त अनेक नाट्यशास्त्र दशावीं शताब्दी तक हमारे देश में लिखे गये, जिनमें अनंत डारा लिखित दण्डकपक्ष सबोंपरि है। उन्हेंनि नाट्यशास्त्र को अनेक ग्रन्थ-प्रत्ययों में विभाजित करके उसको एक पूरी व्याकरण्य ही बना दाली। इन शास्त्रों के आधार पर लिखे गये नाटक लगभग ११ भी शताब्दी तक हमारे देश में प्रचलित थे जिनमें कालिदास का मालविकामित्र, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोद्योगी, हृषी लिखित रत्नाबली, शूद्रक का मृच्छकाटिक, भवभूति का महाबोरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव, मट्टनारायण का वेस्तीसंहार और विशांग-दस का मुद्राराधास प्रसिद्ध हैं। यह कम शताब्दी शताब्दी तक लिखे हुए उन नाटकों का है, जो कला और साहित्य की समस्त सामग्री से सम्पन्न हैं तथा जिनमें नाट्य के समस्त शास्त्रोंका पूर्णरूप से अनुशीलन हुआ है। नवी

शताब्दी में भी राजकोंवर द्वारा लिखित कुरुरमजरी उथा बाल रामायण नामक नाटकों की रचना हुई । ११ वीं शताब्दी में कृष्णभित्र ने प्रबोध चन्द्रोदय जैसे नाटकों की रचना की । यह समय शास्त्रीय नाटकों के पठन का समय माना गया है और अनेक साहित्यिक मीमांसकों ने यह लिखा है कि ११ वीं शताब्दी के बाद जैसे ये नाटक हीन और हेतु नाटक हैं । यदि इन सभी शास्त्रकारों की बात हम सत्य मान लें तो यारहवीं शताब्दी के बाद लगभग ३०० वर्ष तक भारत में नाटक का विकास प्रवरुद्ध हो गया । शास्त्रकारों ने इस ल्लास का कारण राजनीतिक और सामाजिक उच्चलघुष्ठल बलताया है । परन्तु सब बात यह है कि शास्त्रकारों ने केवल नाटकों को बलिक साहित्य के लगभग सभी भूमियों की शास्त्र से ऐसा जकड़ लिया था कि लेखकों तथा रचनाकारों की स्वतंत्र प्रभित्यक्षम और रचनाविधि को सर्वोच्च ठें पहुँची । लोकनाट्यों की भूमि प्रचलित तथा अत्यन्त लोकप्रिय लोगों को भी शास्त्रों में बोधने की कोशिश हुई परन्तु वह कभी भी उनकी पकड़ में नहीं आई ।

भारतीय नाट्य-परम्परा के साथ ही यूनान में भी नाट्य की एक बहुत ही स्वस्व परम्परा प्रचलित थी । परन्तु यूनानी नाटक के इतिहास के अनुसार वह कभी भी किसी शास्त्र में नहीं जैखा । नाट्य की कुछ स्वस्व परम्पराएँ प्रचलित रहा और विकास की जरूरत कार भानकर यूनानी नाटक संकड़ों वर्षों तक बायम रहा और विकास की जरूरत की जरूरत समीक्षा तक पहुँचा । उसके बाद रोम, इटली तथा यूरोप के अन्य देशों में भी नाटक की अनेक स्वस्व परम्पराएँ विकसित हुई । पढ़हरी शताब्दी में महाराजी एलिजावेच का समय इश्लिम नाटकों का उत्कर्षकाल समझा जाता है जिनमें जैक्सपीयर जैसे नाटककार सर्वोच्चि भाने गए हैं । उनके सभी नाट्यों में नाटककार ने अपनी स्वतंत्र नाट्यप्रतिभा का परिचय दिया । कहीं भी और किसी भी देश में शास्त्रकारों ने उन्हें शास्त्रीय नियमों में नहीं बोधा । भारत में भी संकड़ों वर्षों से जो नाट्य की स्वस्व परम्परा बन रही थी उसको को कायम रहने दिया जाता तो भारतीय नाट्य का इसकी शताब्दी तक ल्लास नहीं होता । भारतीय नाट्य को वही दजा हुई जैसी कि भारतीय भाषाओं की हुई । प्रचलित लोकभाषाओं को शास्त्रकारों और भाषाओं ने अपाकरण आदि शास्त्रों से ऐसा जकड़ा कि लोकभाषा और प्रदिलों की भाषा अलग-अलग होती रही ।

भरतमूर्ति के नाट्यशास्त्र में अनेक प्राचीन सूत्र हैं जिनके भाष्य आदि भी हैं । इससे स्पष्ट है कि उससे पूर्व भी अनेक प्राचीन सूत्रों पर भाष्य, कारिकाएँ

धार्दि निखी जा चुकी थी । इसका यह अर्थ है कि नाट्य को ऐसा पूर्व कितने ही शास्त्रकारों ने आश्वेल नियमों से बोयना प्रारम्भ कर दिया था और नाट्य की मूलता के बाद उसे कितने ही उत्तरवद्धाव देखने पड़े । कठपुतली के मूलधार धार्दि की कल्पना को मानवीय नाट्य में प्रयुक्त करने की जो परम्परा है उस पर तथा नाट्य के विकासकम पर पूर्व परिच्छेदों में पर्याप्त प्रबाणी ढाला गया है । नाट्य का सूचपात्र तो वैदिककाल ही में ही गया था जिसकी अनेक नाटकीय संवाद वेदों में मिलते हैं । महाभारत धार्दि पत्थों में भी नाट्य के अनेक रूप विद्यमान हैं । उसके बाद के हरिवंशपुराण में कोवेररेमानितार नाट्य का उल्लेख है । उसमें घटियाय उग्रत नाटक के तत्त्व मिलते हैं तथा उसके प्रभिमय में उच्चकोटि की रंगशास्त्रा का प्रयोग हुआ है जिसमें धाकादमार्ग में जाते हुये रथ तथा कैलाल धार्दि पर्वतों के हृष्ट अवतंत सफलतापूर्वक विजयाये गये हैं । जैन धर्मों में भी अनेक नाटकों का उल्लेख है । महाशीर स्वामी के २०० वर्ष बाद हमारे देश में नट-नटियों के नाटकों की भरभार थी । ये नाटक हमने प्रचलित हो चुके थे तथा नट-नटी की इतनी कलाबाजियाँ इनमें दिलजाई गई थीं कि साधु-सती को उन्हें देखने का निषेध किया गया था । नाटकों के ये सभी प्रकार लोकनाटधों के ही उल्लत रूप थे । परन्तु हमारे शास्त्रकारों ने केवल उन्होंने नाटकों को नाटक समझा था राजप्रासादों तथा विशिष्टजनों के यही धार्दय पाते थे । ये सोकनाटध यो सहकर्ता, शेत-वानिहानों, मैदानों, चौराहों तथा गौब-गोव, नगर-नगर, डगर-डगर पर होते थे उनको ऐसा जान पढ़ा है इन शास्त्रकारों ने कही मान्यता नहीं दी । उन्होंने अपने सूत्रों में जो नाटक के धंग-प्रत्यंग, उपान्म धार्दि बताये हैं वे सभी इन प्रचलित लोकनाटधों की कल्पना से ही प्रहरण किये जाये हैं ।

उन्होंने जो नाट्य के तत्त्व बताये हैं वे इसने एकांगी हैं कि लोकनाटप उनकी परिधि में आते ही नहीं हैं । इन शास्त्रीय तत्त्वों को देखते हुए ये लोकनाटप उनके केवल कटे हुए धंग गाय से प्रतीत होते हैं । इन्हों धंग-प्रत्यंगों को लोकनाटधकारों ने जनसंघि के धार्दार पर परिष्कृत एवं विकसित किया है । लोकनाटधों में नाट्य के सभी धंगों का विशेषीकरण विस्तृत धार्दयक मही है । कथानक के धार्दार पर जिस धंग के विकास की धार्दयकता होती है उसी का विस्तार किया जाता है । सभी धंगों के विरूपण में लोकनाटधकार अपनी सक्ति नहीं लगाता तथा अपनी स्वतंत्र कल्पना को नियमों में बांधकर अवश्य नहीं करता ।

प्राचीन शास्त्रों में नाटक के विविध प्रकारों का अहो वर्णन किया गया है जहाँ उन्हीं नाटकों को विषुद्ध तथा संपूर्ण नाटक माना है जिनकी कथा दतिहासप्रसिद्ध हो तथा जिनके नायक, उपनायक तथा अन्य पात्र उच्चकृत, उच्चवालि तथा उच्चधरणों के हों। जिस नाटक की कथा निम्नवर्ग से संबंधित हो, उसे शास्त्रकारों ने उपरूपक माना है और उसके धूर्थगत उन्हें प्रेषण, संनायक, शिल्पक, हल्तीश, भास्त्रिका आदि से संबंधित किया है। नाटधाचारों ने उपरूपक के मी प्रमेनक धूर्थ-प्रत्यय दर्शाये हैं तथा नायक-नायिकाओं के भी प्रमेनक भेद उपभेद बतलाये हैं। नायिकाओं की विशेष प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई हैं, जिनमें कौशिकी जिसके बारे भेद नहीं, शुभार नहीं, आत्मोपक्षेय नहीं, मारती, सात्कृत और पारमठी आदि प्रमुख हैं। कथाप्रसंगों के संबंध में भी नाटधाचारों ने बात की तात्त्विकी ही है। वस्तु के भी प्राथिकाधिक प्रात्मगिक शीर्षभेद बतलाकर, भेद-उपभेद किये हैं। इन्हीं कथाप्रस्तुत्यों के प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अप्रसर होनेवाले अंशों को अर्थप्रकृति बतलाया है तथा इन्हीं अर्थप्रकृतियों को बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, बायं आदि उपासों में बौद्धक नाटप्रत्यक्षकों के सामने विचित्र प्रकार का गोरक्षप्रधान प्रस्तुत किया है।

नाटकशास्त्र के इन सभी तत्त्वों के प्रधानम से यही जात होता है कि नाटधाचारों ने केवल नाटक लिखने के लिये ही शास्त्र लिखे हैं। इन शास्त्रों का अनुरूपत्व करके किसी भी धार्मिक नाटककार ने नाटक नहीं लिखा है। यदि इन्हीं नाटप्रत्यक्षों की प्रतिम भान लिया जाय तो एक भी नाटक नहीं लिखा जा सकेगा। हर्ष, भास, भवभूति आदि नाटककारों ने जो सफलता प्राप्त की है वह शास्त्र के अनुरूपत्व के कारण नहीं, वह उनकी प्रतिभा के कारण ही है। शास्त्रों में विशित वास्तु नाटप्रत्यक्षों में उलझा रही है। यही कारण है कि चार-पाँच हजार वर्षों से इस स्वरूप नाटप्रत्यक्षका के बाबूद भी कुछ ही इनमें शास्त्रों का रचना हुई है। यदि शास्त्रों की वटिलता से उन्हें नहीं बचकड़ा जाता तो याज्ञ हमारे इतने बड़े देश में हजारों लोकोंयां नाटक धार्तियों के सामने होते, परन्तु वे लोकनाटक, जिन्होंने शास्त्रों की परम्परा को नहीं माना, याज्ञ भी हमारे देश में कई क्षेत्रों में विद्यमान है।

ये असंख्य लोकनाटक लोकजीवन में ऐसे व्याप्त हुए हैं कि इन शास्त्रीय नाटकों की ओर बहुत ही कम सोरों का ध्यान धारकीयत हुआ है। ऐसे नाटकों के लिये नाटकशास्त्रों में विशित प्रेक्षालयों की साप्तश्यकाता नहीं होती। न उनमें

कथानक, कथोपकथन, पात्र, मायक, नायिका तथा उनके भेद, उपमेव तथा पात्रों में रसनिष्ठता के लिये शास्त्रोक्त नियमों का अनुशीलन ही पावरशक्ति है। इन लोक-नाट्यों की सबसे बड़ी बात यही है कि उनमें मायक, ग्रान्त, जाति, परिवार, शिवित, सूख, अविलित, गंडित का भेद करती ही तात्पर्य दिया जाता है। प्रसंग, कथानक, मायक, कथोपकथन, पात्र, चरित्र आदि के चुनाव में उन्होंने सबसे अधिक ध्यान उनकी व्याख्या का रखा है, जाति तथा वर्म-भेद का नहीं। ऐसे नाट्यों के कथानकों के लिये शास्त्र तथा इतिहास की कहीं गरण नहीं सेनी पड़ती। लोक-बोक्स में जो सर्वोच्चिक कथा विवरित होती है उसीकी नाट्यप्रणीता अपना विषय बना दातते हैं। ये प्रसंग अत्यंत संवित्त, पात्र अत्यंत न्यून तथा कथोपकथन अत्यंत सरल और सर्वगम्य होते हैं, इसलिये कुछ लोग भारत, प्रहसन, धीरगित, विचासिका आदि शास्त्रोक्त नाट्यों के उपभेदों के साथ उनका तात्प्रेरण विठाने की कोशिश करते हैं तथा उन्हें लोकनाट्यों के ग्रन्थों ही मानकर उन्हें शास्त्र के दावरे भी मानी जाते हैं। तथ्य यह है कि ये नाट्य स्वतंत्र रूप से ही यत्नादिकाल से समाज में व्याप्त हैं। सभव, स्थिति तथा सामाजिक सामाजिकताओं के अनुसार इनकी रकमा होती रहती है। इनकी लोकरचकड़ा, इनका विस्तृत प्रचाराद्येत तथा निम्न समाज में इनका प्रचलन देखकर ही हमारे नाट्याचारों में उच्चतर्मायी समाज के लिये नाट्यशास्त्र बनाये तथा नाट्य की दिशा बदलने की कोशिश की। परन्तु उनसे लोकनाट्य भी यह स्वस्य परम्परा कभी भी विचलित नहीं हुई और वह आम से आमे कदम बढ़ाती ही रही।

एब प्रश्न यह है कि इन लोकनाट्यों के नाट्यांग पूरी तरह विकासित नहीं होते हुए क्या वे नाट्य की वेणी में आते हैं? अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं जिनमें कथावस्तु का कोई गहर्त्व नहीं है, कुछ में कहीं कथावस्तुएँ भिन्नकर नाट्य को परिपूर्ण करती हैं। कहीं-कहीं नाट्य का कहानीक विकास भी नहीं होता और योंही में समस्त प्रसंग टूट जाता है। कहीं-कहीं ग्रामगिक वस्तु मुख्य वस्तु को गिराकर ग्रामनाटा ग्राम करती है। कुछ में नाट्य का मायक गृहाहीन, नीच तथा दुष्करित है; उनकी नायिकाओं में भी शास्त्रोक्त नायिकाभेद की हृषित से अनेक विचोग्धी तस्वीरों का समावेश होता है। अनेक लोकनाट्यों में विचोग्धी रसों का प्रयोग हुआ है जो रसायनस की घोषणा उनमें गहिरा का सचार करते हैं। नाट्यस्वरहार की हृषित से भी ये लोकनाट्य रंगभंग की सभी परम्पराओं को छोड़कर अवश्यक होते हैं। उनमें आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सार्विक इन चारों प्रकार के अभिनवों की गूसुं प्रवहेतना पाई जाती है।

इन सब शास्त्रोंका नाट्यतत्त्वों का पूर्ण प्रभाव इन लोकनाट्यों में रहते हुए भी वे प्रभावोत्पादकता, सीकानुरंजन तथा रसानुभूति की इटि से अत्यंत सफल नाटक हैं। एक विचित्र बात इनमें यह है कि वे पात्रों को उपमुक्त प्रोत्ताकों की अपेक्षा विपरीत प्रोत्ताकों पहिनातार भी दर्शकों को बीजिक पात्रों का अनुभव करा देते हैं। आजिक अभिनय में भी सीठ-नृस्यसंवादों को अनावश्यक हुंग से सम्बद्ध बहाकर भी ये पात्र अपना अभिग्राह पूर्ण रूप से प्रकट कर देते हैं। आजिक अभिनय में भी ये पात्र शास्त्रोंका नियमों का पालन नहीं करते। जहाँ अनुकरण के लिये विलिप्त अंगमुद्राओं की आवश्यकता होती है वहाँ विपरीत मुद्राओं का प्रयोग करके भी बोहित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सात्त्विकी अभिनय में तो पद-नद पर अनियमितता बरती जाती है क्योंकि जहाँ रोना होता है वहाँ पात्र गाकर रोता है और जहाँ हँसना होता है वहाँ वह रो कर हँसता है। अपकर जोप, छुला-तथा रोड़ के पात्र भी वे गाव्याकार प्रकट करते हैं।

इन लोकनाट्यों के वस्तुविग्राह में भी अनेक असाधारण बातें रहती हैं। कभी-कभी समस्त नाटक तुलूम ही के रूप में पूरा हो जाता है। कथाप्रसंग उसमें नहीं के बराबर होता है। उसके संबाद भी आयः मूक ही होते हैं। कथावस्तु को मोटे-मोटे तीर पर संयोतवाचन के रूप में व्यक्त कर दिया जाता है। ऐसे नाट्यों को कथावस्तु आयः लोकविदित होती है। अतः नाट्यकार उसकी पैचीदियों में फँसकर व्यर्थ जनता का समय नष्ट नहीं करता। वह इन लोकविदित कथावस्तुओं की गृष्ठभूमि पर नाट्य के मोटे-मोटे तत्त्वों को प्रकट करके समस्त नाट्य का बोहित प्रभाव उत्पन्न करने में सफल होता है। अनेक लोकनाट्य ऐसे हैं, जिनके पात्र नाट्य की कथावस्तु द्वारा दर्शकों को अनुभूमि करते रहते हैं। ऐसे नाट्यों के पात्र नाट्यप्रसंग में अवतरित होते हैं, रंगमंच पर आते हैं, अपना करत्तब दिखाते हैं और अपना चारित्रिक तथा प्रासादिक उत्तम्य जनताएँ बिना ही कहीं चिलीन ही जाते हैं, फिर कभी प्रकट नहीं होते।

वही प्रश्न यह उठता है कि अध्यवसित तथा नाट्यतत्त्वों से हीम नाट्यों की नाट्य कैसे नाम निया जाय? जाहरीय नाट्यतत्त्वों की इटि से भी वे नाट्य की परिभाषा में नहीं आते। फिर भी जनता को उसमें समूर्ख नाटक का आमनद मिल जाता है तथा उससे कथावस्तु, कथोपकथन, पात्रों के चरित्र, इनके उत्तम्य तथा अभिनयजनित रसों को पूर्ण रसानुभूति हो जाती है।

### लोकनाट्यों की कथावस्तु

लोकनाट्य ऐसे ही प्रसंगों पर अवलम्बित रहते हैं जिनसे जनता पहले से ही परिचित रहती है। किसी अतिक्रियेष्वर के मन में उपरे हुये भाल्लतिक प्रसंग का उपयोग लोकनाट्योंमें सर्वथा वर्जित है। ये प्रसंग किसी भी पौराणिक, ऐतिहासिक तथा किवद्वितीयों पर आधारित भूमारिक आधारणिता पर रखे जाते हैं जो दृगोंकों के जीवन में संस्कारवत् जुड़ी रहती है और जिनके पात्र सर्वदा ही किसी न किसी रूप में उनके विरग्गा-स्रोत होते हैं। उनमें ऐसे घमर श्रेमियों के कथानक भी सम्मिलित हैं जो युषक-हृदय को माल्हादित करते रहते हैं और कभी-कभी उनमें शब्दालित प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं, जैसे राजस्थान के लैला-मजदू, गोरी-फरहाद, हीर-राजा, सोहनी-महिवाल, दीला-मरवण, मूमल-महेन्द्र आदि-आदि। धारिक प्रसंगों में उच्च शास्त्रीय प्रसंग लोकनाट्यों की कथावस्तु नहीं बनते। उनमें भी ऐसे ही प्रसंग स्थान पाते हैं, जिनके साथ सापारसा जैसे अपने पारिवारिक मुख-दुखों की उपलब्धि में आधारितिता के रूप में जुड़े होते हैं, जैसे राजस्थान के लैलाजी, गोगाजी, पाकूजी, भैरवजी, रामदेवजी आदि।

उच्चकोटि के भारीभरकम कथाप्रसंग तथा दर्शनशाला, वेदपूराण, भगवान्नरत, रामायण, भागवत आदि की उच्चारणों निरूपित करने वाली कथावस्तु से ये नाट्य सदा ही पूर रहते हैं। नाट्य जैसी हल्लकी-कुलकी, लोकानुरंजनकारी मुखाद परपरा को नंगीर तत्त्वों से बोनिल बनाना उचित नहीं समझा जाता। भगवान्नरत तथा रामायण जैसे लोकश्रिय धन्यों के भी ऐसे ही प्रसंग इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त होते हैं जिनमें लोकश्रिय तथा लोकादर्श मिहित रहते हैं तथा जिनके साथ लोकजीवन की दैनिक तथा लैलिक कियाएँ जुड़ी रहती हैं, जैसे राजस्थान के दीपदीपवर्यंवर, हवमणीमण्ड, विल्वमंगल, नलदमयन्ती, भर्तुहरि, सावित्रीसत्यवान, ध्रुवचरित, भक्त-प्रह्लाद आदि-आदि। इन प्रसंगों में भी उन्हीं धन्यों पर जोर रहता है जिनका जनता के पारिवारिक जीवन से जगात होता है। उनके सभी आध्यात्मिक तत्त्व निकाल दिये जाते हैं और वे ही तत्त्व प्रयुक्त होते हैं जिनका संबंध उनके वर्तमान जीवन से हो। उनके सभी प्रत्यक्षिक पात्र इन नाट्यप्रत्यनाधोंमें लैलिक पात्र की तरह ही प्रकाशित होते हैं। लोकनाट्य-रचयिता यह प्रबन्ध आधार लेकर चलता है कि ये कथाप्रसंग जनजीवन में पूर्णतः व्याप्त है और उनका सांगोपांग प्रयोग, उनकी रचना में आवश्यक नहीं है, उनकी तरफ केवल इतारा ही काफी है।

शास्त्रीय नाट्यों की तरह धर्मिकार्थिक और प्रासंगिक कथानक का विचार इन लोकनाट्यों में बिल्कुल नहीं रहता। वास्तव में कथानक का इतना जंजाज लोकनाट्यों की प्रहृति के बिरुद भी है। कम्भी-कभी तो अनेक प्रासंगिक कथाओं में से एक ही कथाप्रसंग शास्त्रीय नाट्यों के छोटे-छोटे युक्त तथा प्रकरी के रूप में समस्त नाट्य की कथावस्तु बन जाता है। धर्मिकारिक कथावस्तु को तो कम्भी-कभी ये लोकनाट्य छूते भी नहीं हैं, परन्तु की कमज़़़़ा: विकसित करनेवाली — आरेख, प्रयत्न, प्राप्याशा, नियताप्ति, फलानगम प्रादि प्रवस्थाओं की तो कलना ही नहीं की जाती, क्योंकि इन प्रवस्थाओं का क्रमिक विकास लोकनाट्यों का उद्देश्य नहीं होता है। कथावस्तु की ये सभी प्रवस्थाएँ पहले से ही दर्शकों में विद्यमान रहती हैं। लोकनाट्यों का रंगमंचीय सार्वजनिक प्रदर्शन तो उस समूणे नाटक का अवलोकित भ्रंत है जिसके मध्य हृष्य दर्शक पहले ही अपनी कलना में देख चुका होता है। इसीलिये कथावस्तु के उसी अग की रचनाकार स्पष्ट करता है जिसके माध्यम से वह नाटपत्रकों को धर्मिक प्रमाणवाली डंग से प्रबिल्वक कर सके। योग को वह छोड़ देता है। उदाहरण के तौर पर दो प्रेमियों की लोकविदित कथावस्तु की नाट्य में प्रस्तुत करते समय खेलका जाता है कि ये प्रेमी लिन के बाज़ हैं, किन स्थान, नगर, ग्राम के निवासी हैं? ये सचने प्रेमपात्र की उपलब्धि में लिन-किन कठिनाइयों का सामना करते हैं? उनके मार्द में कौन-कौन व्यवधान मार्ये हैं, तथा अपने प्रेमपात्रों की खोज में ये कहीं-कहीं की मात्रा कर लुके हैं? इनका सांगोपाच परिचय जनता को पहले नहीं है, अतः वह अपनी वस्तु को निरर्थक ही इन प्रसंगों में नहीं उलझाता। उसकी अपेक्षा वह अपनी प्रधिकाल शक्ति प्रेमी और प्रेमिकाओं की प्रेमवार्ता को मनोरम सीरों व काढ़-छन्दों में प्रयुक्त करके उस की संगा बहाने में समाता है और वस्तु के उन्हों प्रसंगों पर जोर देता है जो इसकी प्रेमवार्ता को उद्दीप्त कर सके।

### लोकनाट्यों का कथोपकथन

लोकनाट्यों का सर्वाधिक महसूपूर्ण उत्तर पवित्र कोई है तो उसका कथोपकथन ही है। पाह को बहते हैं, जिन घरों में कहते हैं, जिन माय-सहस्रियों में गते हैं और जिन अमर्मिनायों तथा नुल्यमुद्रायों में उसकी प्रगिर्वत्ति करते हैं, उन्हीं में दर्शकों को मतलब है। कैसा रंगमंच बना, कितनी रोलनियाँ सजावट में लगाई गईं, कितने परवे डंग, किसमें क्योंकि में नाटक प्रस्तुत किया गया, कैसी बैण्डभूषा का प्रयोग हुआ, इन सब बातों की

पीर दर्शक ध्यान नहीं देता । उसकी कृषि केवल पाज के मधुर कंठ तथा उसके गाये हुए भनोरम गीत-संवाद में है । कथाबस्तु, चारिचिकित्सा, नाट्य के उत्कर्ष-घणकर्य, लेखिक्यास, मृत्युविम्यास से उसको कोई मतलब नहीं है । घणिकाश गाज तो इन लोकनाट्यों में पोशाक पहिनकर दर्शकों के बीच ही बैठ रहते हैं । कोई-कोई तो आजनी पोशाक भी दर्शकों के बीच ही बैठ रहते हैं । वह उनकी तरफ ध्यान भी नहीं देती, वर्मोंकि रंगमंच पर उतसे पर ही वे नाटक के पात्र समझे जाते हैं । जनता को इसने भी कोई संबंध नहीं है कि नाट्य का प्रारंभ और अंत कहाँ है ? उसका संबंध तो घण्ये चिर-परिचित कथानक के उन चिर-परिचित पात्रों से है जो रंगमंच पर दक्षतापूर्वक जाते, जाते और अभिनय करते हैं । इसकी पूर्ति में वह उनसे अत्यन्त नफ़ल और प्रभावशाली यदायगी की प्रपेक्षा करती है । जो प्रसंग और कथोपकथन जनता के हृदय पर पहिले से ही प्राप्ति की तरह अंकित रहते हैं उनमें रसीमान भी संशोधन तथा परिवर्तन जनता महत नहीं करती, वाहे पात्र अपनी भूमिका धदा करने में कितना ही प्रतीरा कर्मों न हो ।

इन नाट्यों के कथोपकथन शोशीय भाषाओं में ही होते हैं और वे उन्हीं में अच्छे भी लगते हैं । दर्शकगत्या इस बात की कल्पना ही नहीं कर सकते कि राम, कृष्ण, राधा, सीता आदि गाज से हजारों वर्ष पूर्व के पात्र हैं और उनका गाज के युग से कोई संबंध नहीं है । दर्शकों के राम, कृष्ण तो कुछ ही वर्ष पूर्व के पात्र हैं, जो साधारणतः रोडमर्डी की पोशाकें पहिनते हैं और उन्हीं की तरह जाते-भीते तथा व्यवहार करते हैं । यही कारण है कि इन लोकनाट्यों में राम, कृष्ण, सीता आदि की पोशाकें पीरासिक नहीं होकर उस जोश की प्रतिलिपि पोशाकें हैं जो आम जनता दैनिक जीवन में पहिनती है । उनके कथोपकथन भी रोडमर्डी की परेन्स भाषा में गाये जाने जाने गीतों ही में होते हैं, जो बहुधा समस्त जनसमाज को कंठस्थ होते हैं । इन गीतसंवादों की प्रदायगी जब रंगमंच पर होती है उस समय नाट्य की कथाबस्तु वही रहती है । वह आम नहीं बढ़ती । एक ही गीतसंवाद परि अभिनेता जार तरह से यलग-प्रलग खुलों में अद्द करे तो भी दर्शकों को कोई आपत्ति नहीं है । उन्हें इस बात की भी कोई चिन्ता नहीं है कि वस्तु ने प्रारंभ, प्रगल्प, प्राप्त्याज्ञा आदि अवस्थाओं को प्राप्त किया है या नहीं । यही कारण है कि लोकनाट्यों की सबसे बड़ी अस्ति उनके कथोपकथन ही

में है। अन्य सब उच्च प्रति गोण हैं। इसीलिये नाट्यकार उन्हें बहदरी तथा स्वर्दों से लूब मजाता सेवारता है। कथोपक्षन की उत्तीर्ण महत्ता के कारण ही लोकनाट्य साहित्य, संगीत तथा लयकारी की हाप्ति से सबीमप्रशंस होते हैं। जैविशुद्ध नाटकीय संवादों के रूप में नहीं होते जिससे उनके कम का पता नहीं लगता।

### लोकनाट्यों के पात्र

लोकनाट्यों में प्रासीद नाट्य की तरह पात्रों के उच्चादर्श या लक्ष्य-पूर्ति की ओर ध्यान नहीं रहता। कथाप्रस्तु के चुनाव में भी इस ओर कोई विकेन्द्र लक्ष्य नहीं रहता। नायक, नायिका तथा पात्रों में भी उच्च वरित्र तथा उच्चादर्शों का होना आवश्यक नहीं समझा गया है, न जाति, परिवार तथा सामाजिक स्तर की हाप्ति से ही उनका चुनाव होता है। लोकनाट्य का नायक उच्चादर्शी भी हो सकता है और चोर, लम्फट और दुराघारी भी। वह शूद्र भी हो सकता है और बाध्यका भी। वह राजा भी हो सकता है और रंग भी। लोकनाट्यों में नाट्यवस्तु, कथोपक्षन, पात्र, वरित्र तथा दर्शकों की हाप्ति से भी सरीब, असीर, वर्ण, संसर्ग, जाति, कुवाति तथा ऊँच-नीच का कोई भेदभाव नहीं रहता। उनका प्रमुख लक्ष्य मनोरंजन प्रदान करना है, जनता को शिखित करना नहीं है। अतः जिस नाट्य से दर्शकों को शिखित से अधिक मनोरंजन प्राप्त हो सके, वही सफल नाटक समझा जाता है। ऐसे नाटकों में राजस्थान के दियाराम थाड्डी, रिसालू लुटेरा, बदमाज आगिक आदि हैं जिनको देखने में जनता कोई देतराज नहीं करती। इनमें कई नाटक असलील भी होते हैं। इनमें एक विकेन्द्र बात मह है कि दुष्वरित्र पात्रों का भूत में भएकर्य और सत्यवादी तथा न्यायपरायण पात्रों का उत्कर्य बतलाया गया है। सत्य की विवरण और असत्य की परावय होती ही है। इन नाटकों में प्रतिरक्षित, मनोरंजनारमक तथा असलील तर्हों का बहुल होते हुए भी संगीत, नृत्य की हाप्ति से वे सफल लोकनाट्य माने जाते हैं। उनमें शूँगारिक तर्हों की अमिथ्यिक निम्नस्तर की यात्रा होती है परम्परा बीच-बीच में ऐसे प्रहितकारी, नोयक और असामाजिक तर्हों पर बहुत ही महरा कठाक होता है जिससे वे तत्क सबके सामने प्रकाट होते हैं और सभाज में उनके प्रति अव्याधा और अवहेलना की भावना जागूत होती है। ऐसे नाट्यों में राजस्थान तथा गुजरात का भवाई अक्षमत लोकप्रिय है। कुकन भवाई कलाकार जब अपने इन के साथ अपने यजमान (प्राव्यवदाता) के पहुँच प्रदर्शनार्थ आता है

तो गीव के सभी अकाशाक्षिक तत्व नवमीत हो जाते हैं क्योंकि इन भवार्हि प्रदर्शनों में उनके कुहात्यों तथा दुरचारों का भेदाकोड़ होने याता होता है। कभी-कभी तो प्रदर्शन के पूर्व ही ये तत्त्व, जिनमें गीव का गोषक बनिया तथा बमीदार आगीरदार ही प्रमुख होते हैं, इन भवाइयों को बिना प्रदर्शन के ही, इनाम देकर विदा करते हैं। इन ननोरेंजन प्रधान लोकनाट्यों में कशावस्तु, गापारिचय तथा उनके चरित्रजित्रण पर अधिक और नहीं होता। इन सब नाट्यतत्त्वों को संगीत, नृत्य तथा अन्य अमलकारिक खेळ-तमाचे इस तरह इक जैसे हैं कि उनमें नाट्य का स्वरूप ही नज़र नहीं आता। इन नाट्यों में वाचिकी और सात्त्विकी तत्त्वों की पूर्ण अवहेलना होती है और आहार पर विशेष और रहता है।

इन नाट्यों में एक विशेष बात यह है कि नाटक के पाप कशावस्तु के कमिक विकास के अनुसार रंगमंच पर नहीं आते। उनके प्रवेश के साथ ही दर्शकों को उनकी पहिलान (Identity) नहीं हो पाती। अतः रंगमंच पर अपने प्रधम प्रवेश के साथ ही उन्होंने स्वयं अपना परिचय देना पड़ता है। यह गाहत्रीप नाट्य गरम्परत से विलकृत विपरीत है। जो पाप अपनी चारिचिक विजेषताओं के कारण दिलचस्प पाप है तथा जिसका अभिनेता अपने नेप कथोपकथन को धरिताय एवं उन्हें गाने का अभ्यस्त है, वही रंगमंच पर आवश्यकता से अधिक ठिक जाता है। कभी-कभी वह अपनी तथा अपने स्वजनों की प्रतंसा में ही सारा समय लगा देता है। अन्य पाप उनके पास इसलिये नहीं टिकते क्योंकि उनमें कोई विचित्रता नहीं होती। लोकनाट्य इस हाइट से बहुतप्रधान नहीं होकर पापप्रधान होते हैं। कभी-कभी ये पाप रंगमंच पर अवतरित होते हैं और भीम ही लुप्त हो जाते हैं। उनमें से किसी का भी चारिचिक विकास नहीं होता और कुछ तो फल तथा परिणाम तक पहुँचने से गूर्हे ही समाप्त हो जाते हैं। उनका घृत में जगा परिणाम होता है इसका भी पता नहीं जाता। इस नाट्यों के नायक और उनकी नायिकाएँ बहुत अधिक देवीप्रामाण होते हैं, जाहे वे भले अल्प हों या बुरे। अन्य पात्रों से उनका विलगाय बहुत ही प्रासादी जै जो जाता है। वे अपनी अपरम्परा तथा सामाजिक और आसन्निक स्तर की हाइट से अमल्कृत नहीं होते। ये अपने अवश्यों के कारण भी अमल्कृत हो सकते हैं भीर गुराओं के कारण भी। यदि कोई जोर-नुदेरा नायक है तो वह प्रधम शेरों का चोर-नुदेरा होगा। यदि वह भ्रेमी है तो इस दिशा में वह सर्वोपरि प्रेमी होगा। यदि वह अभिन्नारी

है तो आभिवार में वह पराक्राण्डा तक गहीमा हुआ होगा । गुणी नायकों में भी उनके गुण सबव्यापी होंगे । यदि नायक साधु है तो उसका साधुत्व और खाम का अवक्तिव अत्यंत अनुठा होगा ।

लोकनाट्यों में प्रमेक पात्र एक साथ रंगमंच पर नहीं पाते, वर्योंकि उनको गहिचाल दण्डों के लिये कठिन हो जाती है । बहुधा दो ही पात्र एक साथ रंगमंच पर पाते हैं और वे भरपूर संवाद कहते हुए भीतीं की वर्षा करते हैं । दो से अधिक पात्र यदि रंगमंच पर पाते भी हैं तो वे केवल मूक मुद्रा में रंगमंच पर तड़े रहते हैं । बार्तालाय केवल प्रमुख पात्र ही करते हैं । इन्हीं भीतसंवादों से पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष-प्रपकरण का पता लगता है । नाट्य की कथावस्तु भी इन्हीं भीतसंवादों से विकसित होती है । नाट्यवेत्त में कथावस्तु का निभाव लगभग नहीं के बराबर है । ये ही कथोपकथन कथा को शारीर बढ़ाते हैं और उसे वरम भीमा तक से जाते हैं । समस्त पात्रों में नायक-नायिका ही प्रमुख पात्र हैं । उपनायक तथा उपनायिकाओं की स्वरस्थिति लगभग नहीं के बराबर है । नायक-नायिका का जासन ही सबौपरि रहता है क्योंकि समस्त नाट्य में पात्र ही कस होते हैं । कुछ लोक-नाट्य तो ऐसे भी हैं जिनमें नायक-नायिका के घलावा अन्य कोई पात्र ही नहीं होता । जैसे राजस्थान का भूमत-महेन्द्र तथा हीर-रामना । वस्तुयोजना इन दिवावी व्यालों में इस तरह संगठित होती है कि भीत-संवादों ही में वस्तु के अंकुर छिपे रहते हैं । नायक-नायिका उपने पारस्परिक संवादों ही में उपने बता, राज्य, परिवार तथा देश काल की सभी स्थितियों का परिचय अत्यंत मनोरम ढंग से दे देते हैं । उसी परिचय में उनके विशद जो पहुंच होते हैं या उनके पश्च में सहानुभूतिपूर्ण तथा सहयोगात्मक कृत्य होते हैं उनका भरपूर समावेश हो जाता है । इन पात्रों के चरित्र उनके कहरों से परिलक्षित नहीं होते । वे उनके संवादों से ही जाने जा सकते हैं । लोकनाट्य कृत्यप्रधान नहीं होते, अतः संवादों से ही पात्रों के चारित्रिक उत्कर्ष-प्रपकरण का पता लगता है ।

विश्व के लगभग सभी नाट्यों में कुपात्रों के लिये अवहेलना की गृह्णि और सुपात्रों के लिये सहानुभूति होती है । परन्तु लोकनाट्यों में यह प्रक्रिया अवश्यक नहीं है । क्योंकि कुपात्र अपनी मनोरंजनात्मक तथा हास्यविनोद की प्रभिलक्षि में परम पदु होता है जो जनता का आकर्षण असाधास ही उसकी तरक छोड़ता है । क्योंकि उसके कुकृत्य अवहारिक रूप से रंगमंच पर नहीं

ग्राते । वे मनोरंजनात्मक गीतसंबादों में अत्यंत शाकार्थी हम से प्रकट होते हैं । अतः दुर्घटित पात्र भी जनता के भिन्न बन जाते हैं । मुसंगठित शास्त्रीय नाट्यों में अभिनय करने वाले अभिनेता का मानवीय स्वरूप प्रायः कुछ भी महत्व नहीं रखता । परन्तु सोकनाट्यों में वह काफ़ी हृदयक मुरक्खित रहता है । यदि वह कुपात्र अपने मानवीय भीत्र में सुपात्र तथा मान्य जलाकार है तो उसका अभिनेय दुर्घटित स्वरूप, प्रायः गौण हो जाता है । उसके मानवीय गुण जनता की सहानुभूति अभित करने में पूर्णतः सफल हो जाते हैं । बहुपा इसका विपरीत पक्ष भी जही होता है । यदि नाट्य-पात्र का मानवीय स्वरूप तकलीक तथा अनुचित है तो उसके सच्चरित्र पात्र का अभिनेय स्वरूप जनता की अभिरुचि नहीं पकड़ता । इसका यह भी लालंघन है कि लोकनाट्यों की संगठनात्मक दुर्बलता के कारण उनके अभिनेय पात्रों का आरोपण कम कारगर सिद्ध होता है । यही कारण है कि लोकनाट्यों के पाप-कुलाच में पात्रों के मानवीय पक्ष का पूरा ध्यान रखा जाता है । पेशेवर नाट्यमंडलियों को स्थोलकर सार्वजनिक तथा शोकिया रूप में लेले जाने वाले जनहितकारी नाट्यों में तो इन तत्त्वों को बहुत अधिक प्रधानता दी जाती है । उत्तर भारत में दशहृष्ट-पर्व पर सार्वजनिक रूप से होने वाली रामलीलाओं में इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है । जो अर्थक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, भरत आदि का अभिनय करते हैं वे सच्चरित्र, उच्च-कुलीय तथा सर्वमान्य अर्थक्ति ही होते हैं । यही नहीं रामण, भेषजाद, वरदूषण आदि कुपात्र भी अपने मानवीय पक्ष में प्रतिष्ठित तथा मान्य अर्थक्ति ही होते हैं । लोकनाट्य जब सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्वों से परिपूर्ण हो तब इस विचार की प्रधानता थी । परन्तु जब से इनका अवसायी पक्ष विकसित हुआ है इन तत्त्वों का प्रभाव होने लगा है ।

लोकनाट्यों के पात्रों की मानवीय लोकप्रियता तथा उनका वैयक्तिक अस्तित्व भी उनकों की सहानुभूति प्राप्त करने में बहुत सहायक होते हैं । कभी-कभी उनके अभिनय की कलात्मक अदायगी यदि कुछ दुर्लेल भी होती है तो उनका मानवीय सद्व्यक्तित्व इनकी इस कमज़ोरी को ढक लेता है । यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि नाट्य-पात्रों के भारित्रिक गुण अधिक महत्व नहीं रखते । उनके वैयक्तिक मानवीय गुणों की छाप पात्रों के भारित्रिक गुणों से अधिक गहरी होती है । यदि कोई दुर्घटित, अन्यायी तथा अनाज्ञारी पात्र है परन्तु देशमें मुन्द्र, नालचे में पटु तथा गाने में मनोमुग्धकारी है तो वह अनायास ही दर्शकों के दिल का राजा बन जाता है ।

## लोकनाट्यों के विविध स्वरूप

**रंगमंचीय लोकनाट्य** — ऐसे नाट्य वस्तुविनाम, चरित्र-चित्रण तथा नाट्य भी कमिक रंगस्थायों की हिट से कमज़ोर प्रवर्श्य होते हैं परन्तु वे योजनाबद्ध प्रस्तुत होते हैं। उनमें विधिवत पात्रों का छुनाव होता है। वे अवस्थित दृग से पात्रानुकूल पोशाक पहनते हैं तथा रंगमंच पर विधिवत अपनी भूमिकाएँ अदा करते हैं। इन नाट्यों में वस्तु के भी कुछ अंकुर होते हैं तथा पात्र सर्वविदित तथा निति कथोपकथन का उच्चार करते हैं। वस्तु किसी निश्चिट दिग्म में फल-प्राप्ति की ओर भी अद्वितीय होती है। ऐसे नाट्यों में सर्वविदित कथा प्रसंग का अनुशीलन अस्त्वित आवश्यक होता है। नाट्यकार तथा अभिनेता उनमें किसी प्रकार की आवादी नहीं ले सकते। ऐसे नाट्यों में भव्यप्रदेश के मात्र, राजस्थान के क्षेत्र, मधुरा की रामलीलाएँ, बंगाल की जावाएँ तथा दक्षिण भारत के यथाकाल उल्लेखनीय हैं।

**सर्वविदित प्रसंगों पर आधारित ज्ञायालयी लोकनाट्य** — ऐसे नाट्य बहुधा राष्ट्रीय देवतायों, महात्मा औरों तथा चक्रवर्ती राजायों के जीवन से सम्बन्धित रहते हैं। उनके पात्र जातीय तथा राष्ट्रीय महत्व के होते हैं तथा सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी बनजीवन में महानराम आदर्शों के रूप में विद्यमान रहते हैं। ऐसे महान् नायकों के जीवनादर्शों तथा अनुकरणीय कृतयों से देव का बच्चा-बच्चा भ्रक्षत होता है तथा अपने जीवनोत्कर्ष के लिए उनसे शक्ति प्राप्त होता है। उनके जीवनादर्शों तथा महान् कृत्यों से समस्त जाति ही प्रभावित रहती है तथा समस्त जमाज़ की कला और संस्कृति उनसे भोगप्राप्त रहती है। ऐसे मुग्धप्रवृत्तक अक्तिल के जमत्कारिक पहनुस्तों को लेकर समस्त जमाज़ धार्मिक तथा संस्कृतिक धनुष्ठान के रूप में अनुकरणमूलक नाट्य-प्रसंग रंगमंच पर प्रस्तुत करता है। वे रंगमंचीय नाटकों से विलकूल भिन्न होते हुए भी नाट्य के एक विशिष्ट धंग के रूप में प्रस्तुत होते हैं। उक्त नाट्य-स्वरूप में यद्यपि किसी कपापस्तु का लानोपान यशोवत तथा विशिष्ट रंगमंचीय तरवों का उपयोग नहीं होता किंतु भी अनुकरणमूलक दृग से प्रस्तुत किये जानेवाले में प्रसंग वस्तुतः नाट्य के ही धंग हैं। ऐसे नाट्य-स्वरूपों में उत्तर प्रदेश की बहुस्थलीय अनुष्ठानिक रामलीलाएँ, राजस्थान की चौकधाँदीनी तथा हिंदू-मेरों की रम्मते विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन तीनों प्रकार के नाट्यों में अभिनेता किसी विशिष्ट पात्र को अपने में धारोपित समझकर उसी के वेज विनाम, अवहार तथा उसी की वासी में यांत्रिकी, साहस्र, वाचिकी तथा

सात्त्विकी अभिनव के दृग से अवबहार करते हैं। उनका भी उनमें उन्हीं प्रतीत के गणमान्य लरिंगों का प्रारोपण समझकार उनका आदर करती है और उनसे ब्रेसणा प्राप्त करती है। इन नाट्यों के पात्र रमसंचीय नाट्यों की तरह कम से रंगमंच पर जाते और जाते नहीं हैं। न उनका कोई नाटकीय प्रवेश ही होता है, न उनके जीवन के विविध पहलु नाट्यपत्तु की विविध प्रवस्थाओं के अनुसार अभिक कर से ही प्रमुख होते हैं। कुछ लोग तो उनको नाट्य मानते ही नहीं हैं, केवल स्वींग की ही सजा देकर संतुष्ट हो जाते हैं। परन्तु वे यह बात भूत जाते हैं कि वेण-भूपा को पहिनकर किसी विशिष्ट व्यक्ति का आभास देना स्वींग है, परन्तु वह पात्र मादि वास्तविक अधिनायक के जीवन के विशिष्ट कृत्यों को अवबहार में जाता है तथा अपनी भैंसाड़ों तथा बाणी से उनका प्रकटीकरण करता है और दर्शकों में वास्तविक पात्र के विशिष्ट कृत्यों की अनुभूति जागृत करता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि वह किसी नाट्य के एक प्रमुख तत्त्व का ही प्रतिपादन करता है।

इस प्रकार के नाट्यों में उत्तर प्रदेश की सामुदायिक रामलीलाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उनमें एक जगह रंगमंच नहीं बनाया जाता। न परदे ही लगाये जाते। पात्र विशिष्ट दिवालों से श्रीपचारिक दृग से प्रवेश भी नहीं जाते। समस्त रामायण नहाकाव्य की घटनाओं का सांगोपांग विवरण भी नहीं होता। परन्तु विविध स्थलों पर लंका, अयोध्या, जनकपुरी मादि स्थल अनुकरणमूलक ढंग से निभित होते हैं। असम-गაलग स्थितियों में पात्र अपना अनुकरणमूलक अवबहार प्रकट करते हैं। यह अवबहार कहीं संकादों से, कहीं केवल मूकाभिनन्द से और कहीं नाट्यकार की ओर से परिच्छायात्रक वाचन (Commentary) तथा रामायण की चौपाई पाठ से व्यक्त किया जाता है। इन नाट्यों में सभी कथा-प्रसंगों का नाट्याभिनव आवश्यक नहीं होता। जिन प्रसंगों में नाट्य-तत्त्व विशिष्ट रूप से विद्यमान रहते हैं वे ही प्रसंग अभिनव में जुमार होते हैं। ऐसा दर्शकों की उपायक कल्पना तथा पूर्व जानकारी पर लोड दि जाते हैं।

इस जैली के कुछ नाट्य-प्रयोग राजस्थान के 'नहान' तथा अवबहार की 'बदजाही सवारी' में परिवर्तित होते हैं। ये दोनों ही प्रयोग अनुकरणमूलक हैं। उनके पात्र वास्तविक लरिंगों को बेशभूपा पहिनते हैं। उनका आवबहार करते हैं तथा उनके जीवन की किसी विशिष्ट भाँकी को नाटकीय ढंग से

प्रस्तुत करते हैं। निश्चित ही ये नाट्य-प्रकार रामलीलाओं की कोटि में तो नहीं आते परन्तु उनमें नाट्य के अंकुर ध्वन्य ही विद्यमान हैं।

**बहुप्रासंगिक औपचारिक स्वेकनाट्यः**— ऐसे नाट्य उक्त दोनों ही व्यंगी के नाट्यों से सर्वया भिन्न होते हैं तथा नाट्य की प्रारम्भिक ध्वन्यस्था के द्वातक हैं, जो आज समय की हवा के साथ घपनी प्रारम्भिक ध्वन्यस्था ही में प्रोद्धता गो प्राप्त कर गये हैं। उनका कभिक विकास न होकर उनको प्रारम्भिक स्तर का ही विकास हुआ है। ऐसे नाट्यों में कोई विशेष कवाप्रसंग नहीं होता। अनेक कथाप्रसंग बुद्धकर एक विशिष्ट कथाप्रसंग का भान करते हैं। उनके लिये कोई विशेष रूपमत्र नहीं होता न उनमें किसी रंगमचीय औपचारिकता के ही दर्शन होते हैं। कथावस्तु का कोई भी लिखण स्वधृष्ट उनमें नहीं होता, न साधक-नायिका का ही उनमें कोई अस्तित्व होता है। उनमें आगिक, वाचिक, प्राह्यार्थ तथा सात्त्विकी अभिनय की प्रशंसनता रहती है। नाट्य में उल्लंघन, अपकृष्ट अनेक बार आते हैं। वस्तु की किसी भी ज्ञानिक ध्वन्यस्था का निरूपण उसमें नहीं होता। कथोपकथन में भी कोई व्यवस्था नहीं होती। अनेक रसों का उनमें परिचाक होता है। अनेक बार विशेषी रसों का संयोग होता है जिसमें रसायाम एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन जाती है। दर्शक-प्रदर्शक का भेद इनमें मुख्यादृष्ट है। दर्शक किसी भी स्थिति में प्रदर्शक नहीं बन सकता। प्रदर्शक भ्रमीण-वारिक ढंग से रंगमचली में आते हैं, वही जेतानूपा वहिनते हैं और दर्शकगण उनके चारों ओर मोताकार बैठ जाते हैं। नाट्य का नायक एक नहीं, अनेक होते हैं। उन सबका स्वरूप्रस्तित्व होता है। ऐसे नाट्य में राजस्थानी भीलों का "मवरी" प्रमुख है। यह ऐसा नाट्य है जिसमें प्राह्यार्थ, वाचिकी, सात्त्विकी तथा आंगिकी के तत्त्व प्रत्यक्षता भ्रमी-तथा नाट्य के धन्य सभी तत्त्व प्रत्यक्षता नहीं होते हैं। प्रमुख नायक और नायिका के बीचन की अनेक घटनाएँ अलंकृत विलारी हुई होती हैं। उनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं होता, न नाट्य-योजना में भी उनका कोई स्थान है। नायक के गुण-दोषों का भी उनमें कोई वर्णन नहीं है। कथावस्तु भी किसी निश्चित ध्वन्यस्था की ओर ध्वन्यमर नहीं होती।

इस नाट्य-प्रकार की बहुत बड़ी जल्द उसके अभिनय गुणों में है। प्राह्यार्थ की हृष्टि से ये नाट्य अद्भुत हैं। नाट्य के पात्र वेजमूपा संबंधी आपनी तीव्र कल्पना बुद्धि का परिचय देते हैं। उनका आंगिक अभिनय भी बेजोड़ होता है। वाचिक अभिनय में वाचन का विशेष ध्वन्यार नहीं निभा जाता। नाटक का

मुख्यार ही समस्त वाचन का भार अपने ज्ञान रखता है। उसके वाचन पर पात्र नानाप्रकार के मुकामिनय में लीन होते हैं। सात्त्विकी हृष्टि से उनका रस-निष्ठण अद्भुत होता है। हास्य, विनोद, शूगार, रोड़, बीमल स तथा बीररत की अभिव्यक्ति में इन कलाकारों को कमाल हासिल है। इस प्रकार के नाट्य नास्तव में अनेक नाट्यों के सामूहिक रूप है। कई नाट्यों के तत्त्व इनमें मिले रहते हैं। नाट्य की कथावस्तु केवल आरम्भिक अवस्था तक अवतरित होकर वही समाप्त नहीं हो जाती है। कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो नियतान्त्रिकी अवस्था में तो पहुँच जाते हैं, सफलता का निष्ठय भी हो जाता है, परन्तु जीव में कोई बड़ा व्यवधान भा जाता है और बात वही जल्द ही जाती है। कहीं-कहीं किसी प्रसंग में फलामम विना पूर्व की अवस्थाओं के भी आ जाता है।

### लोकनाट्य तथा शास्त्रीय नाट्य का पारस्परिक सम्बन्ध

इस प्रश्नगत के ऊरान्त अब वह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नाट्य के शास्त्रीय और लोकपक्ष के बीच क्या कोई सम्बन्ध है? शास्त्रीय नाट्य लोकनाट्यों की जननी है। या लोकनाट्यों से शास्त्रीय नाट्यों की उत्तरिति हूँदी है? या दोनों का आविभाव एक ही साथ हुआ है? अख्येद तथा अनेक जैन सूत्रों और पीरारणिक घटों में जो नाटकों का वर्णन हुआ है, उनमें निष्ठय ही लोक-नाट्यों के अनुकूल विद्यमान है। शास्त्रीय नाट्यों की उस समय कोई कल्पना नहीं भी। जीन, मूनान, मिथ्र, रोम आदि प्राचीन देशों में भी लोकनाट्यों का काफ़ी प्रसार था। उन सब में किसी भी विशेष चमत्कारिक अप्सि को चिर-स्मरणीय रखने के लिये उसकी जीवन-गावाओं का अनुकरण एक सामाजिक कर्तव्य समझा जाता था। इन्हीं अनुकरणमूलक कृतियों से नाटक का प्रारम्भिक हुआ था। धीरे-धीरे सभाज के विकास के साथ ये नाटक भी विकसित हुए तथा संकहों बर्च बाद ये शास्त्रकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में समर्प हुए। उनकी सामाजिकता तथा सामुदायिकता का महत्व उनको नहीं मानूँ छोड़ सका। वे उन्हें परिवर्तन तथा प्रलयत प्रारम्भिक समझकर ही शास्त्र की मार्गदारों में बौधने लगे और धीरे-धीरे वे नाटक अपने लोकप्रिय तत्त्व से बढ़े। इसकी प्रतिक्रिया हुए विना नहीं रही और ये लोकनाट्य प्रारम्भ से ही अपने धारपक्ष का शाहत्र के चूगल से अलग रखकर अपने विकास की धरत दिखा पकड़ते रहे। वहीं कारण है कि इन शास्त्रीय नाटकों का कोई कुप्रभाव उन पर नहीं पड़ा, वल्कि नाट्यनिवोजन प्रादि में उनको परोक्ष-प्रपरोक्ष रूप से जान ही हुआ।

ये लोकनाट्य, वर्णकि लोकभाषाओं में लोकानुरचन की हृषि से लोक-  
कथाओं पर आधारित रहते थे इसलिये जनसाधारण का व्यात उनको सरक-  
प्राकृष्टित होना अधिक स्वभाविक था । सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी  
कि इन नाट्यों में भाग लेने हेतु किसी प्रशिक्षण, प्रूवांभ्यास-तथा प्रवीणणा की  
आवश्यकता नहीं होती थी । वे बहुत सारे समाज को कठस्व होते थे । इसलिये  
कोई भी अधिक किसी भी पात्र की अनुपस्थिति की पूति करने के लिये पर्याप्त  
होता था । इन नाट्यों के सामाजिक तथा सामुदायिक तत्त्व इतने प्रबल होते  
थे कि प्रदर्शक और दर्शक प्रायः एक ही भाषण रखते थे तथा सबके मन में  
नाट्यों के प्रति समन्वय की भावना रहती थी । जास्तीय नाट्य कास्त की हृषि  
से इतने तीव्रिक हो गये थे, उनमें नियमों का पालन इतना कठिन हो गया कि  
वे साधारणणज्ञ की पहुँच के बाहर हो गये । इन नाट्यों की भाषा भी  
ग्रामायी और परिवों की भाषा भी तथा उनमें अभिनय योग्य पात्रों का भी  
उच्चकोटि के विद्वान्, शास्त्रज्ञ, भाषाविज्ञ तथा कलाप्रयोग होना आवश्यक था ।  
इन नाट्यों के रंगमंच और प्रेक्षालय की योजना भी इतनी जटिल थी कि  
सिवाय शास्त्रों, भाषायों, धनियों, मंदिरों तथा भूमों के सम्पन्न बातावरण  
तथा उनकी व्यवस्था के बिना वे अभिनीत नहीं हो सकते थे । उनके लेखक,  
अभिनेता, नर्तक, संगीतज्ञ तथा प्रेक्षालयनियोजक भी परम विशेषज्ञ तथा  
आगम द्वारा पोषित और संरक्षण प्राप्त थे । वे नाट्य लोकरचि को पुष्ट तो  
नहीं करते थे बल्कि वे उनकी पहुँच के बाहर भी थे । सरसुआ रियासत की  
मुकायों में जो प्रेक्षालयों के अध्यावशेष मिलते हैं उनमें चिह्नण, चमुरस और  
मपस्त, तीन प्रकार के प्रेक्षालयों की कल्पना साकार हुई है । इन प्रेक्षालयों  
की योजना भी विनियम सामाजिक स्तर के दर्शकों के बढ़ने के लिये बनाई गई  
थी, लेकि चिह्नण प्रेक्षालय तो केवल देवताओं तथा शास्त्रों के लिये ही था ।  
चमुरस प्रेक्षालय मध्यम श्रेणी के दर्शकों के लिये था । इन प्रेक्षालयों में उच्चकोटि  
की चित्रकारी होती थी । प्रकाश आदि के लिये भी घर्यत वैज्ञानिक व्यवस्था  
थी । पोताकपर, रंगमंच तथा प्रेक्षालय की सजावट भी नाट्योंचित ईश से  
होती थी । उनमें प्रवेश पाने के लिये भी विशेष सामाजिक स्तर की आव-  
श्यकता थी । इन्हीं तकनीकी तथा सामाजिक कठिनाइयों के कारण ही जास्तीय  
नाट्यों से लोकनाट्यों का विलगाव हुआ । वे उनकी विषम बदियों से बाहर  
निकलकर स्वतंत्र ब्रह्म लेने लगे तथा जनसाधारण की गुलाब धनियालि के  
प्रबल साधन बन गये ।

## लोकनाट्यों का नाट्यशिल्प

आधुनिक नाट्य में कथावस्तु के नाट्योपयोगी प्रसंगों को इस तरह नियोजित किया जाता है कि उनका नाटकीय प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली और कथा का अव्याख्यक दृश्यस्वरूप में परिरक्षित हो सके । ऐसे नियोजित एवं नाट्यतत्वों से संपूर्ण नाट्य में पात्र स्वयं बाधन, संभाषण द्वारा कथाप्रसंग को आगे बढ़ाते हैं, विविध घटनाओं का क्रमिक विकास होता है तथा पात्रों के अव्याख्य एवं हुत्रित द्वारा उनके चरित्रों का उत्कर्ष तथा अपकर्ष परिवर्तित होता है । पात्र स्वयं अपने में घटनाओं को मुक्तभावते हैं तथा नवीन परिस्थितियों पैदा करके नाटक को गतिशील बनाते हैं । पात्र स्वयं बाधन की दोरी पकड़कर मानसिक गुत्तियाँ उत्तभावे-सुलभावे तथा भन की धृतीय दक्षाओं का दिशदर्शन कराते हैं । नाट्यप्रस्तु दीजल्लप प्रकट होकर धंकुरित होती है, अपनी भावार्थे उपलक्ष्यात् फौलाकर दृहत् वस्तुबूझ को विकसित करती है । कथावस्तु के इस विकासऋग्रंथ में वर्णित, विवेचन तथा परिचयात्मक टिप्पणियों समस्त नाट्यतत्व को अल्पधिक प्राप्तात् पहुँचा सकते हैं । यही कारण है कि आधुनिक एवं ग्रास्त्रीय नाटक को लहड़काव्य तथा महाकाव्य की अंगी में न रखकर उसके स्वतंत्र वस्तित्व को दृश्यकाव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप माना है ।

इन आधुनिक शिल्प के नाट्यों में उनका रचनिता तथा उसका अस्तित्व कई जगह छिपा रहता है प्रौढ़ उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा नाट्य-पात्रों में प्रकट होकर उनके चार चार देवी हैं । वह नाट्य की समस्त गतिविधियों का नियोजन करके पात्रों की भाषा में बोलता है, उनकी घड़कनों के साथ घड़कता है तथा उनकी मनःस्थितियों में निरंतर रमणी करता रहता है । वह समस्त घटनाओं को अपनी मुद्दी में पकड़े रहता है प्रौढ़ उनके क्रमिक विकास में पूर्णांशु से सतक रहता है । यह रचनिता रंगभंग पर नहीं प्रतिष्ठित है वह छिपे रहकर भी सबकी अपने वस्तित्व का भान करता रहता है ।

परन्तु विपरीत इसके लोकनाट्य अपने वस्तुशिल्प को इष्टि से निराले ही ढंग से गठित होते हैं । उनमें कथावस्तु की कोई प्रधानता नहीं, पात्रों के उत्कर्ष, अपकर्ष की ओर कोई ध्यान नहीं । केवल अपने मनोरंजनात्मक पक्ष की अस्तुष्टु रसमें के लिये वे नाना रूप धारणा कर लेते हैं । लेखक अपने उद्देश्य की पूर्ति में कभी सूचवार के रूप में प्रकट होकर समस्त नाटक का भंतव्य प्रकट करता है, कभी हल्लाकारे के रूप में नाट्यपात्र एवं घटनाओं का परिचय देता है, कभी नाट्यपात्रों के भीउ-भूतों के साथ साज़ सजाने वाले

तथा गमे वाले टेक्सिंगों की बांधी में विराज जाता है। कभी वह विद्युतक के रूप में प्रकट होकर धनेक अप्रस्तुतनीय एवं जटिल घटनाओं को बर्णन हो बर्णन में पूरा कर देता है। कभी वह छद्मवेज में भगवान् का रूप भारसा करता है तथा विशिष्ट घटनाओं की सृष्टि करके धनेक अप्राप्तिक घटनाओं को दरमें संभेद देता है।

लोकनाट्य, वस्तुप्रधान नहीं होने के कारण, धपने में कथावस्तु का कफिल विकास आवश्यक नहीं समझते। लोकमाध्यार्थों के अनियोजित प्रसंगों में जिस तरह कथावस्तु लुकाते-छिपती धपने प्रस्तृप्त द्वरूप को छिपाये रहती है और किसी समय धनायास ही प्रकट होकर कभी रंगत लिंगाड़ देती है, कभी जमा देती है, उसी तरह लोकनाट्यों में भी वह कभी धपनी छवि इस तरह दर्शाती है कि नाट्य के आचारस्तंभ संभित हो जाते हैं। उन स्तंभों पर कथा कुछ लगा रक जाती है और नाट्यपात्र धपनी प्रतिभा के चमत्कार नृत्यगीतों के माल्यम से दर्शाकर आनेवाली विशिष्ट घटनाओं की ओर संकेत करते हैं।

लोकनाट्य महत्वपूर्ण घटनाओं में कोई घटर नहीं समझते तथा उनके समयनिर्धारण एवं वर्गीकरण की ओर उनिक भी ध्यान नहीं देते। जिस प्रसंग में, चाहे वह अस्तन महत्वहीन हो करो न हो, अंगविनोद, हात्य-उत्सास तथा कलाप्रदर्शन का भरपूर धनसर हो उसमें सर्वांगिक समय लगाया जाता है। नाट्य-पात्रों में भी कथाप्रसंग की ओर अत्यन्त उदासीमता सी रहती है। वे नृत्य-नीति-प्रदायगी में ही धपनी समूर्ण शक्तियाँ लगा देते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि नाट्य निर्धारित समय में समाप्त होगा या नहीं। लेखक की ओर से भी इन पात्रों को किसी भी प्रसंगविद्योप में धपनी ओर से जोड़ने, बढ़ाने, घटाने तथा स्वतीय प्रेरणाओं के अनुसार धपनी कल्पनाओं का उपयोग करने की पूरी छूट रहती है।

प्रथमक लोकनाट्य में लेखक जिस रूप में भी छिपा रहता है उसके माल्यम से वह घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में काट-छोट करता रहता है। जैसे राजस्वानी गीतों के कुचामली ल्यातों में लेखक हल्कारे या फर्राजा के माल्यम से नाटक की उन सङ्ग घटनाओं का बेवज स्तुति तथा मंगलाचरण के रूप में उल्लेखमात्र करता हूधा दंगों को उस प्रमुख परिस्थिति में ले जाता है जहाँ लेख का रम्भंचीय स्वरूप जुक होता है। कभी-कभी पात्र जिना प्रसंग के ही स्वयं रम्भंच पर उपस्थित होकर धपना परिचय देते हुए उन सभी अप्रस्तुतनीय

पटनायों का दिलचस्प वर्णन प्रस्तुत करते हैं तथा नाट्य को उस प्रभुत्व सिद्धि तक ले जाते हैं जहाँ उन्हें स्वयं को किसी विजिष्ट प्रसंग में आना होता है ।

लोकनाट्यों में समस्त वस्तु को आधुनिक नाट्यतंत्र की हृष्यविधान-शैली में बर्गोऽहृत करने की परम्परा नहीं के बराबर है । उनका नाट्यतंत्र ही ऐसा है कि हृष्य के अन्दर ही हृष्य प्रकट होते जाते हैं और हृष्यपरिवर्तन के लिये आधुनिक पदों एवं विचुल व्यवस्था के बिना ही बदली हुई परिस्थितियाँ, बदले हुए स्वल्पतया बीते हुए समय को कल्पना साकार हो जाती है । कोई हृष्य जल ही रहा है और उसके साथ दूसरा हृष्य जल पड़ता है । उस स्थिति की समस्त परिस्थितियाँ ध्याने आप में सिमटने लग जाती हैं और तुरन्त ध्यान संबंध प्रस्तुत होने वाली परिस्थितियों के साथ जोड़ देती है । म्यल और समय के अन्तर को दिलचारे के लिये टेकियों की टेक दोनों हृष्यों के बीच परदे की तरह उपस्थित हो जाती है और आने वाले हृष्य की विविध रसीनियों को पुनः परदे की तरह ही उपर उठाकर सबके सामने दर्शाती है । ऐसी विजिष्ट परिस्थितियों में पूर्व पटना का विलीनोकरण आनेवाली बदला में बहुत ही मुन्द्र ढंग से हो जाता है ।

**प्रायः**: सभी लोकनाट्य प्रचलित लोकगायाओं पर आधारित रहते हैं । काल्पनिक कथाओं तथा स्वरचित प्रसंगों पर लोकनाट्यों की रचना नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार की रचनाओं पर दर्शकों की आत्मीयता नहीं बुइती और उनके काल्पनिक पात्रों एवं परिस्थितियों को उनकी भावनाएँ प्रहरण नहीं करती । प्रचलित लोकनाट्यों पर आधारित रहने के कारण ही इन लोकनाट्यों के विविध प्रसंग एवं पात्र परस्पर में बहुत ही कम्पे धारे में बैठे रहते हैं तथा उनकी कथाओंस्तु के अनेक भंग अत्यंत लचर और कमज़ोर होते हुये भी दर्शकों की माया संबंधी पूर्व जानकारी तथा तत्संबंधी चरित्रों के प्रति उनकी प्रगाढ़ आत्मीयता उन्हें स्वीकार कर लेती है । लोकगायाओं के प्रसंबद्ध भंगों को जिस तरह लोकमानस अनायास ही स्वीकार कर लेता है उसी तरह लोकनाट्य के भी सभी प्रसंबद्ध प्रसंगों को स्वीकार करने में दर्शकों को कोई भी कठिनाई नहीं होती । यही कारण है कि कुछ विद्वान् लोकनाट्य की लोकगाया का धृष्ट-कृप भासते हैं । लोकगाया ऐसे कुछ गायाकार अपने वोताओं को अस्तित्व मनोरम ढंग से सुनाता है और अपनी अतिवाय रोचक वर्णन-शैली से उसका मूलेकण प्रकट करता है । लोकनाट्य में लोकगाया का

वर्णित है, उसकी शब्दावली और शब्दबद्धता के प्रतिरिक्ष, प्राप्ति: ज्यों का त्यों रहता है। उसका आदि प्रत, मध्यवर्ती विकास, कथा की भाषिक व्यवस्था, पात्रों का चारिंचिक उल्लास, प्रपत्रों आदि भी लोकनाट्यों में यथावत् रहते हैं। प्रत्येक वेवल इतना है कि गाथा में एक या दो व्यक्ति गाथा के पर्दों को गाकर या बजाकर सुनाते हैं और लोकनाट्यों में स्वयं पात्र ही मूर्तकप बनकर गाथाकार का स्थान प्रहण कर लेते हैं और समस्त गाथा को नाटकीय रूप से प्रस्तुत करके समस्त घटीत को बतानाम में ले जाते हैं। गाथा के इस नाटकीय प्रस्तुतीकरण से जहाँ संभाषणात्मक पश्च दुर्बल हो जाता है, वहाँ लोकनाट्य का वग्मनात्मक पश्च, रंगभंचीय प्रस्तुतीकरण की सहायता हेतु नाटक के टेकिये तथा हल्कारे के माध्यम से, जोर सकड़ लेता है और गाथा के निरंतर प्रवाह को किसी प्रकार संदा नहीं होने देता।

राजस्थान की प्रचलित लोकगायाएँ, जैसे पातुजी, देवजी, हड्डुजी, मोगाजी, रामदेवजी, तेजाजी, किंहैं इनके विशेष भोजे तथा इलावंत जातियों गावजा कर सुनाती हैं, राजस्थानी लोकनाट्यों के लिये सर्वाधिक व्रेषणादायी खोत रही हैं। इन लोकगायाओं पर आधारित कई लोकनाट्य इस राज्य में प्रचलित हैं जो नाट्य की विविध लोकजीवियों में कई रचयिताओं द्वारा रचे गये हैं। यद्यपि लोकनाट्य लोकगाया का दृश्य क्षण है फिर भी लोकगायाओं की पदावली का हबहू उपयोग किसी भी नाट्य में नहीं हुआ है। लोकनाट्य के प्रचलित नाट्य-शिल्प में, जिनके कई प्रकार प्रत्येक राज्य में व्याज भी प्रचलित है, माल्य-रचयिता प्रपनी पदावली स्वयं रचता है तथा प्रचलित लोकगाया की कथावस्तु तथा उसके बर्ये विषय को अपने में समा लेता है। ऐसी लोकनाट्यों की विशिष्ट पदावली नाट्य एवं नाट्योपयोगी विशिष्ट छोड़ों में रखी जाती है इसलिये भी इन लोकगायाओं को परंपरामत् पदावली तथा उसके छोड़ों का प्रयोग लोकनाट्यों में नहीं होता। लोकनाट्यकार नाट्यरंगमन्त्र पर इन्हें प्रस्तुत करने की भूषिता इसलिये भी नहीं कर सकता, क्योंकि ये भाषिक प्रनुपादनों तथा विश्वासों के साथ जुड़ी रहती है और उन्हें किसी निभित विशेष के लिये जाने का एकमात्र अधिकार इन विशिष्ट जातियों को ही प्राप्त है। नदि ये पदावलियों ज्यों की हाँ रंगभंच पर उत्तर आवें तो उससे सर्वधित प्रनुपादयों की भावनाओं को ठेस लगना स्वाभाविक है।

इन लोकनाट्यों का नाट्य-शिल्प प्रत्यंत विविध होता है। जैसा कि लाल कहा जा सका है कि लोकगायाओं के तरिके स्वरक्षण के शिल्प में और उसके

नाटकीय चिल्ल में विविध घंटर नहीं होता । लोकगायकों के बणित चिल्ल में विविध पात्र एवं प्रसंगों का परिचय देने वाले टेकियों तथा अन्य परिचायकों की भूमिका गायकाकार स्वयं घदा करता है, जबकि गाया के नाटक-चिल्ल में गायकाकार का कार्य पात्र स्वयं करते हैं । लोकगाया की कलावस्तु का अस्तित्व नियोजन उसके नाटक-स्वरूप में भी उसी तरह होता है । गायकाकार कला की वर्णन द्वारा आगे बढ़ाता है और वही पात्रों में बातालाप एवं संवाद निहित रहते हैं, वही वह अपने वर्णनकीशल द्वारा स्वयं पात्र बनकर गाया के बाये प्रसंग को नाटकीय गुणों से ओतप्रोत कर देता है । लोकनाट्यों में वह कार्य पात्र स्वयं करते हैं और जब वे इस कर्तव्य को पूरी तरह निभाने में अपने की अमर्मधे पाते हैं तो नाटक के टेकिये तथा हृतकारे उस चिन्मेदारी की स्वयं डडा जाते हैं ।

यामुनिक नाट्यसंघ में हृष्णविद्यान, वस्तु-प्रस्तुतीकरण तथा पात्र-संभाषण में ही पात्र-परिचय तथा उनका पारस्परिक संबंध निहित रहता है और दर्शकों को कौन पात्र-मया ही तथा उनका पारस्परिक संबंध का लिया जाना चाहिए है, इसका भली प्रकार परिचय हो जाता है । लोकनाट्यों के चिल्ल में पात्रों का परिचय या सो दर्शकों के पूर्व जान से उपलब्ध रहता है या वर्णन द्वारा उनका परिचय कराया जाता है । कुछ लोकनाट्यों, जैसे राजस्थान की रम्मते, महाराष्ट्र के तमाङे आदि में, पात्रों के प्रथम प्रवेश के साथ ही पात्र स्वयं अपना परिचय देते हैं कि वे कौन हैं, कहाँ से आये हैं और उनकी चारित्यक विशेषताएँ क्या हैं? इस तरह पात्रपरिचय हो जाने के बाद टेकिये कलावस्तु का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं और भंगलाचरण, ईलवंदना आदि के माध्यम से नाट्य लेखक, अभिनेता तथा नाट्य प्रायोजकों के गुणानुवाद करते हैं । उस समय पात्र मा सी रंगमंच पर ही स्थिरमात्री होता है या बीकानेरी रम्मतों की तरह रंगमंच पर ही आगे निर्धारित स्थानों पर विविध बैठ जाते हैं । वर्षे विषय की समाप्ति पर वे टेकियों की टेक के साथ तीव्रगति से नाजने लगते हैं या अपने भालों की नोक पर पात्रों की ठोकर लगाकर रंगभूमि में गतिशील होते हैं या 'खजनाट्य' की तरह परिचायकों के पीछे से मुड़ाएँ दर्शते हुए रंगमंच पर उत्तर पड़ते हैं और अपने विवादी पात्रों के साथ संभाषणों में निरत हो जाते हैं । गीत नृत्यों की भूमि बहने लगती है और दर्शकवृन्द उसमें भीते लगते हैं । एक ही आत की अनेक प्रकार से तथा ऐक ही गीत-संवाद को नामा प्रकार से भुमि बदल-बदल कर प्रकट किया जाता है । प्रस्तुतीकरण के इस वैविध्य के

कारण ही इन लोकनायिकों का वास्तविक वड जाता है। प्रीर यद्दी तक एक ही संवाद जलता रहता है, जबकि वात केवल यही जाती है कि "तुमें मुझे कल घरमानिय किया था। मैं इसका बदला लेकर चुकाऊँगा।" या "तुम्हें पहाड़ की जोटी से गिरा दूँगा।" या "तुम्हें मीठे के घाट उतार दूँगा।" इस तरह वाद-विवाद होता है। कोप और आवेद की मात्रा के अनुसार युनें बदलती हैं। नृत्य की भूमिकाओं में तेजी जाती है। साजबाज आकाश को काढ़ने लगते हैं। विजय प्राप्त करने पर विजेता जाती तानता हुआ रंगमंच को फौदिकर दर्शकों में पुरु जाता है। परास्त व्यक्ति यदि दृष्टिमा होता है तो उसको पराजय पर समस्त दर्शकगण लालियाँ बढ़ाने लगते हैं प्रीर सर्वत्र हृषि की लहर दौड़ पड़ती है। यदि वह मज़बूत व्यक्ति है तो समस्त जलता द्रवित हो जाती है। प्रीर इस अनुचित व्यवहार पर विजेता को कोसने लगती है। परास्त हुआ व्यक्ति रंगमंच से कब उठकर भाग गया है, इसका किसी को पता नहीं है क्योंकि परदा नहीं गिरता, रोजनी गुल नहीं होती। आगे की घटना यह है कि परास्त व्यक्ति अपने राजा के पहाँ फ़रियादी होकर जाता है। परस्तु राजा बहुत विकट है। जिस गीत में यह पटना घटित हुई है वह राजधानी से काफी दूर है। उसके बायत लरीद पर गीत के लोग छोप्पोपचार करते हैं तथा उसे राजधानी तक पहुँचाने में उसकी महाबता करते हैं।

पटनास्थल पर आयत होने के बाद दबा-दाढ़ करने तथा जनता-जनादिन का प्रेमनालन बनकर उनकी सहायता से राजधानी तक पहुँचने की महत्वहीन एवं धनाटकीय कथामस्तु को टेकिये, जामर, मूखचार, लिंगपक, हलकारे आदि अपनी मधुर यायनीयता में बरुन डारा पूरा कर लेते हैं। यही बरुन एक हृष्य से दूसरे हृष्य की कड़ी जोड़ता है। सप्त बीच की अवधि को पार करके कथा को अकिञ्चन बनाकर रंगस्थल तक ले जाता है।

आगे का प्रसंग मूल रंगमंच के नीचे की भूमि पर संपादित नहीं होता। अब यीदे की मध्य घट्टालिया सक्रिय हो जाती है। जिसकी दरीकगण स्वतक बड़ी उसुकता से प्रतीका कर रहे थे। अबर राजदरबार लगा हुआ है। नर्तकी नाच रही है। गायकवन्द गा रहे हैं। दर्शकों का भनोरेजन झो रहा है। फ़रियादी गहूँचता है। रामरंग बड़ होता है। राजा आने का प्रयोगन पूछता है। यह प्रसंग लगने में बहुत द्योदा है। फ़रियादी भी कोई विजेता नहीं है। सभागण में तीव्रता तो तब आये जब पति-सली, ब्रेमी-प्रेमिका, बादी-प्रतिकादी तथा दो चमलकारिक गुहाओं के बीच तलादों की गंगा

बहती हो। एक साधारण प्रजाजन राजदरबार में पहुँचकर क्या फरियाद करे ? वेम्ब और समृद्धि से लिपटा हुआ राजा एक साधारण अस्ति से क्या बात करे ? कथावस्तु के तीव्रतम प्रसंग ही संभाषण को अतिवान कहाते हैं परन्तु वह प्रसंग नाट्यकार ने इसलिये चुना है कि वह फरियादी साधारण फरियादी नहीं है। उसमें एक रहस्य छुपा हुआ है। राजा ने अपने युवकपत्न में अपने दासीपुत्र को लोकलाज के कारण नदी में वहां डिया था तथा उसकी माता को भी देश निकाला दे दिया था। बहते हुए इस बालक को दूर घंटे के किसी कुम्हार ने पालपोस कर बढ़ा किया था। पिता पुत्र दोनों को ही परस्पर के इस अनिष्ट संबंध का पता नहीं है।

लोकनाटपर्णी में इस प्रकार के प्रसंग जब भी आते हैं तो भारतीय नाट्य-परस्परा के अनुसार संबोधित पात्रों की रक्त-प्रवाहिगी लिराएं कंपायमान हो जाती है। प्रजात ही अजात में दोनों के हृदय हिलोरे लेने लगते हैं। दोनों के अवहार में एक विविच्च सा यावेग उत्तम होता है। यात्मोगता घंटर ही घंटर से प्रेरित करती है। दोनों किकतंचविभूत होकर एक दूसरे की तरफ देखने लगते हैं। चाहते हुए भी एक दूसरे को संबोधित नहीं किया जाता। दोनों में उत्सुकता बढ़ती है। भावनाएं चरेम सीमा तक पहुँच जाती हैं। गीतों की धुने कशण स्वरों से श्रीतप्रोत हो जाती है। यद्यावली कोमल-कान्त ही जाती है। राजा कह पड़ता है— मैं विविच्च सा यनुभव कर रहा हूँ, मेरा सिर चक्कर लारहा है। वह भूँच्छत हो जाता है। फरियादी युवक भी विहृत हो उठता है परन्तु वह रहस्य तमक नहीं पाता।

फटना धारे बहने से रुक जाती है किंतु यह वर्ण्य विषय है। हम्म-स्पष्ट बतने की इसमें क्षमता नहीं है। टेकिये तथा धन्य परिचायकमण्डु उनकी हृदय कथा के भासों को सुलझाते हैं। बरुन द्वारा प्रकट करते हैं कि नदी में बालक बहकर किसी कुम्हार के हृष्ट लगा। वहाँ पर वह बढ़ा हुआ। एक दिन वह बर्तनों के लिये मिट्टी लोद रहा था। लेत के मालिक ने मिट्टी खोदने से मना किया। लगड़ा बढ़ गया। मारपीट हृदृ। युवक फरियादी बतकर राजा के पास गया। उधर दासी युव-वियोग में जंगल-जंगल भटकती रही। परन्तु कहीं उसे आपना पुत्र नहीं मिला। एक दिन बर्तन लरीदने के लिये किसी गीत में कुम्हार के पर पहुँची। वहाँ पर उसने उस प्रीह बालक को देला। उसका दैम घंटर ही घंटर उमड़ गया। परिचय पूछने पर कुम्हार ने बतलाया कि उसने उस बालक को इस नदी में बहते हुए गाया था। दासी

तारा रहस्य समझ गई और उसी कुम्हार के पर नीकर होगई और बालक का भवात में पालन-पोषण करवी रही। यही दासीपुत्र राजा के पास प्रियादी होकर पहुँचा था।

उधर राजा ने दरबारियों को हृष्म दिया कि इस मुक्त को कुछ दिन राजमहलों में वह स्नेहमाद से रखा जाय। कवावस्तु का यह धेष्य-प्रसंग टेकियों, जापर्दी तथा कवियों का वर्ण्य विषय बन गया। पुनः पटनाएँ रंगमंच पर उतर गईं। माच को नीचे जाहम पर भगवी बसन पहिने एक ब्राह्मण प्रबोध-पाठ में निरत था। राजा स्वयं उस स्थल पर आया। समस्त दृश्य महलों से उत्तरकर ब्राह्मण के घोगन में आया। राजा ने स्वयं कर परिचय इसलिये नहीं दिया बर्दोकि वह वह प्रथम बार रंगमंच पर आया था तो नाट्य-परम्परा के मनुसार वह दर्शकों को अपना परिचय देता था। नाट्यकार यह महसुकर जलता है कि राजा का परिचय जलता को पहले ही हो चुका है। परन्तु प्रथम बार रंगमंच पर उत्तरनेवाले ब्राह्मण का परिचय इसलिये प्राच्यक नहीं समझा गया, तर्दोकि वह एक महस्तहीन पात्र था। इसलिये टेकिये द्वारा ही उसका परिचय दिया जाना पर्याप्त समझा गया। राजा तथा ब्राह्मण के बीच संभाषण होने के बाद ब्राह्मण जकुन विचार कर कहता है कि वह कुरियादी कुम्हार-पुत्र न होकर तुम्हारा ही दासीपुत्र है। लोकनाट्यों में मानवी याददृशी से कही अधिक भोकाचार की महस्त दिया जाता है। इस रहस्योदयाटन के बाद ही राजा के दिल में कुरियादी के प्रति प्रेम वही चरा रह गया और वह आवेदपूर्वक पटनास्थल से हट गया।

इस स्थल पर जो दृश्य-परिचयतंत्र है उसमें केवल ब्राह्मण तथा राजा का ही प्रस्ताव दिखाना पर्याप्त समझा गया। टेकियों तथा पृष्ठगायकों ने लेप प्रसंग को बर्दून में स्पेटकर यह जलता दिया कि राजा ने बच्चे की कुरियादी मुनने के बजाय उसे देश निकाला दे दिया और अपनी माँ से वह भिल न पाने इसलिये उस राजा को समस्त सीमाएँ उसके लिये बंद करवीं।

रंगमंच के प्रमुख माच के नीचे की जाहम अब दृश्य-परिचयतंत्र के साथ ही जंगल, पहाड़ तथा बीहड़ भाटी बन गई। लड़का देश निकाले के बाद जंगल-जंगल भटकने लगा। टेकिये जंगल की बीहड़ता तथा भगवानकता का बर्दून-गान कर रहे हैं और दासीपुत्र जल्दी-जल्दी जाहम के चारों ओर चक्कर लगा रहा है। इसी चुमात में उसे कई दिन बीत गये, कई रातें बीत गईं, कई वर्ष बीत गये। रास्ते में उसे एक जेर भी मिलता है। उससे बाराताप

होती है । लोकनाटपों के पश्च मी इन्सान की तरह बात करते हैं । यिह उसे रास्ता दिलाता है । लोकनाटपों के हिसक जानवर दृष्टों के लिये घातक होते हैं परन्तु दुखीजनों के सहायक होते हैं । राजस्वान के 'रामचारी' नामक नाटप में राम और गिर्द का संबाद अत्यन्त मानिक डंग से दर्शाया गया है और सीता धर्मोक्षणाटिका में पश्च-पक्षियों से बात करती है ।

उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मारतीय लोकनाटप घटनात्मक नहीं होकर गाथात्मक होते हैं । धार्मिक नाटप में नाटककार को किसी कथाविशेष की नाटकरूप देने के लिये उसके समस्त वर्णनात्मक एवं गाथात्मक पद को संबादात्मक रूप देकर तदनुसार उसका दृश्यविधान करना पड़ता है और कथावस्तु की पूर्णता तक पहुँचाने के लिये धनेक नाटकीय तत्त्वों, वेरणात्मक प्रसंगों तथा कृत्तुलवर्णक स्थितियों का विभान करना पड़ता है, परन्तु लोकनाटप इस जटिल तंत्र की उत्तमतों में नहीं पहुँचता । वह प्रचलित गाया के समस्त तत्र की खों का ट्यूं परपता लेता है और उसे धनेक डंग से रंगभंग पर प्रस्तुत करता है ।

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं तथा रामलीलाओं में प्रचलित गाथात्मक तत्त्वों पर ही नाटकतत्त्व आधारित रहते हैं । रामलीला में रामचारिये प्रचलित कृष्णलीलाओं के गीत भाते हैं और धनेक दर्शनीय प्रसंगों को उनमें लपेटकर, उन अभिनेय-घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं जिनमें भगवान् का वरित्रोत्तर्य दर्शाया गया हो । ये विशिष्ट प्रसंग हैं - कृष्णजन्म, कालियदमन, प्रत्यनावध, गिरिवरधारण, मालवनचोरी, चौराहरण, कंसवध आदि । इन प्रसंगों में रामचारिये मूलगाथाओं का गीतवाचन करते हैं और सीता के विविध स्वरूप (पाप) उनका यथे उत्थाते हुए कभी गदा में कभी गदा में संभाषण करते हैं । यद्यपि ये सभी प्रसंग कथात्मक दृष्टि से एक सूत्र में देखे हुए नहीं हैं, परन्तु रामचारिये धनेक टेक-गायन द्वारा उनके बीच की कहियाँ जोड़ते जाते हैं और कथावस्तु भगवान् कृष्ण की विविध सीताओं का उत्कर्ष बतलाती हुई आगे बढ़ जाती है । इस ऐसी का रंगमंच रास की गोलाकार समतल भूमि ही है और वही सब घटनाओं की रंगस्थली भी । इस नाटपर्णी में हृष्य, स्थान तथा समय-वरित्तन की एक बहुत ही सुन्दर प्रणाली विद्यमान है । एक प्रसंग की समाप्ति पर सभी पात्र गोलाकार रास में सम्मिलित हो जाते हैं । यह रास प्रत्येक प्रसंग के महिमानान तथा भगवान् श्रीकृष्ण की विविध सीताओं के समापन के रूप में प्रस्तुत होता है । राजस्वानी भीलों के गवरी नाटप में भी

प्रत्येक प्रसंग के बाद योजनाकार समूहिक नुस्ख की योजना है जो विविध हस्तों को एक सूच में जोड़ता है।

मधुरा की रंगमंचीय रामलीलाओं में भी कवाचाचक रामलरितमानस का पाठ करते हैं। रामलीला के विविध स्वरूप प्रारम्भ में रंगमंच पर बैठ जाते हैं। उनकी आरती उतारी जाती है तब भंगलगान होता है। तदुपरान्त चौपाई का पञ्चमुण्ड पाठ प्रारम्भ हो जाता है। कभा के वर्ण विषय चौपाईयों में समाहित हो जाते हैं तथा अभिनन्दनवलों पर पात्र विविध वेशभूषाओं में रंगमंच पर आते हैं तब चौपाई-गायन के उपरान्त उनका लंबे गद्द में उल्लंघन हुए संभासा करते हैं। हण्डपरिवर्तन कभी परवे के माध्यम से या कभी प्राप्त आप वर्ण पाठ के साथ संपर्क हो जाता है। तत्काल राजदरबार लग जाता है। राम बनमान पर पात्रगण रंगमंच पर कई बार चक्रकर लगाते हैं। रंगमंच के नीचे, सामने या रंगमंच के किसी एक कोने में पंचवटी का अस्तित्व समझ किया जाता है। इसी तरह भवपुरी, बनकालुरी, लकापुरी आदि भी बीच में छूटे हुए रंगमंच के नीचे विशी हुई जाहम पर अवस्थित समझती जाती है। हण्डपरिवर्तन के समय कवाचाचक और-और से कवाचाचन करने लगते हैं। साजों की प्राचार बुलन्द हो जाती है। एक ही दिन में रामलीला को समाप्त नहीं करने के लिये भी एक विज्ञान है। एक दिन में पूरे होने वाले प्रसंग विशिष्ट अवधियों को समेटते हैं तथा एक ही स्थल पर अधिक से अधिक अवधियों को समेटते हैं उनका भी प्रतिदिन के हृष्य की परिपूर्ति के समय पूरा ज्यान रखा जाता है। १५ दिन की रामलीला के १५ प्रसंग मा १५ स्थलों का अनुमान लगाकर नाट्य मिशनोंवित किया जाता है।

अधिकारी लोकाटारों में विविध प्रसंग पापस में बहुत ही दीने-दाने मध्य हुए नजर आते हैं। एक हण्ड दूसरे का पूरक हो यह भी सावधान नहीं है। बल्कि कहो-कहीं तो स्वयं नाट्य के पाव भी एक दूसरे के पूरक नहीं होते। कभी-कभी मनोरंजनार्थ बीच-बीच में आदि हुई अप्रासंगिक घटनाएँ मूलकथा के सूक्ष्म को तोड़ देती हैं यीर उनका सम्बन्ध आने वाले प्रसंग से मुश्किल से उड़ता है। किसी विशेष उद्देश से माटप में आने का पाव ऐसे भी अप्रूढ होते हैं जो प्रपना पूर्ण उल्काएँ बतलाये बिना ही कहीं लिये रहते हैं।

लोकाटारों में 'कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं जो किसी विशेष स्थल से संगतित नहीं होते। वे केवल किसी ताल्कालिक महत्ता के लिये प्रयुक्त होते हैं और मूल-कथा की परिपूर्ण नहीं करते। लोकगायाचों में विशेष तरह घनेक प्रासंगिक

प्रप्रासंगिक गाथाएँ जाती जाती हैं और अपनी पूरी भलक दिलाये विना ही चिलोन हो जाती है, उसी तरह लोकनाटधों के प्रसंगों का प्रप्रासंगीकरण चलता ही रहता है। लोकनाटधों के अवबहर-पक्ष में इस तरह के चाहे कितने ही शोपक आते हों; परन्तु उनके समापन के समय अधिकांश कथावस्तु भटक कर भी एक जगह आ जाती है तथा किसी शुभ लक्ष्य को परिपूर्ति करती है। लोग हुए प्रसंगों में से वे प्रसंग, जो कथावस्तु के प्रमुख बंग हैं, मुनः माला में गुणने लग जाते हैं तथा भूलभूलेया ने पड़े हुए चरित्र पुनः रास्ते पर आ जाते हैं।

लोकनाटधों में लोकगाथाओं की तरह ही समस्त कथावस्तु समतल भूमि पर बहनेवाली शान्त स्थिति को तरह बचाव मात्र से बहती है। ऐसी चमत्कारिक परिस्थितियों उत्पन्न करने की उसमें प्रवृत्ति नहीं होती जिससे ओता एवं दर्शकगण में निरन्तर कुतूहल बना रहे। समस्त लोकनाटध गाथारमक होने के नाते उनकी कथावस्तु अपने समस्त बैबल को किसी भी रहस्य या चमत्कार में लपेटे विना ही दर्शक एवं ओताओं के सामने प्रस्तुत ही जाती है। लोकनाटधों का समस्त कलेवर अपने आडम्बर एवं साब-सज्जाहीन खुले रंगमंच की तरह ही खुला रहता है। उसमें कोई भी चीज़ छिपाने तथा रहस्यमय दृग् से प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति परिवर्णित नहीं होती। आधुनिक नाटप की तरह उसे अपनी वर्षे सामग्री को बचाकार फैबल दृश्यात्मक सामग्री ही प्रस्तुत नहीं करनी पड़ती और न उस छिपाई हुई वर्षे सामग्री को किसी चमत्कार तथा रहस्योदयाटन की जैली में पेश करने की ही प्राप्तशक्ता होती है।

### लोकनाटधों का आधुनिक नाट्यों पर प्रभाव

लोकनाटधों की स्वस्य, विजानिक तथा मानव-स्वर्गों परम्पराओं ने आधुनिक नाट्यों को काफ़ी मात्रा में प्रभावित किया है। के मानवीय भाव-नायों तथा आकांक्षाओं का सही अवैय में प्रतिनिवित्व करते हैं तथा उन्हें मानवीय प्रभिज्ञता की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। रंगमंचोप विधाएँ, तज़ तथा आस्था घासि के निर्विचल से उनकी आत्मा कृठित नहीं होती। आधुनिक नाटपत्रक में नाटक को इतना जकड़ लिया है कि वह एक प्रकार से वंश सा बन गया है। उसमें से प्रायः जैसे लिकल गये हैं। आधुनिक दृश्यविधान तथा वज्र की चमत्कारिक उपलब्धियों ने इसको को आश्वस्यकित अवस्थ कर दिया है, परन्तु उनकी आत्मा नाटक को आत्मा से आधमसात् नहीं करती।

आधुनिक विद्युत के चमत्कारों ने वे स्थितियों रंगमंच पर उपस्थित करदी हैं जिनको कल्पना भी नहीं की जा सकती है। इन तकनीकों उपलब्धियों से प्राप्त मोटर, रेल तथा हवाईजहाज भी रंगमंच पर आ जाते हैं। समुद्र की तुफानी लहरें रंगमंच पर उतर पाती हैं। मनुष्य रंगमंच पर ही प्राकाश थ्रोट पाताल से जाते करने लगता है। प्रकाश के चमत्कार से प्रादमी धरा भर में रंगमंच पर प्रकट होता है और धरा ही भर में अनवर्तित हो जाता है। ध्वनिविस्तारक सब के माध्यम से प्राप्त दर्शकों के काम ही में बोल देता है। वेशभिन्नास के आधुनिक चमत्कारों से युवा पुरुष बृद्ध बन सकता है और बृद्ध युवा में परिवर्तित हो सकता है। रंगमंच पर ही वे स्थितियों पैदा की जा सकती हैं कि दर्शकों को स्वयं किसी भी स्थिति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। रंगमंच पर पात्र इस निपुणता और पूर्णता के साथ पेश किये जाते हैं कि उनके वास्तविक मानवीय स्वरूप की कल्पना करना ही मुश्किल है। कौन व्यक्ति किसका अभिनव कर रहा है, वह भी पता लगाना नितानि कठिन है। पलक भरने मात्र से हृष्य बदल जाते हैं। धरा भर में मूसलाधार वर्षा होने लगती है। धरा में पृथ्वी भयकर ताप से मुख्यमने लगती है। आधुनिक नाट्य की ये सब उपलब्धियों मनुष्य को आशयों में डाल देती है। किलों के प्रचार ने, जहाँ इन रंगमंचीय नाटकों को अति पहुँचाइ है, वहाँ उनके काम को हल्का भी किया है। किलम और नाटक का एक सम्मिलित प्रयोग प्राप्त के रंगमंच की विशेषता बन गई है। वास्तविक रंगमंचीय हृष्य के साथ ही किलम जल पहुँच है, जिसमें रंगमंच के समस्त पात्र भ्रपनी पुर्व स्थिति से निकल किसी परिवर्तित स्थिति में हटिगत होते हैं। पलक मात्र से वे कहीं से कहीं पहुँच जाते हैं। जो हृष्य रंगमंच पर असंभव से प्रतीत होते हैं, उनको किलम द्वारा इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि वे वास्तविक ही नहर आने लगते हैं।

इन सब विम्मगाकारी तकनीकों चमत्कारों में दर्शक की ओरें उलझ जाती हैं और वह नाटक की मूल आत्मा तक नहीं पहुँच पाता। प्रदर्शनोपरांत दर्शक यही कहते हुए निकलता है—नायियों की भयकर बाढ़े रंगमंच पर किस लड़ी से दिलसाई गई थी, जमीन पर जड़ा हुआ प्रादमी बात ही बात में किस तरह प्राकाश में उड़ चया, भयकर प्राप्त की लपटों ने रंगमंच का बाल भी बोका नहीं हीने दिया। विरलों झी के र्हह पर यह सुना जाता है कि अमुक पात्र ने कितना सुन्दर अभिनव लिया तथा नाट्य लेखक की कलम से कितना सुन्दर चमत्कार विलक्षण तथा अमुक पात्र ने कितना सुन्दर लगा। सबको यह मालूम है कि वह गोउ पात्र द्वारा नहीं गाया गया था। किसी पाइव-

मायक ने अपना कठ उसे प्रदान किया था । यही कारण है कि वायक के कठ से निकली हुई स्वरसहरियों उसकी बेदाम के साथ संवेदित नहीं हुई ।

वे सब तकनीकी उपलब्धियों लोकनाट्यों में कहाँ ? उनका रंगमंच साधा, भाइवरहीन, हवाप्रविधान, प्रकाश-व्यवस्था व छवनिविस्तारक यह उनके पास कहाँ ? पात्रों को बेतभूषा बदलने के लिये पृथक् स्थान कहाँ ? मदि नदी या एक फरती होती है तो लोकनाट्य के पात्र अपनी टांगों से कपड़ा उपर उठाकर बदलते हैं । पहाड़ी पर चढ़ना होता है तो वे ऊँची-ऊँची छतांगे भरते हैं । मदि अभिनय करते समय तत्काल ही किसी दूसरे पात्र की आवश्यकता होती है तो पात्र स्वयं अपने गारीर पर कपड़ा न पेटकर उस व्यक्ति का अभिनय करने लगते हैं तथा कभी-कभी कुछ विलिप्त प्रसंगों में दर्शकों को ही विवादी पात्र भानकर उनसे संवाद करने लगते हैं । दर्शक स्वयं भी कभी-कभी आत्मविभीर होकर उनसे बातें करने लगता है । रंगमंच पर नाटोंदेक का बातावरण देखकर वह स्वयं भी उत्साहित हो जाता है । वह रंगमंच के पात्रों के साथ रोता है और उनके साथ हँसता है । नाट्य-समाप्ति पर उसे यह भी भान नहीं रहता कि नाटक खरम ही गया है या जल रहा है ।

आधुनिक नाट्यों के उल्लेख हुए तक से कलाप्रेमी जनता उब सी गई है । वह नाटक के भर्मे तक पहुँचना चाहती है । वह पाष से सही भासे में विकृता करना चाहती है । उसकी भावनाओं में अपनी भावनाओं का तालमेल बिठाना चाहती है । वह पात्रों के अविकृत या उत्कर्ष देखना चाहती है । उसके लिये यह कलना विलकून कठिन नहीं है कि पात्र नहलों में बैठा है या भोजपड़ी में, दूर प्रगल्भ में विचर रहा है या गहर की सड़कों पर । वह कलनाट्यों को पात्रों के माध्यम से साकार करना चाहता है, रंगमंचीय तन्त्र के माध्यम से नहीं । वह छवनिविस्तारक यंत्र के माध्यम से संयोग का स्वाद नहीं लेना चाहता । वह अभिनेता के कठ से स्फुरित हुई भसली भ्रायाज का रसास्वादन करना चाहता है । दर्शकों की यह अभिनेता प्राधुनिक बहुतसी नाटकों से कभी पूरी नहीं हो सकती । दर्शकों की यही पिपासा प्राधुनिक याँचिक नाटकों को आमूलचूल परिवर्तन की ओर प्रवृत्त कर रही है । रंगमंचीय नाटक को फिल्म की नहल नहीं बनाकर बास्तविक नाट्यमंच बनाने की चेष्टा संबंध दृष्टिमत ही रही है । यही कारण है कि याज का नाटक लोकनाट्योन्मुखी हो रहा है ।

पात्र संबंध मह चेष्टा दीन पड़ती है कि लोकनाट्यों के उसलों का प्राधुनिक नाटकों में अनुसरण किया जाय । रंगमंच या रंगस्थली के भारों तरफ

या कम से कम तीन तरफ़ दर्शकों के बैठने की व्यवस्था प्राप्तः सभी लोकनाट्यों में होती है। दर्शक और प्रदर्शकों के बीच का आसला कम करने वाले वेष्टा, जो आधुनिक डंग के नाट्यों में हो रही है, वह लोकनाट्यों की प्रेरणा ही समझना चाहिए। यूरोप में आधुनिक डंग के चियेटरों में रंगमंच इस प्रकार बनने लगे हैं कि दर्शक-प्रदर्शकों का आसला कम से कम ही गया है। अभिनेतामण्डु दर्शकों के घट्यन्त निकट भाकर काम करते हैं। दर्शक अभिनेताओं की मावनाओं में मिल जाता है। उनकी श्वासों में अपनी श्वासें मिलता है। आनिविस्तारक यन्त्र भी यह आधुनिक चियेटरों से याप्त ही गया है। दर्शक-प्रदर्शक का आसला कम ही जाने से अब दर्शकों को प्रदर्शकों की सौंतरिक आवाज का आनन्द मिलता है।

आधुनिक चियेटरों में अब तकनीकी उपलब्धियों पर विशेष आग्रह नहीं है। बसनुमा रंगमंच बनाने की प्रथा, जो अब तक प्रचलित थी, अब प्राप्त लुप्त सी हो रही है। पाव पृष्ठभूमि से बाहर निकल कर दर्शकों के बीच फैले हुए रंगमंच पर फैल जाते हैं और याने करतब दिलाते हैं। किन्तु-किन्तु घट्यन्त आधुनिक चियेटरों में तो अभिनेता के रंगमंचीय प्रवेश का मार्य दर्शकों के बीच ही बना हुआ होता है तथा बहिर्यमन के लिए अब चमत्कारिक परिवर्तियों की आवश्यकता नहीं है। अब पाव रंगमंच पर सहज ही मा जाते हैं और सहज ही जले जाते हैं। दृश्यावली बातें परदों का समय अब बीत चुका। अब एक रंगीन परदे को पृष्ठभूमि पर ही बड़े-बड़े दृश्यों की कल्पना करली जाती है। जिस तरह लोकनाट्यों में पृष्ठभूमि की दीवार या परदे के सहारे सभी काम सम्पन्न हो जाते हैं उसी तरह आधुनिक नाटकों में भी एक ही परदे पर कई काम हो जाते हैं। सोकनाट्यों में जिस तरह प्रतीक स्वरूप एक पेड़ की ढाली की रंगमंच पर जे धाने से समस्त जंगल की कल्पना साकार हो जाती है, महलों के लिए केवल एक गुम्बजनुमा दरवाजा बढ़ा कर देने से सम्पूर्ण महल समझ जाता है, उसी तरह आधुनिक नाटक में प्रतीकात्मक संकेतों के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी सांकेतिक बस्तु रख देने से पूरे दृश्य की कल्पना ही जाती है।

आधुनिक नाट्यों में लेखभूगा को दृष्टि से भी पर्याप्त मात्रा में सरली-करण की ओर आयह है। विशेष पाव के शुर्यार में उसकी पोशाक की कोई प्रतीकात्मक बस्तु पहिन लेने या लगा लेने से पूरे पाव की कल्पना साकार हो जाती है। दर्शकों को चकाचीर में ढालने वाली कोई भी बस्तु या प्रसाधन का उपयोग आधुनिक रंगमंच पर अनुचित समझ जा रहा है। जिस तरह संशोधनों

तथा वादकारों को लोकनाटधों में लुले ग्राम बिठाया जाता है, उसी तरह प्राचुनिक नाटधों में भी अब संगीतकारों को छुगाया नहीं जाता, रंगमंच पर सबके सामने बिठाया जाता है। दृश्य-परिवर्तन के लिए भी भी लोकनाटधों की तरह ही प्राचुनिक रंगमंच पर सबके सामने रंगमचोय सामग्री लाई या उठाई जाती है। रोजनियों की चकाचोइ अब प्राचुनिक नाटधों में विशेष महत्व नहीं रखती। प्राचुनिक नाटधों में रंगमंचीय विधान, वेणविन्यास, नाटप्रृच्छना आदि में जो प्रतीकात्मक शैली का अनुसरण किया जा रहा है, वह सब लोक-नाटधों की ही देन है।

प्राचुनिक रंगमंच को रचना भी लोकनाटधों के लुले रंगमंच के अनुसार ही होने लगी है। प्रेशालय भसे ही चहारदीवारी से आँखत हो, उसकी छत भी आहे वकी हुई हो, परन्तु उसका रंगमंच लोकलैंगी पर ही बनाया जाता है। उसका अभिनय-क्षेत्र अब प्रेशालय में दर्शकों की गोदी तक फैल गया है। दृश्य-परिपथ भी अब विविध बैसी नहीं बनकर लोकनाटधों के लुले भारोंगे की तरह ही बनती है। लोकनाटधों में विविध स्थलों तथा अद्वालिकाओं से उत्तर-चढ़कर अभिनय करने की जो शैली है उसका प्रभाव अब प्राचुनिक डग के रंगमंच पर भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। अनेक प्राचुनिक डग के प्रेशालयों में रंगमंच के पोछें की दीवार पर उत्तरने-चढ़ने की सीढ़ियों का जो समावेश है वह इन्हीं लोकनाटधों का प्रभाव समझना चाहिए। इन्हीं सीढ़ियों से पाव उत्तरने-चढ़ते तथा रंगमंच पर आते हैं।

पुरोपीव चियेटरों में इस प्रकार के अनेक प्रयोग हो रहे हैं। लोकनाटधों की तरह रंगस्थली के चारों ओर दर्शकों के बैठने की प्रणाली भारत में अनादिकाल से चली या रही है। आज भी अनेक लोकनाटप गोलाकार रंगस्थली की गोली में ही प्रस्तुत होते हैं। पुरोपीव में कई प्राचुनिक चियेटर इस गोली में ही निर्मित हुए हैं। रंगस्थली समतल भूमि पर नील प्राकार में होती है, जिसके चारों ओर दर्शकों के बैठने की जेसेटियाँ हैं। नाटप-प्रस्तुतीकरण में भी अभिनेता योगे में बैठे हुए दर्शकों का पुरा घान रखते हैं। अभिनय-स्थल से चारों दिशाओं में निकली हुई बलियाँ होती हैं जिनसे प्रदर्शक रंगस्थली में प्रवेश करते हैं और अभिनयोपरान्त मूः बहिर्भूमन करते हैं। रंगस्थली के ऊपर छत पर लगी हुई रोजनियों का जल लगा रहता है, जो अभिनेताओं के अंग-प्रस्थग को आलोकित करता है। यह प्रकाश-व्यवस्था इस चतुराई से की गई है कि रंगस्थली के प्रलापा व्रेशालय के सभी द्वेष प्रभकारग प होते हैं। कभी-कभी

श्रीमिनेता अपने शामिनवय की समाप्ति पर दर्शकों के बीच ही बैठ जाते हैं। दर्शकगण ग्रदण्डमें इतने लोग रहते हैं कि उन्हें यह पता भी नहीं रहता कि श्रीमिनेता कहाँ गये, कहाँ से आये और कहाँ बैठे हैं।

जिस तरह लोकनाटपों में अनेक स्थितियाँ तथा कलाप्रसंग की अनेक वाते दर्शकों की कल्पना पर छोड़दी जाती है, उसी तरह शायुनिक नाटप्रत्यय में भी नाटप्रत्यय की कई वाते दर्शकों की कल्पना पर अवश्यकित रहती है। शायुनिक नाटकों में परदे तथा दृश्यावलियों की घोषना भी दिन-द-दिन कम होती जाती है और केवल प्रतीकों के सहारे नाटक चलता है। जिन निसी वाह्य उपकरण के नाटक रंगस्थली में जुक हो जाता है और दृश्य-परिवर्तन के समय रंगमंच को अधिकारप्रस्त कर देना ही पर्याप्त समझ जाता है। इन सब शायुनिक परिवर्तनों से यह परिलक्षित होता है कि शायुनिक रंगमंच को लोकप्रभराणों ने जितना प्रभावित किया है। रंगमंचीय उपकरणों में जितनी ही सरलीकरण की प्रवृत्ति आई है उतना ही नाटक ताकतवर बना है तथा शमिनवय में जान आई है। नाटकीय बस्तुपट तथा नाटप्राभिनवय की उक्तनीकी बारीकियों में पौसकर भारतीय भास्त्रीय नाटक जिस तरह नष्ट हो गया उसी तरह की स्थिति आज शायुनिक तंत्र में फैसे हुए नाटकों को ही रही है। दोनों के हाथ के पीछे लोकनाटपों की ही बहुमुली प्रतिभा का हाल है। लोकनाटपों की रचना में जिस तरह सभी नाटप्रत्ययों के विकास की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसी तरह शायुनिक नाटक की बस्तुपट में भी सभी नाटप्रत्ययों के प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझी जा रही है। भारतीय शायुनिक नाटप्रत्यय के विकास में लोकनाटक जितना सहायक हुआ है उतना भास्त्रीय नाटक नहीं। शायुनिक नाटपों के कथानक प्रब भास्त्रीय नाटपों की तरह उसकुलीय तथा उसकर्णीय महायुगों के बीचन पर ही अवश्यक नहीं रहते। अब गिम्मिक्यों व्यक्ति भी शायुनिक नाटक का विषय बन सकता है। शायुनिक नाटक के लिये यह भी आवश्यक नहीं है कि नाट्य का नायक कोई दुष्ट या खल नहीं हो। यदि उसके बीचनदूत में भी नाटप्रत्यय विद्यमान है और कथाप्रवाह चरन तक पहुँच सकता है तो वह भी नाटकका विषय बन सकता है। लोकनाटपों की महापरम्परा शायुनिक नाटप्रत्यय में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतद्वय में पिछले १०० वर्षों में अनेक नाटक लिखे और लेखे गये हैं परन्तु एक भी नाटक ऐसा नहीं है जिसने भास्त्रीय नाटकों का अनुशोलन किया हो।

ग्राम्यनिक दंग के भारतीय नृत्यनाट्यों तथा वेले नाट्यों को भी लोकनाट्यों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। भारतीय लोकनाट्य युरोपीय प्राप्तिरा शैली के बहुत निकट हैं। वे उन्हीं की तरह संगीतप्रधान होते हैं। उनमें भी वीवनवृत्त के क्षण में समस्त वीवन का चित्रण अपेक्षित नहीं है। भारत के ग्राम्यनिक नृत्यनाट्यों ने तो यपनी समस्त परम्परा भारतीय लोकनाट्यों से प्राप्त की है। ग्राम्यनिक भारतीय नृत्यबैद्यतियों यपने नृत्यनाट्य को वेले (Ballet) नाम से नामांकित करती हैं जब कि वेले की कोई परम्परा हमारे देश में विद्यमान नहीं है। इस प्रणाली का उद्ग्रह युरोपीय देशों में हुआ है। वेले की समस्त भगिमाएँ युक्तभिन्नय के क्षण में होती हैं जब कि भारतीय नृत्यनाट्यों में युक्ताभिन्नय जैसी कोई परम्परा नहीं है। हमारे देश में वर्तमान नृत्य-विशेषज्ञों द्वारा, जो नृत्यनाट्य प्रस्तुत हो रहे हैं, उनकी समस्त पृष्ठभूमि लोकनाट्यों ही से प्राप्त हुई है। इन नाट्यों के प्रमुख प्रत्यक्ष हैं थी उदयशंकर, सचिनशंकर, स्वर्णीय शान्तिविघ्न, नरेन्द्र शर्मा शादि। इन स्वनामधन्य कलाकारों द्वारा रचित लगभग सभी कृतियाँ लोकाधारयुक्त हैं। इनके नृत्यों व नाट्यों के प्रस्तुतीकरण में लोकशैली का पूर्ण क्षण से प्रतिपादन हुआ है। युले रंगमच की शैली में न्यूनतम हस्यविधान से ही इनकी कृतियाँ अत्यंत प्रभावकाली दंग से प्रस्तुत होती हैं। जावकाह भी युले शाम सबको होते हुए बैठते हैं तथा साथे रंग के परदों की पृष्ठभूमि पर स्थितिविशेष के सुधम प्रतीकों द्वारा बड़े-बड़े हृष्य-विधानों की कल्पना साकार की जाती है। वेशभूषा तथा साज-सज्जा में भी प्रतीकात्मक स्वरूपों के सहारे कठिन से कठिन कार्य सिद्ध कर लिये जाते हैं। श्रीमुत नरेन्द्र शमशिर रामलीला लोकशैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। इस रामलीला के समस्त हस्यविधान, बाजन, गायन, नृत्य, वेशविन्यास तथा रंगमंचीय उपकरण पूर्णकृप से लोकशैली का अनुगीतन करते हैं। लोकनाट्यों की तरह ही एक ही स्थल पर अनेक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण इस रामलीला की विशेषता है। उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली की ग्राम्यनिक रामलीलाओं ने इस रचना को सर्वाधिक प्रभावित किया है। इन रामलीलाओं में पात्र जिस तरह एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रगाण करते हैं उसी तरह इस रामलीला में भी पात्र प्रवास करते हैं। हृष्य-परिषर्वन भी प्रधिकांश लोकशैली में ही होते हैं। समस्त नाटिका में ऊपर-नीचे या घग्ग-बग्ग बढ़ने-उत्तरने तथा छिचनेवासे परदों का सर्वेषा बहिष्कार किया गया है। ग्राम्यनिक नाट्यतंत्र के लोकटीय रंगमंच की शैली भी इसमें नहीं यपताई गई है। दर्शकगण रंगमच की तीनों दिशाओं में बैठते हैं तथा समस्त रामलीला

के नुस्खायां प्रथमों की पूर्ति रंगमंच के प्रतीकात्मक प्रस्तुतीकरण से बड़ी आसानी से कर सकते हैं। रामलीला के समस्त पाथों की वेशभूषा भी लोकगीतों की वेशभूषा से ही प्रेरित हुई है। जनकपुरी, अयोध्या तथा उनका के दृश्य भी विना विशेष माल-मण्डा के सामान्य प्रतीकों के सहारे वहें प्रभावशाली ढंग से रंगमंच पर उपस्थित किये जाते हैं। पवधटी और चित्रकूट के दृश्यों में केवल एक प्रतीकात्मक वृद्ध और परसंकुटी ही समस्त बनकर तो प्रभाव पैदा कर देते हैं। श्रीयुत सचिनलालकर की रामलीला में यद्यपि लोकगीतों का पूर्णाङ्कप्रयोग प्रतिपादन नहीं हुआ है किर भी नाट्य-विधान तथा हश्य-विधान की इटिंग से वह भी पूर्णाङ्कप्रयोग लोकाधारित ही है। इस नृत्य-नाटिका की भावाभिव्यजनाएँ तथा ध्यानगिमाएँ लोकगीतों पर आधारित नहीं हैं किर भी इसके समस्त लोकनृत्य लोकाधारयुक्त ही है। लिटिल बेले द्वाप की कठुयुतली रामलीला भारतीय कठुयुततियों की ध्यानभिगमियाओं तथा उसके प्रस्तुतीकरण का बहुत ही सुन्दर प्रतिरूप है। श्रीयुत पांचतीर्थकरकूट दिसकवरी याफ़ इण्डिया (Discovery of India) यद्यपि अनेक गीतियों का एक मिथ्रण है, किर भी प्रस्तुतीकरण और हश्यविधान की इटिंग से उसे लोकनाट्य प्रणाली ने काफ़ी प्रभावित किया है। बम्बई के श्रीयुत जोगेन्द्र देसाईकृत राम-शबरी नृत्य-नाटिका भी यद्यपि हश्यविधान की इटिंग से आयुनिक नाट्यतत्र से काफ़ी प्रभावित हुई है। परन्तु उसके समस्त लोकनृत्य और उसकी वेशभूषाएँ लोकाधारयुक्त ही हैं। नुजरात के मुप्रसिद्ध भवाई अभिनेता श्रीयुत जयवंकर सुन्दरी कृत मैनायूजरी नामक नृत्य-नाटिका तो लोकनृत्य-नाट्य का एक बहुत ही परिमाणित और आधुनिक स्वरूप है। इसकी समस्त ध्यानगिमाएँ और संबाद-गीतों की लैली लिशुद लोकगीतों की शैली है। प्रस्तुतीकरण में भी लोक रंगमंच की भावी कल्पना के इस नाटिका में बहुत ही सुन्दर दर्शन होते हैं।

श्रीयुत उदयशंकरकूट होटी-छोटी नृत्य-नाटिकाएँ, जिनका आधार पौराणिक कथाएँ हैं, यद्यपि भास्त्रीय ध्यानभिगमियाओं और प्रतीकों का सहारा मेती है, किर भी उनका समस्त प्रस्तुतीकरण और दृश्य-विधानों के प्रतीक लोकगीतों से ही प्रभावित हुए हैं। श्रीयुत उदयशंकर की सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि ने भास्त्रीय और लोकनृत्यों में अल्पत सुन्दर समान्य प्रस्तुत किया है। भास्त्रियकेतन छारा प्रस्तुत नृत्य-नाटिकाओं में, जिनमें 'चंद्रालिका' तथा 'चित्रोगदा' प्रमुख हैं, लोकनाट्य गीतों का पूर्ण रूप से उपयोग हुआ है। 'लाहो-रवा' तथा 'भवल चुगावो' जैसी मरियादुरी नृत्य-नाटिकाओं का उन पर बहुत बड़ा

प्रभाव है। रचनात्मक प्रस्तुतीकरण तथा दृष्टि-विधान तो उनके पूर्णरूपेण लोकाधारयुक्त हैं। इन नाटिकाओं के समस्त गीत भी लोकभूलों पर ही प्राप्तारित हैं।

मारतीय लोक-कला मंडल, उदयपुर की शृण्य-नाटिकाएँ, जिनमें लेखक का गीता सबूत है, पूर्ण लोकाधार को अपने में समेटे हुई हैं। मंडल इस समय देश में लोकगृह्य और लोकनाट्यों के लोज, शोध और संशोधन की प्रथम मंगठित संस्था है। इसकी सभी रचनाएँ गहन ध्यानयन और विलम्ब सर्वेक्षण पर आधारित हैं। संस्था के ध्येयीय कार्यकर्ता लोकनाट्यों के विविध स्वरूपों का स्वतीय प्रश्नपत्र करते हैं और उनकी विलिप्त विचारों के तुलनात्मक विश्लेषण से अपने वर्णीय-विभाग को सुसमझ करते हैं। लोकनाट्यों के प्रत्येक पश्च का सबूत एवं संपूर्ण होने के उपरान्त ही विलिप्त परम्परागत लोकनाट्य का आधुनिक मंदिररूप संस्था में तैयार किया जाता है। इस तरह प्रचलित लोकनाट्यों की सम्पूर्ण प्रारम्भ को यथावत् रखते हुए उनके जर्बरित स्वरूप को संप्राप्ति किया जाता है। लोकगीतोंप्रधान प्रस्तुतीकरण भी दृष्टि से में संज्ञोचित लोकनाट्य जिनमें प्रभावशाली हैं उनमें देश में और कोई नहीं। ऐसी सभी लोकनाट्य युले रंगमंच की प्रणाली में ही प्रस्तुत किये जाते हैं। रंगमंच के दीनों और दर्शकों के बैठों की अवस्था होती है। दृष्टि-विधान पूर्णरूप से प्रतीकात्मक एवं लोकाधारयुक्त होते हैं। नाट्य की सभी वाह-सवाह, धर्म-धंजनाएँ सोलह घाना लोकगीतों से ही प्रभावित हैं। पाव लोकगीतों ही में प्रवेश करते हैं। संवाद आदि की ध्येयनाएँ लोकगीतों में होती हैं तथा नाट्य की सम्पूर्ण वण्डपट लोकप्रणाली ही का आधार यहाँ करती है। जिस विलिप्त लोकनाट्य छोली पर नृत्यनाट्य प्राप्तारित रहता है, उसीकी धुनें उसमें गाइ जाती हैं। संवादवहन भी उसी गीतों में होता है। मंडल द्वारा रचित लोक-नाटिकाओं में परि फोई बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया है तो महों कि प्रचलित लोकनाट्यों का कथा-प्रसंग, जो कि बहुधा बहुत कसबोर और अपूर्ण होता है, इन नाट्यों में सर्वांगीण बनकर प्राप्तारित होता है। रात-रात मर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रदर्शित होने वाले शौलिक लोकनाट्य, जो अनेक शेषकों के प्रवेश से अत्यंत जर्बर और तथ्यहीन होने लगे थे, लोकगीतों मंडल के प्रयास से पूँः नवजीवन लेकर प्रवतरित हुए हैं। इन लोकनाट्यों में मूमलतमहेन्द्र, मीरामंगल, डोलामरवण नामक शृण्यनाटिकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यों के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे अधिकांश परम्परागत लोक-धर्मनेताओं द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन सब उदाहरणों से यह प्रनालीम ही सिद्ध हो जाता है कि रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण तथा रचना-विधान की दृष्टि से आज के प्रधिकांश मारकीय नृत्य-नाट्य लोकनाट्यों की अलौकिकता ही प्रत्युपरिकरण करने लगे हैं। वेगभूषाएँ, प्रभिव्यवनाएँ, समीत तथा रंगमंचीय विधान सभी लोकनाट्यों से प्रेरित हैं। इन नृत्य-नाट्यों में नारों का चुनाव भी लोककलाकारों में से ही हो रहा है। लोकधूर्णों के साथ भीड़, करताल, घण्ठ, द्वीपक, द्वील, नवकारे, ध्वनियों, पूरी, मांदल जैसे लोकाधाराओं का भी इन लोकनृत्य-नाट्यों में उपयोग होने लगा है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक नृत्य-नाट्यों की साज-सज्जा तथा रंगमंचीय रचनाओं में सोकनाट्यों का प्रभाव सर्वोपरि है। आधुनिक डॉग के पियेटर में भी, यदि गे लोकाधारित गृह्य-नाट्य प्रस्तुत होते हैं तो उनकी रचना, प्रस्तुतीकरण घासि में लोकनाट्यों की ही रंगत का धानन्द उपलब्ध होता है। यासीण धोलों में रात-दात मर-प्रदणित होने वाले परम्परागत लोक-नाट्य इस वासिक मुग में भीटे-भीटे निष्प्राण भी होने लगे थे। यस; लोकनाट्यों की सैमीयत विशेषताओं का आधुनिक नृत्य-नाट्यों में अवेद्य अपने देश के निये बहुत बड़ा बदलाव सिद्ध हुआ है। निष्प्राण ही लोकनृत्य-नाट्यों के मूलस्थान और मूलानुकूल संशोधन के निये हमारे देश में बहुत ही मुन्दर परिवर्तियों का निर्माण हो रहा है।

### लोकनाट्य - संशोधन

लोकनाट्य-संशोधन एक ऐसा प्राप्त है जिस पर आज तक कोई भी विद्वान् एकमत नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् जाह्नवे हैं जिस लोकनाट्य की उत्तिविधियों में कोई बाधा उपस्थित न की जाय। वे जिस तरह खल रहे हैं उसी तरह उन्हें खलते रहने दें। यदि उनमें अपनी स्वयं की ताकत है तो वे अपनी विधिनाट्य-विधानों में प्रतिवर्तन स्वीकार करके अपना विकास स्वयं करें। कुछ विद्वानों का यह भी नहीं है कि यदि उनकी समय रहते दिशा-निश्चय न दिया गया तो वे अपनी स्वयं की ताकत सो बैठेंगे और अनेक आधुनिक मनोरंजनात्मक साधनों के सामने फुटने टेक देंगे। कुछ महामुनाओं का यह भी सोचना है कि आधुनिक मनोरंजन की विधिविधाएँ उन्हें इस तरह पकड़ में यी कि वे उन पर स्वभावतः ही हाथी होकर उनके मनोरंजनात्मक धरा को लक्षित प्रदान करेंगी। उनके सोचने का साधार यह है कि लोकनाट्य सदा ही परिवर्तनशील होते हैं। वे मुग के घनुसार बदलते हैं और सामाजिक प्रतिमा विना नियोजन-आयोजन के उनकी रंगत बदले जिना नहीं रहती। बंगाल की

जाताओं का प्रधान स्वरूप, जिसमें भक्तजनों के बीसें-गायत्रे का पंथ प्रभुता था, भगवं की मौग के अनुसार रंगमंचीय स्वरूप बन गया, यही तब कि उसने अपना यामिक स्वरूप ल्यागकर सामाजिक रूप भी गहरा कर लिया है। उत्तर प्रदेश की बहुस्थलीय रामलीलाएँ मधुरा-जीती की रंगमंचीय रामलीलाओं में बोधान्तरित हुईं। जब की रामलीलाएँ भवित्वों की सीमाओं से बाहर निकलकर भक्तजनों के आगमों तथा सामाजिक परिस्थितियों में प्रविष्ट होने भवीं। महाराष्ट्र के तमाजे अब भड़कों, चोराहों एवं सार्वजनिक स्थलों की छोड़कर अवस्थित घियटरों एवं नाट्यगृहों में प्रदर्शित होने लगे तथा आम्य-जीयन में सराबोर हुआ-एकान्तर्याम जाहरी लोगों के उच्चस्तरीय मनोरंजन का माध्यम बन गया। यही नहीं, उसका लिङ्ग लोकगङ्गा भी जास्तीय पश्च के साथ सोने भिलने लगा और एक परिवावर्तनात्य-स्वरूप के रूप में मात्रता प्राप्त करने लगा। मुजरात का भवाई जो पहले केवल प्राप्यवनता के हस्ते-पुलके मनोरंजन का माध्यम था, याज नवीन नाट्यप्रवर्गों को अपनाकर नई उत्तरान, नये परिवान एवं नवीन रंगत के साथ समाज को आह्वादित करने लगा। परन्तु हमारे सामने सबसे बड़ा विजारणीय प्रबन्ध है कि यह क्षणान्तर देश के सभी लोकनाट्य स्वरूपों में हुआ है या युक्त ही दीक्षाते हूप स्वरूप इस प्रक्रिया के बीच गुजरे हैं?

हमें यह भी गहराई से देखना है कि ये क्षणान्तरित स्वरूप, जिसमें जागा, रामलीला, तमाजा, गक्षनाट्य, भवाई प्रादि हमारी तज्जर को पकड़ चुके हैं, पुरितंत्र की स्वाभाविक प्रक्रिया मात्र से ही परिवर्तित एवं विकसित हुए हैं या इसके पीछे संशोधकों को कोई बड़ी ताकत है, जिससे इनको दिशा-निर्देश प्राप्त हुआ है। जो लिङ्गान् यह सोचते हैं कि ये लोकनाट्य जीवों-के-त्यों द्वारा भाग्य के भरोसे पर छोड़ दिये जाने चाहिये, उनका ध्यान देश की उन विभिन्न लोकनाट्य जीवियों की ओर लोकना फैला, जो अपनी सन्तिम सीमे निन रही है। उनमें हैं—राजस्वान का कुचामरिण स्पान, तुरी कलंधी के खेल, जेलावाडी रंगत के खेल, रावलों, संघवों तथा भीलों के खेल, हरियाली के स्वीं, महाराष्ट्र का जलित तथा गोचल, काश्मीर का गोड जग्ज, असाम का अंकिया नट, मध्यप्रदेश के माच, उत्तर प्रदेश की नीटकी प्रादि-प्रादि। ये सब नाट्यजीवियां याज केवल नाम मात्र को रह गई हैं। इनका गहराई से अध्ययन एवं अवलोकन करने से यह पता लग सकता है कि उसके प्रतिपादक केवल लकीर धीट रहे हैं। क्योंकि उन्हें रात भर प्रदर्शित करने की

परम्परा है इसलिये वे रात भर ही सेले जाते हैं और यदि उन्हें छोटा करके प्रदर्शित किया जाय तो गोव की खुशियाँ जनता की भवंकर नाराजगी का शिकार होना पड़ता है। इन नाटकों में सारी रात रंगमंच पर वया प्रदर्शित होता है, यह नहरे अध्ययन की बीज है। इन नाट्यों का केवल दीना मात्र रह गया है। उनमें मूल खेत का अंगमात्र भी जेष नहीं है। जो कुछ भी वया है वह प्रग्रामिक नेत-मजाकों, हैंसी-मजाकों, फिल्मी गीतों एवं मूलों से मरावोर है। भारत के अधिकांश लोकनाट्य गीत एवं नृत्यप्रधान हैं। कवीप्रकल्पन अपनी विशिष्ट परम्परा के अनुसार छंदबद्ध पदों में गाये जाते हैं और उनकी प्रदायनी को पदमंचालन एवं विविध अंगमणिमाथों से उदीप किया जाता है। प्रदायनी की इस पारम्परिक दृश्यी में चूंकि वय ताकत नहीं रही है इसलिये रुसे-मुखे गया का सहारा लिया जाता है। लेख परिषाठी के रूप में पद गाये जाते हैं और बाद में समस्त कवीप्रकल्पन गथ में निपटाये जाकर उन अंगों में केन्द्रित हो जाते हैं, जिनमें मजाक, नकल एवं हल्के-फुल्के हास्य की तंजाइश रहती है। ऐसे लचीले स्वरों पर अभिनेता बुल-कर आजादी लेते हैं और ऐसे प्रहसन के संबाद जोड़ देते हैं जिनका मूल नाटक से कोई संबंध नहीं है और जिनमें चुलबुलाहट, हल्के किरण की मजाक तभा चुभने वाले गीत और नृत्य के सिकाय कुछ नहीं होता। इस तरह की प्रदायनी में हाँचा पारम्परिक लोकनाट्यों का अवश्य है, नक्कारा, डोलक, तबलावादन वही है, नाट्य गिल्ल भी वही है। रंगमंचीय विधान में भी कोई जोड़तोड़ नहीं किया गया है। यात्रों का प्रवेश, परिचय एवं प्रदायनी का तीर-तरीका भी वही है। मूलगीत आदि भी पारम्परिक धूनों में ही गाये जाते हैं। परन्तु उनका कलेक्टर कहीं नामबद होगया है। पारम्परिक विसेपिटे कवीप्रकल्पन के कुछ अंश याकर दीप धूनों के दर्श गथ में उलझाकर समस्त नाटक ऐसे प्रसंगों पर रह जाता है जिनका मूलनाटक से कोई संबंध नहीं है। इसका परिणाम सह हूया है कि इन नवीन प्रसंगों के लिये नाट्यपात्र अपनी तैयारी करता है तथा वेशविन्यास आदि भी उसी तरह वी बनाता है। अतः पुरातन लोकनाट्य के पात्र पुरातन कवानक का प्रस्तुतीकरण भी नवीन डंग की घोलाके पहिनकर ही करते हैं। राजस्थान के कुचामणी लोगों में स्त्री-माव १०८ कलियों का धारया नहीं पहिनकर नाटक का चिपकवा पेटीकोट पहिनता है। कचुकी, कुरती आदि नहीं पहिनकर वह भास्तुनिक डंग का लाडल का प्रयोग करता है। वह राजस्थान की पारम्परिक कलात्मक व्याख्या का वरित्याग कर यह समझने की जलती करता है कि उसके दर्शकों को वह पसंद है। उसे जात नहीं है

कि पुरातन जैसी के बेदवार यापरे की-पोशाक त्यागकर तथा मैंह पर से भूषण हटाकर स्त्री-याप की भूमिका छोड़ करने वाला यह पुराप-याप हिजब से अधिक और कुछ नहीं लगता । लोकनाट्यों के स्त्री-यापों की भूमिका पुरापों के जिससे रखी ही इसलिये यह है कि वे अपनी ब्रदावनी अधिक चुनकर कर सके और पुराप होते हुए नी त्योचित हावमाव प्रदायित करके दर्शकों की बाहवाही प्राप्त कर सके । परन्तु वह उस बाहवाही से बचित ही रहता है, क्योंकि दर्शकों की प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया उसकी कलात्मक ब्रदायगी के कारण नहीं, उसकी भौती पुरापोचित पोशाक एवं हावमाव से उत्पन्न उसकी कृदिमता के कारण है । इन नाटकों में जब १८वीं शताब्दी के राजा त्रिप्ति, बुशबट पहिनकर आते हैं तो ब्रदोष जनता उन्हें इसलिये बदौरित कर लेती है क्योंकि उनके साथ प्रस्तुत होने वाली अग्न अपारम्परिक सामग्री भी उतनी ही आधुनिक है । उनका तिर वर पहिना हुआ ताफ़ा ही केवल परमारा का पातन करता है । याह नोकनाट्यों में जो कुछ भी नवीनता के नाम पर हो रहा है वह उस तरफ केवल इमारा भाष है ।

यदि हम यह मानते कि लोकनाट्यों में परमारा जैसी कोई वस्तु नहीं है, वह जानने के प्रमुखार अपने साप बदलती रहती है तो निष्ठय ही यह हमारे लिये विचारणीय प्रश्न है । राजदण्डन की कुजामरणी जैसी के एक प्रमुख काल प्रदर्शन में भगी के घर विकलेवाली तारामती हावमाव यादि की दृष्टि से किसी भनवती रूपी से कम नहीं दिखाई गई थी । भेहतर की पोशाक भी आधुनिक रेल-कर्मचारी के रूप में विलो साझ करने वाले भेहतर के अनु-कर ही थी । अपने कुछ रोहिताश्व की मृत्यु पर विलाप करने वाली तारामती भगी के घर विक जाने पर भी आधुनिक अलंकरण से अलंकृत थी । वह अपने गेय कलोपकाल में बनावटी सिसकियाँ भरती थी और उसको दूतमय ब्रदायगी में वह असाधारण ढंग से अपने हूँहे और बक्षःस्थल हिलाती हुई नाच रही थी । इसी कुजामरणी जैसी के बन्द मलयागिरी लेल में भी उन्द एवं मलयागिर को विश्वामित्र द्वारा ली हुई परीक्षा के फलस्वरूप समस्त राजपाट दान में देकर बन भटकना पड़ा था । उस विषदभरस्त प्रसंग में जहाँ हृदय को द्रवित करनेवाले प्रसंग आते हैं वहाँ उनका केवल स्पर्श मात्र करके ऐसे प्रसंगों को प्रधानता दी जाती है जहाँ निम्नस्तरीय झंगार एवं हैमी-भजाक को बड़ावा मिलता है । बीच-बीच में इसी तरह की अनेक अप्रासीमक वालें जोड़ कर मूल कला की कोसों दूर केंद्र दिया जाता है । ये सोकनाट्य केवल निम्नस्तरीय

जनहनिक को तुष्ट पारते के लिये इस तरह निम्नस्तर पर आ जाते हैं कि उन्हें देखने से वह भान होना रासायनिक है कि लोकनाट्य केवल निम्नस्तरीय जनता के लिये बनोरजत का साधन है। वे इस तरह असंघत एवं निरंकुशात्मक याने बढ़ रहे हैं कि शिक्षित समाज उन्हें देखकर चिन्तित हो जाता है। यदि लोकनाट्यों का यही निम्नस्तर हम स्वीकार करले तो उनका वह पृष्ठ स्वरूप, जिसने अनेक युष्ट नाट्य-विधायों को जन्म दिया है, केवल कथोल-कलमना माप है। हमारे देश में लोकनाट्यों के जो भी अनेक युष्ट स्वरूप विद्यमान हैं, वे पा तो लोकनाट्यों की परंपरा ही में नहीं पाते हैं पा जो यथृ और अधिष्ठ तत्त्वों से युक्त है, वे ही लोकनाट्य हैं। गहराई से प्रध्ययन करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि पे परम्परा से विमुक्त भविष्ट लोकनाट्य अपनी दिशा छोड़ देते हैं और ऐसे अविशित और अर्थलोकुप हाथ में चले गये हैं, जिन्होंने उनका स्तर भिरा दिया है। उदाहरणस्वरूप राजस्वान के शेखावाटी जैली के तथा कुचामणी जैली के लोगों को ही लोजिये। वे भी दिशा-निदेश के अभाव में अपना रास्ता छोड़ने लगे हैं। यथापि कुचामणी जैली के लोगों से शेखावाटी जैली के लोगों का रखना-कोशल अधिक पृष्ठ और नड़ा हुआ है किंतु भी जनहनि बदल जाने से उनका कोई पारती अब नहीं रहा है। उनकी कथोलकथमात्मक जैली में अभिनेता अपने मेय परों की अदादगी में सारी शक्ति लगा देता है। वह उसकी प्रत्यक्षिक और अस्वाभाविक अस्वाई का रवाल नहीं रहता। परिस्रामस्वरूप दर्जक-समाज ऊबने लगता है। दर्जोंको की अभिनवि को उत्तर रखने के लिये वह मूल नाटक के कुछ प्रसंग प्रस्तुत करने के बाद आपुनिक दंग की नकलबाजी एवं ताजलबाजी में उत्तर जाता है।

यही हाल मधुरा जैली की रामलीलाओं एवं उत्तर प्रदेश की नौटंकियों का भी है। रामलीलाओं में अनेक विकृतियाँ आ गई हैं। मूल तुलसीकृत रामायण का आधार छोड़कर अनेक प्रग्रामणिक मकानों ने उनमें प्रधानता प्राप्त की है। चित्तोह के तुरां कलंगों के बेलों का तो प्राप्त लोप ही हो गया है। वे जहाँ कहीं भी होते हैं उनमें लिकाय लकोर पीटने के लौट कुछ नहीं होता। मध्यप्रदेश के मालों का भी पही हाल हो गया है। वे इतने अस्तीत लक्ष्यों से परिषूल हो गये हैं और अपनी परिमाटी का इतना अधिक परिस्पर्यग उनमें होने लगा है कि प्राप्त वे अब तो होते ही नहीं हैं और यदि होते भी हैं तो उनके द्वारा उल्लङ्घन देंगे-किसादों के लिये युलिय का तहारा लेना पड़ता है। तुरां कलंगों के बेलों की भी कुछ वर्ष पूर्व गहो स्थिति थी

जिससे प्रब उनका प्राप्ति सोप ही हो जाता है। हरिष्णाम के स्वामी इतमें विकृत हो गये हैं कि शिष्टजन उन्हें देखना अपनी प्रतिष्ठा के बिश्वद समझता है। ये सबीं खेल अपने मूल गीत, मूल-प्रसंग एवं तंत्र आदि स्थानकर प्रश्नोत्तर एवं निम्नस्तर पर उत्तर भागे हैं। उत्तर प्रदेश की नौटकियों में भी साजबाज, पोणाक, परिधान, हृष्यावली, नाच, गान आदि में परम्परा का स्थाग बहुत ज़्यादा हो रहा है। टिकटों से ये प्रदेशी होने लगे हैं इसलिये दर्शक लोकनाट्य-परम्परा के अनुसार रातभर से कम की प्रवाहि के प्रदेशी देखना पसंद नहीं करते। स्त्री-पात्रों की भूमिका, परम्परा से विपरीत, प्रब इतिहास करने लगी है जिससे अदायगी तो घटिया दर्जे की हो। यही है परन्तु उसमें अधिष्ठ तत्त्वों का भी मरपूर प्रवेश हुआ है। संमस्त लोकनाट्य-परंपरा में स्त्रियों की अनुपलव्यि के कारण ही पुरुष इतिहास की भूमिका अदा नहीं करते बल्कि उनकी गायन एवं नर्तन की बन्धियों ही इन्हीं लाक्षवर होती है कि स्त्रियों उनकी अदायगी में संबंध असमर्थ चिन्ह होते हैं। नौटकियों में जहाँ पुरुष-पात्र अपने कायानक के खेल में पदों से ही अदा करते हैं, वहाँ स्त्री-पात्र (जो वास्तव में पुरुष ही होते हैं) उनके में पदों को विष्ट नृत्य एवं पद-संचालन से सशक्त बनाते हैं। अब चूंकि स्त्रियों ही नौटकियों में स्त्री-पात्रों की भूमिका अदा करती है इसलिये ये उस पैचोदा मूल-प्रदायगी में असमर्थ रहती है। उसकी पूर्ति उन्हें करमाइयों गीतों से करनी होती है जिससे नौटकी का मूल क्षेत्र तो कहीं भरा रह जाता है और केवल करमाइय ही करमाइय रह जाती है।

राजस्वान के भवाई यात्र से पन्द्रह वर्ष पूर्व तक अपने हास्यप्रधान खेलों में जनता का भनोरेजन करते थे। भवाई की नायन, वादन एवं नर्तन कला निमीं समय तकों पाण्डवर्णवक्त न कर देती थी। प्रथेक पात्र अपनी सून्हवृक्ष से नवीन प्रसंग बनाता चलता था और दर्शकों को भी अपने अभिनय में लारीक करता था। भवाई नाट्य की यह अत्यंत अनीग्नवारिक एवं दिलावे से होने भीलिक दीलों नाट्य-कला का सिरमोर था। उस पर अहार हुआ दर्शकों की कुरुक्षेत्रगंग गंसंद का नहीं, समाज-मुद्धारकों की पेनी तलवार का। उन्होंने उस पर अधिष्ठता एवं निम्नस्तरीयता का प्रारोप लगाकर उसे कहे नियंत्रण में बोध दिया। छत्तम्बक्ष प्रवाइयों ने अपनी इस उत्कृष्ट नाट्य-परम्परा को छोड़ हाथरसी खेलों की नीरस एवं ध्रस्वामाविक दीलों को अपना लिया। परिणाम यह हुआ कि भवाई के इन नियंत्रण खेलों को स्वयं उनके बजान की देखना गंसंद नहीं करते। नृद्वावन का रास जो मन्दिरों के स्वस्थ, मुन्दर एवं अक्षिमय

वातावरण में विकसित एवं पोषित हुआ, भाज ये अपनी मौजिकता की रक्षा इसलिये किये हुए है क्योंकि इसका व्यवसायिक पक्ष गोण और मार्मिक पद्धति प्रबल है । भक्तजन रासलीला के लोका-स्वरूपों को इन्हर के रूप में ही देखते हैं । उनको प्रभु का श्रेष्ठ मानकर उसी तरह उनकी आवश्यकत करते हैं । परन्तु राजस्थान मिथि पुलेरा ही की रासलीलाओं को लोजिये । वे अपनी विकृतावस्था को पहुँच रही हैं । कृन्दावन ही की वात है । राजस्थान के कुम्मावत रासलीलाओं के भाव वाचापादन का काम करते वे और स्वरूपरिचाररण का कार्य ब्राह्मण जाति के रासधारी । इन कुम्मावतों ने मूल रासलीलाओं के विरोप में अपनी स्वयं की रासमंडलियों स्वापित की और किसी भी जाति के बच्चों को स्वरूपधारणा की छूट देदी । इनका मुख्य लक्ष्य धार्मिका उपायेन या और मंदिर के पवित्र वातावरण से उनका कोई मरोकार नहीं था । यह वे अपनी धार्मिक पवित्रता कायम नहीं रख सके और भगवान् की लीलाओं का वह यातन स्तर भी रसातल की पहुँच गया । परिणाम यह हुआ कि मेरीलालों के बाल नकाल भाव रह गई और धार्मिक गुद्धभूमि के अभाव में वे जनता का विषयाम प्राप्त नहीं कर सकी । अनेक विकृत नाट्य-प्रसंग उनके भाव तुक्कर यह विशिष्ट लोकों विकृत ही नहि हो गई ।

उक्त उदाहरणों से भारतीय लोकनाट्य की भाज की स्थिति स्पष्ट है । हम यदि वह मानते कि उन्हें अपनी दिला स्वयं पकड़ने की छूट देदी जाय तो वह छूट तो भाज है ही । उन्हें दिला-निदेश देने का यही प्रयत्न है वह तो बहुत ही कम लोगों ने किया है और जिन्होंने किया है उनके शुभ और अशुभ दोनों ही परिणाम सामने हैं । परन्तु धर्मिकांग जैलियां तो ऐसी हैं जिन्हें कभी दिला-निदेश मिला ही नहीं है और जिनको मिला है उनकी भी दो श्रेणियां हैं । एक तो वह जिन्हें दिलानें, कलासेवकों तथा नाट्य-विजेताओं का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है और दूसरी वह जो धनोपालेन की दुष्टि से निम्नस्तरीय पेशेवर कलाकारों द्वारा ल्पात्मरित हुई है । दूसरी तरह के यही भी प्रयास हुए हैं जहाँ इन नाटकों की बड़ी हाति हुई है और जहाँ लोकनाट्य-तत्त्वों की सुरक्षा एवं सेवा हेतु धर्मान्वय द्वंग से काम हुआ है, वही अस्थन्त शुभ परिणाम निकले हैं ।

दिला-निदेश के इस कार्य से हमारे देश में वे लोग सार्वानिक चिह्न हुए हैं जो परम्परा की लोडता नहीं चाहते, जिन्हें नवीनता से बेहूद चिह्न है तथा जो पुरातन कलाकृतियों को संप्रहालय की दर्शनोप सामर्थी के रूप में

ही सुरक्षित रखना चाहते हैं । इस बगे में ऐसे महानुभावों की भी कमी नहीं है जो विकृति को विकृति के रूप में ही देखना चाहते हैं तथा परम्परा की रक्षा के लिये सब प्रकार की मददी को पक्षाने को तैयार रहते हैं । यदि इस इस सिद्धान्त को स्वीकार करें तो फिर कला और समाज का संबंध ही दृष्ट जाएगा ।

लोक कला में कोई भी भूल पुरानी नहीं होती । वह सदा ही नई बनी रहती है । लोकगीत, जो परम्परा से प्रचलित है, नये-नये अवये एवं नये-नये स्तर प्रतिष्ठित ही आत्मसात् करते रहते हैं और फिर भी वे लोकगीत ही रहते हैं । इसी प्रकार लोकनाट्य भी परम्परा को काम्यम रखते हैं । सबदा ही नई भावनाओं, नये स्वरूपों तथा नई साज़-सज्जाओं को अपनाते हैं । इनके काम्य-प्रसंग पुराने होते हुए भी इनके पाव एवं सब नये कर्षों में प्रस्तुत होते हैं । लोकनाट्य के राम मर्यादा पुरावोत्तम नहीं । वे आज के समाज के एक साधारण प्राणी हैं । सीताजी आज की शूहस्थ नारी की तरह विवित भी नहीं हैं । उकामाति राष्ट्रण समाज के दुष्ट तत्त्वों का प्रतीक है । इसी तरह राजा हरिश्चन्द्र भंगो के यही विक जाने के उपरान्त उसी त्यागील व्यक्ति का प्रतीक है जो आज भी समाज में कुछ न कुछ भावणे उपरिष्ठ करने को उद्यत है । इसीलिये उसके पाव हवार वर्षे पुरानी पोशाक नहीं पहिनकर आज से कुछ बगे पूर्व की ही पहिनते हैं । लोकनाट्यों के समस्त पुराने कथानक एवं पात्र नवीन समाज के विशिष्ट बगे के प्रतीक के रूप में प्रकट होते हैं । अतः लोकनाट्यों की यह वैशानिक पृष्ठभूमि हम स्वीकार करने तो उसके दिला-निदेल से हम किसी को भाष्टित नहीं होगी । लोकनाट्यों का प्रस्तुती-करण, तंत्र एवं रचना-गिल्लिय तो परम्परा-नंगत रहता है, कथामक भी परम्परा की पुरी तरह निभाता है, परन्तु कथोपकथन चिरनवीन रहते हैं । उसकी घदावनी ने नित नये परिवर्तन होते रहते हैं । दशों की भगवित्ति के अनुकूल उसमें प्रतिष्ठित काट-चौट होती है । नुस्ख-भगिमार्द बदलती है । पुनः स्पानतरित होकर नवीन मुरावनी प्रहण करती है । पुरातन प्रसंग नवीन वेलविनायम में प्रस्तुत होते हैं । वे आज की परिस्थितियों के अनुकूल बना लिये जाते हैं तथा आज की समस्याओं के साथ उनका साम्य विदा लिया जाता है । पात्र अपने कर्षोपकथन, आपनी सुविधा, एवं प्रावश्यकता अनुसार स्वयं गड़ता जाता है । दशोंकरण भी इस प्रक्रिया में अपना अत्यन्त संकिय महूयोग प्रदान करते हैं । नाटिका के सहेगते एवं चित्तेपिटे प्रसंग, जो आज

के जीवन से भेत नहीं जाते, अपने धार करते चले जाते हैं, नये प्रसंग जुहते जाते हैं तथा सामाजिक रचना के अनेक जीहर उन नाटिकाओं में पद-पद पर परिलक्षित होते हैं जो समाज का दामन आवश्यक भी पकड़े हुए हैं तथा जिन्हें समाज की सामाजिक बुद्धि स्वाभाविक हृषि से ग्रहण करती है।

यह प्रक्रिया सोकनाट्यों की अपनी स्वाभाविक प्रक्रिया है। जो सोकनाट्य इस प्रक्रिया के बीच गुजारे नहीं है वे वास्तव में लोकनाट्य नहीं हैं। अतः विद्वानों को इस परिवर्तन को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस प्रक्रिया में विगाह तब होता है जब उसमें किसी व्यक्ति या वर्गविशेष का स्वार्थ निहित होता है और वे उनकी सामाजिक आवश्यकताओं का आनन न रखकर उनकी गति बदलने की निरर्थक कोशिश करते हैं। जो नाट्य साज भी समाज के उच्चस्तर पर विराज रहे हैं तथा जिन्हें उच्चस्तरीय समाज का पोषण प्राप्त है, वे हर तरह से मुरक्कित हैं। अतः देश के प्रचलित लोकनाट्यों की बत्तमान स्थितियों, उन की विविध तात्त्विक परम्पराओं, जैसियों और उन पर होनेवाली सामाजिक प्रक्रियाओं का ध्यायन, विज्ञेयण एवं परीक्षण विधिवत् होना अत्यन्त आवश्यक है। यह कामें लोकनाट्य विषयक विद्वानों एवं विद्येषों द्वारा ही हो सकता है।

इस बग़ह यह भी प्रश्न उठ सकता है कि लोकनाट्य यदि विकृत होरहे हैं और उनकी सोकप्रियता नष्ट होरही है तो उन्हें पुनः जीवित करने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मनोरंजन की जो नवीन विधाएँ विकसित होरही हैं उनमें समाज की सामाजिक के दर्शन नहीं होते। वे समाज को केवल वरोध मनोरंजन प्रदान करते हैं और समाज की सामाजिक प्रतिमा का उनमें गिरावन समाव रहता है। लोकनाट्य की विविध विधाओं में, रचना से लेकर प्रदर्शन तक, सामाजिक रचना-कोल्लत के दर्शन होते हैं तथा सामाजिक प्रतिमाएँ अभिव्यक्त होती हैं। सर्वोपरिषद् वात पह है कि अपने ही लोगों द्वारा, अपने ही अपनें में तथा अपनों ही प्रिय दौली में गमा भर प्राप्ति है। समाज के सर्वोत्कृष्ट कला-तत्त्व उसमें अभिव्यक्त प्राप्त करते हैं। साड़िन्दे, गामक, नतंक, अनिमेता, दर्ढी, बड़ी, हलवाई, कर्वि, विहान, यादि सभी अपनी प्रतिमा का दान इस लोकप्रग नाट्य-जैली को सहयोग प्रदान करते हैं। अतीत के विविध धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं उनके जीवन की अनेक चमत्कारिक बातें हमारे सामने अभिनीत होती हैं। अतः लोकनाट्यों को हम किसी भी

दशा में चलत हुए थे में पढ़ा हुआ नहीं देख सकते । देश के लोकनाट्य-विशेषज्ञ तथा विद्वान ही अपने धनुषभव, अश्वयन एवं परीक्षण से इन प्रचलित लोक-नाट्यों की गतिविधियों तथा उनमें होनेवाले सूक्ष्मातिभूम्प वरिवर्तनों का पता लगाकर उनकी विविध विकृतियों पर विचार कर सकते हैं । कुछ लोकनाट्य गैलियों तो ऐसी हैं जिनका दण्ड समाज ही गायब होगा है और कुछ ऐसी हैं, जैसे राजस्वान का अलीबली बेल, जिसका कोई व्यवस्थित दल ही जैप नहीं रहा है । कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जो आसिरी सामें मिल रहे हैं । इन लूप्स, असूप्स, सक्षिय, निष्क्रिय सभी इसों के नाट्यालेख (Scripts) विद्वानों के पास होना बहुत आवश्यक है । तदुपरान्त इन बेलों को विविध मंडलियों द्वारा कई बार विभिन्न परिस्थितियों में भी देखना चाहिये । इस पर्यवेक्षण एवं प्रध्ययन के हाप्टि-विन्दु भी जैसे धनुसार होगे :-

लोकनाट्य के लेखक जीवित हैं या नहीं ? यदि वे जीवित हैं तो उनसे तुरंत संपर्क साधा जाय और महं पता लगाया जाय कि विना परंपरागत नाट्य-गैली या प्रचलित नाट्य-धूनों से उन्होंने अपनी गायन, लेखन एवं नर्तन सामग्री कहीं से प्राप्त की है ? क्या उन्होंने अपनी धूनों का आधार कहीं और जगह से प्राप्त किया या वे सोलह प्राना स्वयं की रचनाएँ हैं ? यदि लेखक जीवित न भी हों तो उनके निकटस्थ लोगों से यह जानकारी प्राप्त हो सकती है । यह जानकारी भी आवश्यक है कि क्या वे धूने कथोपकथन में प्रयुक्त झट्टों को उद्दीप्त करती हैं ? क्या वे भावानुकूल हैं ? क्या समस्त गेय पद परंपरागत छंदों में जैव है या स्वरचित छंद है ? क्या एक ही विषय के विविध प्रचलित लोकनाट्य किन्हीं समान पारंपरिक छंदों में जैव है ? क्या उनके मठन में कोई साम्य है ? या वे किसी विशिष्ट नाट्य-गैली का धनुसरण करते हैं ? तदुधा एक ही झोल में प्रचलित विविध रंगतों के लोकनाट्य किसी अलंकृत एवं परिपक्व परंपरा का अन्तर ही धजात में धनुसरण करते हैं । यह परम्परा माले ही नाट्य-कलेक्टर, कथानक, कथोपकथन एवं रगमचोय उपकरणों ने परिलक्षित न होती हो, उसमें नाटक के रचयिता का व्यक्तिगत स्पष्ट दृष्टिगत होता हो, समस्त नाटक पर किसी व्यक्ति या दल विशेष की स्थाप या उसका आधिपत्य स्पष्ट हो, फिर भी लोकनाट्य-प्रस्तुतीकरण, विलियत धूनों के मूलाधार, छंदों की पृष्ठभूमि, पाव एवं चरिचों के प्रतीकीकरण, घटनाओं एवं प्रसंगों के प्रतिनिधीकरण, मुख्य एवं माध्यन की विशिष्ट सम्बोधनात्मक एवं नाट्योचित प्रणाली प्राप्ति में एक ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्तिहित रहती है, जिसका प्रतिपालन भारतीय लोकनाट्य-प्रणाली में जास्तकाल में हो रहा है । इन हाप्टि को सामने रख

कर प्रत्येक प्रवलित नाट्य का परीछारण प्रत्यन्त आवश्यक है। जो लोकनाट्य इन परम्पराओं का गालन नहीं करते या जिनकी समस्त विधाएँ लेखक एवं रचयिताओं की ही सुभवुभ का परिसाम हों, वे उपर से चमत्कृत आवश्यक लगते हैं परन्तु उनमें दशों धर्मों को आत्मसात् हुआ नहीं समझता। न उनके कथोपकथन ही प्राणवान् होते हैं, वर्षोंकी समाज की प्रतिमा का वे इनमें अल्पकाल में स्पष्ट किये हुए नहीं होते हैं। इस कमी की पूर्ति प्रत्येक कलाकार की आपनी सुभवुभ या अप्रासंगिक कथनों, गीतों एवं नृत्यों से करनी पड़ती है। ऐसों परिस्थिति में यह प्रत्यन्त आवश्यक है कि सभी नये-नुराने, प्रवलित-प्रस्तुतीकरण एवं नाट्य-विधाओं का अध्ययन करके यह पता लगाना विलकृत मुश्किल नहीं है कि कौन नाट्य परम्परागति है और कौनसा उससे पर है। इस परीछारण के बाद प्रत्येक लोकनाट्य-आलोचनों से लेपक बाहर निकलते जा सकते हैं। अप्रासंगिक कथनों को आसंगिक कथनों से पुरित करके समस्त कथा-प्रसंग को संगठित कर लेना चाहिए। जिन नवीन छंदों या वदिशों में कथोपकथन की उद्दीप्त करने की जाति न हो उन्हें बदलकर परम्परापूर्व छंदों में डाल देना चाहिये। यदि नेत्र लेपक बाहर निकलते पर नाट्य का मनोरंजन-पक्ष हीला पड़ जाता है तो निष्ठय ही समस्त कला-आलेख की पुनरावृत्ति आवश्यक है। उस पुनरावृत्ति में कथा एवं प्रसंगों का क्रियक प्रस्तुतीकरण नाटकीय तरंगों के अनुकूल करना भी जरूरी है। उनका अवधारणीकरण एवं उनके निर्धनेक पदों की छंटनी भी परम्परावश्यक है। इस कार्य-कलाप में यदि इस बात का पता लगाया जाय कि उस नाट्य का पारम्परिक प्रस्तुतीकरण या या तथा कोनसे प्रशंसन लेपक के क्षय में आये हैं तो वही आसानी हो जायगी। उस पारम्परिक प्रस्तुतीकरण में जो परिवर्तन प्राप्त है, वह दण्डों की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आया है या दण्डों की असमर्थता के कारण। कई बार यह भी देखा गया है कि योग्य पात्र एवं योग्य दण्डों के घटाव में अपेक्ष ऐसी अद्योग्य विधाओं का सहारा लिया जाता है, जो लोक-नाट्य-पद्धति से विलकृत विपरीत है। यह बात भी नहीं जान सकते हैं जो लोकनाट्य परम्परा के पक्षे पादसी हों। कुछ यह ऐसे भी हों सकते हैं, जिनका जीवीगत प्रस्तुतीकरण आधुनिक समाज को प्रभावित न करता हो। ऐसे तंत्र को केवल परम्परापोषित होने के नाते ही प्रयुक्त करने का हठ भी नहीं होना चाहिये। यदि वह तंत्र आज के लिये आवश्यक न हो तो उसका परित्याग किया जा सकता है।

जो नाट्य कथोपकथनप्रधान हों उनके कथानक को भी महत्व देना प्रावश्यक है और जो केवल कथानकप्रधान है उनमें कथोपकथन को सक्रिय करके पात्रों को बला-कुलालता को बढ़ावा दिया जा सकता है। कई लोकनाट्य ऐसे हैं जिनके विविध प्रसंग एक-दूसरे से कच्चे घागे में बंधे हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध परिपक्ष करना नाट्यगठन की हड्डी से सति प्रावश्यक है। इन प्रसंगों का एक-दूसरे के साथ ओह-तोह विछाने के लिये सम्भव है कि पारस्परिक युनों में नये कथोपकथन लिखने हों। कभी-कभी यही पात्रों को तही भूमिका नहीं मिलने से भी नाटक में शिखिलता प्राप्तिती है। कहीं-कहीं एक ही कथन को सांस्कृतिक वेविध्य की नींव से कितनी ही दृशियों में यापा जाता है। इसमें नाट्य की लम्बाई प्रावश्यक कष्ट से बह जाती है और दृश्यों की शृंखि को भी अधिक समय तक टिकाया नहीं जा सकता। कई प्रसंग ऐसे भी आ जाते हैं जो नाट्य-प्रवाह को लक्षि पहुँचाते हैं और जिनका मूल कथानक से कोई संबंध भी नहीं होता। ऐसे प्रसंगों को काटने-हार्दने में किसी प्रकार की हिचक नहीं रहनी चाहिये। कभी-कभी युनों में भी हरफेर करना प्रावश्यक होगा और कहीं-कहीं पुरातम बैली में नवीन कथोपकथन नई युनों में भी बोधने होंगे।

सर्वाधिक ध्यान तो इस बात का रखना पड़ेगा कि मेरे नाट्य प्रणनी लोक-जीवों का परित्याग नहीं करें। उसके साथ जनता का पारस्परिक भावात्मक जगाव तभी तक बना रहेगा जब तक कि उसकी शैली में कोई परिवर्तन नहीं किया जाय। शायुनिक नाट्यों की तरह इन लोकनाट्यों को कड़े नियमों में भी नहीं बंधा जाय। पात्रों को प्रणनी स्वतन्त्र अभिनाशकी की भी पूरी छूट रहनी चाहिए। उन्हें प्रणनी उपर एवं घन्त-प्रेसर्या में कथोपकथन के विस्तार एवं नियोजन की स्वतन्त्रता हो। दृश्य-प्रदर्शक लोकनाट्यों में एक कुटुम्ब की तरह जुड़े रहते हैं। उन्हें प्रायः सभी नाट्यों के कथोपकथन कलंस्य होते हैं। यदि उनमें आमतौर परिवर्तन करके दृश्यों के सम्मुख प्रस्तुत किया जावे तो यह स्वामानिक है कि दृश्य ऐसे नाट्यों में कोई प्रपनत्व न बतावे। दृश्य-प्रदर्शक का शारीरिक कामला भी बहुत अधिक नहीं रहे। कभी-कभी रंगस्थल और प्रेक्षस्थल में कोई घन्तर नहीं रहता प्रेक्षस्थल ही कभी-कभी रंगस्थल की अनेक परिस्थितियों में परिवर्तित हो जाता है। कभी ब्रेक्षक ही प्रदर्शक बन जाता है और कभी प्रदर्शक प्रेक्षक। यह लोकनाट्य-संबोधन कार्य में बड़ी सावधानी बरतने की प्रावश्यकता है। कई संघीयक उत्साह ही इसाह में इन पारस्परिक नाट्यों को इतना बदल देते हैं कि उनके स्वरूप-

परिवर्तन के साथ उनकी मात्रमा ही नह्य हो जाती है। नाटक की वे धुनें जो दलोंकों के कठों पर सदा हो विराजमान रहती हैं, वे गतें जो नवकारा-बादक अनेक लीलियों से बजाता है, वे कथोपकथन जो जनजीवन को सहस्रों बर्षों से पाञ्चादित कर रहे हैं, प्रत्यक्ष-में याज की परिस्थिति से भेल खेल ही न खाते हों परन्तु दलोंकों को भावनाओं में सराबोर हो जुके हैं। उनमें जहाँ तक ही उके आमूलजूल परिवर्तन न हों। राजस्थान के कुछ लोकनाटधों ही को लीलिये जैसे जैवा पनिहारिन का स्थान, दोलामरवण का स्थान, गोरी का वालमा का स्थान, नरणद नीलाई का स्थान, लसम का नेतृ, मूमल महेन्द्र का स्थान, बनजारा का स्थान, सेठ-सेठागांगी का स्थान, तुड़ा बालम का स्थान यादि-यादि। इनमें से कुछ के प्रसंग तो ऐसे व्यातिरिक्त के साथ जुड़े हए हैं जिनसे याज का समाज कोई प्रेरणा नहीं लेता। परन्तु इन खेलों की धुनें, उनके कथोपकथन तथा उनकी विविध रंगतों से दर्जक भावात्मक दृष्टि से इतना जुड़ा हुआ होता है कि वह उसमें पर्याप्त रूप लेता है। कुछ प्रसंग तो ऐसे हैं जिनसे समाज को कोई प्रेरणा नहीं लिलती तथा उनसे किसी प्रकार का सामाजिक आदर्श उपस्थित नहीं होता। उनमें जीवन ऐसे भ्रामामादिक तस्वीरें में जुड़ा होता है कि उनमें समाज का हित होने की प्रोत्था कभी-कभी महित ही होता है। फिर भी ऐसे लोकनाटध लोकहाचि की दृष्टि से प्रत्यक्ष सफल समझे जाते हैं। उनका लालित्य, नाटक के गठन, पात्रों के चारित्रिक गुणों तथा चरमत्कारिक परिस्थितियों में नहीं है। उनके कथोपकथन पौर उनकी मनवली धुनें ही इतनो प्रभावशाली होती है कि वे दलोंकों को बोधे रखती है। वे नाटक बहुत कथोपकथनप्रधान ही होते हैं। उनका कथात्मक सर्वदा ही पृष्ठभूमि में रहता है। इन नाटधों के फड़कते हुये गाने, उद्घाटते हुए नुत्य तथा भूगार-प्रधान व्यवहार एवं व्यापार ही दलोंकों के लिए प्रत्यक्ष भालनदायी होते हैं।

यतः सोकनाटधों के संशोधन-कार्य में गुणारथादी प्रवृत्ति कारणर लिय नहीं होती। सोकनाटधों का मुख्य स्वरूप मनोरंजन तथा आनन्द प्रदान करना है, उपदेश देना और सुधार करना नहीं है। उपदेश ग्राप्त करने पौर जीवभीदार के प्रसंगों की जीवन में कोई कभी नहीं है, बल्कि कभी-कभी तो समाज उसको इतनी ध्यातिरिक्त घनुमत करता है कि वह दिन भर के गंभीर कामों के बाद रात तो जिमुद भालन्द-मोद ग्राप्त करने में ही लधाना चाहता है। वह उस समय सभी सामाजिक वंघनों से मुक्त होकर ग्रप्तनों वृत्तियाँ ढीली करके बैठता है। वह प्रतिबन्ध नहीं चाहता। यतः संशोधन-कर्ताओं को उन्हें

कुठित करके गमीर तत्त्वों से दोभित नहीं करना चाहिए। कुछ लेखक उन्होंने पर लोकनाटप लिखने की याकौशला रखते हैं। यह कायं भेदान्तिक दृष्टि से प्रसंगत अवधय लगता है, परन्तु यदि वह सावधानी एवं अत्यन्त संज्ञानिक दंग से किया जाय तो उपर्योगी मिठ हो सकता है। नाट्यों की धूमों, प्रस्तुतीकरण-तत्त्व, नर्तन, बाइन, रंगमचीय विधान यादि में परम्परा का ध्यान रखाकर यदि नवनाटप-लेखन का कायं किया जाय तो ऐप्रकरण होगा। नहीं तो ऐसे नाट्य लोकलीली के नाट्यों में शुभार न होकर याचुनिक रेखत के नाटक ही कहलायेंगे, जिनकी याज कोई कभी नहीं है। ऐसे नाट्य परम्परा-योग्यत होते हुए भी उन्होंने को देखते हुए संक्षिप्त तथा प्रस्तुती-करण की दृष्टि से दृष्ट होते हैं। उनकी गायन, बाइन, नर्तन की धूम एवं चारों दशोंकों के कठों पर परम्परा से बैठी हुई तथा कामों को सदा से ही रसमालनी होती है। इन विधायों के साथ यदि कवानक भी समयानुकूल एवं राष्ट्रोपयोगी हो तो फिर इस कायं में चार चार वर्षों न लगें? ये जनसाधि को पकड़ने में लोहा समय अवधय लेये, परन्तु ये अनमालनस में उत्तरने लगेंगे और कालान्तर में लोक-नाट्यों की ऐसी प्राप्त कर लेंगे। याज हमारे देश में जो भी लोकनाटप प्रचलित है उनका तन्त्र ही पारम्परिक है। ये सदा ही अपनी हर विधा में जगमने के यमुसार रंगत प्राप्त करते रहते हैं। जच्छीराम लिलित राजस्वान के कुचामणी लेल ४० वर्ष पूर्व लिये गये थे। और भी कई लेखकों ने इस लीली में लेल लिये हैं परन्तु उनमें कोई भी ३० वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। फिर भी कुचामणी लीलों की गणना लोकनाट्यों में इसलिए होती है कि उनका समस्त तन्त्र लोकधर्मी नाटकों से पोर्यित है। युजरात की नवाई-कला में भी इसी तरह के नवीन प्रयोग हुये हैं, जिनमें नवीन प्रसंगों को पुरातन नवाई परिपाठी में ढालकर नवाई नाटप को नया परिवेश प्रदान किया गया है। इसी तरह के परिवर्तन बंगाल तथा असम की जातियों में भी हुए हैं। यदि पुरातन नाटप-लीलियों में, विलेप करके उनमें जो निष्प्राण हो गई है, इस तरह के संज्ञानिक एवं आवस्थित प्रयोग हों तो वे नाट्य निष्क्रिय ही सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर सकें। समाज का लगाव नाट्य कलेक्टर से नहीं होता। उसका लगाव होता है जेलों की पारम्परिक गायकी से, उसके विशिष्ट अभिनय-तंत्र एवं तीर तरीकों से। यदि ये सब बातें किसी भी लेल में घट्टूआँ रहें तो धीरे-धीरे वह लोकनाटक की ऐसी प्रवस्थ प्राप्त कर लेगा।

अतः संशोधन के दो पहलू हमारे सामने हैं।\* एक तो प्रचलित लोक-नाट्यों को बताने, काटने एवं संपादित करने का और दूसरा उसी परम्परा में

नवीन नाटपोलिसन का । वे दोनों ही पक्ष आवश्यक भी हैं और कष्ट-साध्य भी । देश में जहाँ-जहाँ इस दिशा में विधिवत् कार्य हुआ है वहाँ लोक-नाटप्र पुनः प्रतिष्ठापित हुए हैं । महाराष्ट्र का तमाशा, आनंद का यशस्वान, बंगाल की जागा, गुजरात का भवाई आदि इसके जबलंत उदाहरण हैं और जहाँ लोकनाट्य-परम्परा को केवल अपने ही याप जीवन-मरण की धड़ियाँ लिनने के लिए निराधार छोड़ दिया गया है, जैसे राजस्वान का तुर्रा कलंगी, भेगावाटी सामाज, बीकानेरी रम्मते आदि, वहाँ लोकनाट्य अपनी अनितम सम्मिलित रहे हैं । जहाँ-जहाँ विधिवत् संशोधन, परिवर्तन का कार्य चिक्केपत्रों द्वारा हुआ है, वहाँ के संज्ञाचित नाट्य चुस्त हो गये हैं । उनमें नवीन प्राणस्फुरण हुआ है । नृत्यों की रंगत बढ़ गई है । उनके निरर्थक अंश कट गये हैं । जानदार अंश रह गये हैं । उनसे योङे सभय में अधिकाधिक आनन्द मिलने लगा है । वे नाटक अभी भी गौव और नगर के खुले चौराहों में होते हैं । उनके रंगमंच सब लोक से खुले रहते हैं । दर्शकगण बेरा बौध कर बैठ जाते हैं । पात्र पारम्परिक तरीके से ही अपना परिचय स्वयं देता हुआ आता है । गीतमंड क्षेत्रोंपक्षत में दर्शक-प्रदर्शकों की कल्पना को पूरी खूट दी जाती है । समस्त नाट्य-प्रस्तुतीकरण में अनीपवारिकता का पूरा ध्यान रखा जाता है । स्वयं, स्थान एवं प्रभिन्नपक्षम में अपनी स्वयं की परम्परा को निभाते हुए, भी वे नाट्य कर्ते वालों में छूट ने नहीं है । वे सामाजिक कल्पना को तुरन्त पकड़ लेते हैं, और उनके संरक्षण के बावजूद भी उन्हें देखने, खेलने को देश का दर्शक समाज साक्षात्पित रहता है ।

---



Aug. 3. '74.

*"A book that is shut is but a block"*

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
NEW DELHI

Please help us to keep the book  
clean and moving.

---